सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारी

एकान्तवासी मौनयोगी

दिवङ्गत संन्यासी पिता

के

पद-पद्मों

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक मेरे 'युग और साहित्य'के बादकी रचना है। सस्कृति और प्रगतिका सम्मिलित स्वर पिछली पुस्तकमे भी था और इस पुस्तकमे भी है। जहाँतक जीवनके ऐतिहासिक दृष्टिकोणका प्रश्न है, मै प्रगतिवादकी ओर हूँ, जहाँ जीवनके आन्तरिक दृष्टिकोणका प्रश्न है, गान्धीवादकी ओर हूँ। सृष्टिके स्थायी कल्याणके लिए मेरा विश्वास गान्धीवादमे अधिक है। गान्धीवाद आत्मवाद है। बिना गान्धीवादके भी आत्मवादको उपस्थित किया जा सकता था, किन्तु गान्धीवादके रूपमे आत्मवादके वर्तमान क्रियात्मक इतिहास (आत्मानुशासन और सत्याग्रह) का भी परिचय मिलता है, अतएव आत्मवाद गान्धीवादमे सन्निहित हो गया है।

'युग और साहित्य'मे प्रगतिवादी दृष्टिकोण प्रधान था, गान्धीवाद अन्तःस्पन्दनकी भाँति अन्तस्‌मे था। प्रस्तुत पुस्तकमें वही अन्तःस्पन्दन (गान्धीवाद) मुख्य सवेदन बन गया है। स्वय मेरा दैनिक जीवन तो वास्तविकताओंका भुक्तभोगी है किन्तु मनुष्यके जीवनका उद्देश्य दैनिक अभाव-भरावके ऊपर है, अतएव सास्कृतिक प्रयत्नोको विशेष महत्त्व देता हूँ। यह ठीक है कि दैनिक समस्याओकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, गान्धीवाद भी उपेक्षा नहीं करता; किन्तु जैसा साध्य होता है साधन भी वैसे ही होते हैं। गान्धीवाद और प्रगतिवादमे साधनो-का अन्तर है, फलतः साध्यमे भी अन्तर है। ऐसा जान पडता है कि ये दोनो 'वाद' अपनी-अपनी अतिशयतापर है, सामान्य लोक-

व्यवहारके लिए इन दोनोके दृष्टिकोणका कहींपर स्वाभाविक समन्वय करना चाहिये। यह काम कलाका है।

प्राक्कथनके लिए आदरणीय श्री सम्पूर्णानन्दजीका अनुगृहीत हूँ। उनके प्राक्कथन-द्वारा प्रचलित वादोसे ऊपर उठकर स्वतन्त्र दृष्टिसे विचार करनेकी प्रेरणा मिलती है।

पुस्तकके लेखन-कालमे अनेक वक्र परिस्थितियाँ पार करनी पड़ी है। समय-असमय सहृदयोका सौहार्द मेरे साहित्यिक जीवनमे सहायक हुआ है। इन्दौरके रायबहादुर सेठ हीरालाल राज्यभूषणका, जो अपने तमाम अल्काबके बावजूद एक सरलहृदय शिशु है, अपनापन मुझे मिलता रहा है। इन्दौरके उन साहित्यकुमारोकी ममता भी मुझे प्राप्त है, जिनका भविष्य उज्ज्वल है। मध्यभारतके कर्मठ हिन्दी-सेवक पण्डित शिवसेवक तिवारी राज्यरत्नका स्नेह-वात्सल्य भी मुझे आप्यायित करता रहता है। हिन्दी-ससारकी पूर्वपरिचित कवयित्री, सास्कृतिक विदुषी श्री सरस्वती 'सुधा'की शुभैषिता तो मेरे लिए कर्तव्य-पथमे पाथेयकी तरह है। आभारी हूँ।

लेखक

प्राक्कथन

मैंने पं० शान्तिप्रिय द्विवेदीके कहनेसे सामयिकीका प्राक्कथन लिखना स्वीकार तो कर लिया परन्तु अब देखता हूँ कि उनकी बात मानकर मैंने अपनेको सङ्कटमे डाल लिया है। मेरा साहित्यिक ज्ञान नहींके बराबर है : सामयिकीको पढते-पढते मुझे अपने एतद्विषयक अज्ञानकी गहराईका जो ज्ञान हुआ है उसके बोझसे दबा जाता हूँ। जिन पुस्तकोके आधारपर यहाँ साहित्यकी प्रगतिका दिग्दर्शन कराया गया है उनमेसे अधिकाशके नाम भी मेरे लिए अपरिचित है ; कई कवियोकी रचनाओको देखनेका मुझे आजतक सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। छायावाद, रहस्यवाद, प्रगति-वादके नामसे मै यो भी घबराता रहता हूँ, अब और भी घबराने लगा। वादोकी शाखा-प्रशाखाओके विस्तृत परिवारके स्वरूपको पहिचान लेना मेरी शक्तिके बाहर है। फिर भी दर्शनका विद्यार्थी हूँ, सामाजिक जीवनका सक्रिय अध्ययन करता हूँ, इसी नाते लेखनी उठानेका साहस कर रहा हूँ।

प्राक्कथनका लेखक आलोचक नहीं होता, फिर भी कुछ बाते ऐसी हैं जिनके सम्बन्धमे चार शब्द कहना मै उचित समझता हूँ। पुस्तकमे इतने अग्रेजी शब्दोके प्रयोगकी कोई आवश्यकता मुझे नहीं प्रतीत होती। 'माडर्न', 'थीम', 'रिमार्क', 'पोज', 'आइडियल', 'मैटर आव फैक्ट', 'फिल्टर', 'मेटीरियलिज्म', 'फिलासफीको डील किया', कहनेसे भाषामे न तो ओज आता है न सौष्ठव। इनके लिए देसी शब्द भी मिल ही जायँगे। यदि अभी ध्वनिकी कमी हो तो विद्वानोंकी लेखनीपर चढ़ते-चढ़ते थोड़े ही दिनोंमे वह शक्ति भी आ जायगी। मुझको तो ऐसा लगता

है कि 'इम्प्रेशनिस्ट और रोमैण्टिक', जैसे पारिभाषिक शब्दोके लिए भी पर्य्याय बनाये जा सकते हैं। सम्भव है आजके सभी पाठक 'टेकनीक', 'पोस्टमार्टम' और 'क्रूड फार्म' का अर्थ जान गये हो परन्तु अब भी कुछ लोगोको 'यूटोपियन' समझनेमे कठिनाई पड़ सकती है। मै जानता हूँ कि शान्तिप्रियजीने अपनी विद्वत्ताके प्रदर्शनके लिए इन शब्दोका प्रयोग नहीं किया है। वह अनायास निकल ही गये हैं फिर भी मै इस प्रवृत्तिको कुछ बढते देख रहा हूँ, इसलिए विशेषरूपसे उल्लेख करता हूँ।

शान्तिप्रियजीने सामयिकीको केवल आलोचनात्मक न रखकर उसको कही-कही गद्यकाव्यका रूप दिया है। प्रासकी खोजमे कहीं कहीं अद्भुत पदविन्यास करना पडा है। आसयुग—प्रासयुग,उद्भिज—इन्द्रियज—आत्मज इसके उदाहरण है। कुछ शब्दोके प्रयोग तो बहुत ही विलक्षण है। न जाने कैसे वैष्णवका अर्थ आदर्शवादी और शैवका अर्थ यथार्थवादी बताया गया है। शिव शब्दके साथ तो बहुत ही स्वच्छन्दताका व्यवहार किया गया है। कहीं उसका अर्थ है यथार्थता, कहीं कल्याण और कहीं रौद्र, विनाशक, भाव। गम्भीर दार्शनिक ऊहापोहसे तो याथातथ्य, कल्याणकारिता और विनाशकारिताको समानार्थक सिद्ध किया ही जा सकता होगा परन्तु एकही शब्दके विभिन्न अर्थोंमे प्रयोग किये जानेसे लेखकका तात्पर्य्य समझनेमे कुछ कठिनाई पड़ती है। यो तो पुराने शब्दोको नया जामा पहिनानेकी आवश्यकता पडती ही रहती है परन्तु कुछ योगरूढ शब्द ऐसे है जिनको न छेडना ही अच्छा है। नये अर्थोंके लिए नये शब्दोको साहित्यमे स्थान देना श्रेयस्कर होता है।

आज समाज और साहित्यके सामने जो विषम समस्याऍ है उनपर विचार करनेके बाद द्विवेदीजी इस परिणामपर पहुँचे है कि समाजवाद इनको अंशतः सुलझा सकता है परन्तु विश्वकल्याणकी कुञ्जी पूर्णतया

गान्धीवादके हाथमे है। गान्धीवाद युगधर्म्म तो है ही वह सत्य, सनातन, धर्म्म है। सम्भव है यह बात सच हो पर मुझे ऐसा लगता है कि अपने मतका प्रतिपादन करनेमे लेखकने दोनो वादोकी समीक्षा यथान्याय नहीं की। उनका कहना है कि समाजवाद मुख्यतया राजनीतिक उपकरण है। उसके आधारपर निर्मित सस्कृति 'मशीनी' होगी। समाजवाद आसक्ति-मूलक है, भोगप्रधान है। इसके विरुद्ध गान्धीवादमे क्षुधा और कामकी ओरसे अनासक्तिपर जोर दिया जाता है, वह योगप्रधान है। समाजवाद विज्ञानसे परिचालित है, गान्धीवाद ज्ञानसे। गान्धीवाद आस्तिक है, इसलिए सत्य और कल्याणकारी है। मैने यह वर्णन सामयिकीसे सङ्कलित किया है। जिस प्रकार यह बाते कही गयी हैं उससे गान्धीवादकी महत्ता प्रदर्शित की जा सकती है, परन्तु कोई निर्णय करनेके पहिले यह देखना आवश्यक है कि वर्णन कहाँ तक यथार्थ है।

सबसे पहिले हमको दोनो मतोके प्रवर्तकोके व्यक्तित्वको अलग कर देना होगा। गान्धीजीको हम महात्मा कहते है, मार्क्सको कभी ऐसी उपाधि नहीं मिली न वह उसे स्वीकार ही करते परन्तु गान्धीजीके समान ही मार्क्सका जीवन त्याग और तपस्याकी प्रतिमा था। प्रत्यक्षरूपसे गान्धी जी और मार्क्स दोनोको ही राजनीतिक आन्दोलनमे भाग लेना पडा। गान्धीजी चाहते है कि पृथ्वीपर सब सुखी रहे, सर्वत्र भ्रातृभाव और सहयोग हो। ठीक यही उद्देश्य मार्क्सके भी सामने था।

आसक्ति और अनासक्ति शब्दोके प्रयोगमात्रसे किसी मतके गुण-दोषका विवेचन नही हो सकता। समाजवादी भी चाहता है कि मनुष्य सस्कृतिके पथपर अग्रसर हो, उसके प्रसुप्त बौद्धिक गुणोका पूर्ण विकास हो, परन्तु वह यह भी जानता है कि 'भूखे भजन न होहि गोपाला।' वह जानता है कि भूखकी ज्वाला पुरुषोको चोर और स्त्रियोको वेश्या बना

देती है। वह जानता है कि धर्मसे अविरुद्ध अर्थ और कामकी अनुमति ही नहीं, स्पष्ट आज्ञा, समझदार शास्त्रकार बराबर देते आये है। मनुने कहा है 'आश्रमिनः सर्वे गृहस्थे यान्ति सस्थितिम्।' जिस युक्ताहारविहार-की प्रशसा श्रीकृष्णने की है, जिस मज्झिम मार्गका आदेश बुद्धदेवने किया है, वह सयत अर्थकामसे अभिन्न है। जिस समाजवादमे शोषणमूलक निजी सम्पत्तिके लिए स्थान नही है, जिसमे स्त्रीको पुरुषके बराबर ही स्थान दिया जाता है उसपर अर्थकामंसे आसक्तिका लाञ्छन नहीं लगाया जा सकता। व्यक्तिविशेष नैष्ठिक ब्रह्मचारीका जीवन व्यतीत कर सकता है, अकिञ्चन सन्यासी बनकर रह सकता है, घोर दैहिक और मानस आधि-व्याधिके बीचमे भी गम्भीर चिन्तन कर सकता है पर ऐसे व्यक्ति थोडे होते है। अनासक्तिका उपदेश सबके लिए नहीं है; इस प्रकारके कोरे उपदेशके ही प्रसाद-स्वरूप भारतमे छप्पन लाख साधु हैं, देवदासियॉ है, मठाधीशोकी रखेलियॉ हैं, उनके अशास्त्रविहित बाल-बच्चे है, बालविधवा-ओके ऑसू है, वेश्याएँ है। पहिले सब लोगोको मनुष्यकी भॉति रहनेका अवसर दे दिया जाय, तब कुछ लोगोसे मनुष्यके ऊपर उठनेकी आशा करनेका हमको अधिकार प्राप्त हो सकता है। पुराकालमे अनासक्तिका उपदेश दिया गया, आज भी दिया जा सकता है, परन्तु जब तक सामा-जिक व्यवस्था ऐसी न होगी कि साधारण पुरुष और स्त्री, जिनमे अधि-काश अध्यापक, कवि, कलाकार, राजपुरुष और पुरोहित भी परिगणित है, संयत अर्थ और कामको प्राप्त कर सके तब तक यह उपदेश प्राय. मरुभूमिमे बीजवपनके समान होगा। समाजवादी ऐसी ही व्यवस्था करना चाहता है। उसने देखा है कि पुराकालके साधु महात्माओके उपदेश बहुत कुछ इसलिए विफल हो जाते थे कि राज उनके प्रति यथोचित सक्रिय सहयोग नहीं करता था। इसलिए वह राजसे भी काम लेता है।

राजनीति और अर्थनीतिको स्वतन्त्र छोडनेके स्थानपर वह उनसे अपने उद्देश्यकी सिद्धिमे काम लेता है ; उनको व्यापक सुखसमृद्धि और विश्व-शान्तिका साधन बनाना चाहता है। इसके लिए समाजवादको कोरा राजनीति और अर्थनीति कहना अन्याय है। जो कोई भी वाद राजनीति और अर्थनीतिको अपनेसे पृथक् रखना चाहेगा वह उपयोगी नहीं हो सकता।

मनुष्यकी बुद्धिने भौतिक उपकरणोकी सहायतासे आगको अवतरित किया है। आगसे घर जलाये जा सकते है, इसलिए उससे भोजन भी न पकाया जाय, ऐसा कोई बुद्धिमान नहीं सोचता। बुद्धिमानका लक्षण यह है कि वह आगसे इस प्रकार काम ले कि उससे मनुष्यका अधिकतम लाभ हो। इसी प्रकार समाजवादी यन्त्रोसे भी काम लेना चाहता है। उसको लोहेके इन बृहत्काय पिण्डोसे प्रेम नही है परन्तु मशीन नामसे चिढ़ भी नही है। जब तक इनसे मनुष्यका हितसाधन होता प्रतीत होता है तब तक वह इनसे काम लेना चाहता है और वह इस प्रकार कि जो हित हो वह समुदायका हो, व्यक्ति या वर्गविशेषका नहीं। ऐसा करनेसे अर्थ और काम सयत, धर्म्मानुकूल, बन जाते हैं। ऐसी व्यवस्थाके गर्भमे जिस सस्कृतिका उदय होगा वह मशीनी नही हो सकती। आधुनिक रूसी साहित्य हमारे सामने है। मुझे तो वह किसी भी तथोक्त आदर्शवादी सस्कृतिकी गोदमे पले साहित्यसे निकृष्ट कोटिका नही लगता। अभी आज ही मैंने वैसेल्यूस्काका 'रेनबो' नामका उपन्यास समाप्त किया है। इसे पारसाल स्टालिन-पुरस्कार मिला था। सहयोग, सहानुभूति, औदार्य्य, शौर्य्य, तप और त्यागके भावोंसे ओतप्रोत है। कथा यूक्राइनके एक गॉवकी है जिसमे नये ढङ्गकी सामूहिक खेती होती थी। यान्त्रिक भूमिका होते हुए भी पुस्तकमे कहीं मशीनीपनकी गन्ध नही आने पायी।

शान्तिप्रियजी गान्धीवादको इसलिए श्रेष्ठ समझते हैं कि उसमे आस्तिकता है। शास्त्रीय दृष्टिमे जो मनुष्य वेदके स्वतः प्रामाण्यको स्वीकार करता है वह आस्तिक कहलाता है। मै स्वय यही पसन्द करता हूँ कि पारिभाषिक शब्दोके अर्थ बिगाड़े न जायँ। परन्तु लेखक महोदयने इसका प्रयोग प्राचीन चलनके अनुसार नही किया है। उनका तात्पर्य्य यह नहीं है कि गान्धीजी वेदको अन्तिम प्रमाण मानते है वरन् यह कि उनको ईश्वरपर आस्था है और वह आजकलकी बुराइयोको दूर करनेके लिए आत्मशुद्धिको मुख्य साधन समझते है। गान्धीवादी सब काम ईश्वरार्पण बुद्धिसे करता है, ईश्वरभक्त होता है, ईश्वरकी प्रेरणाके अनुसार काम करनेका यत्न करता है। यह बात ठीक है पर इतनेसे ही गान्धीवादकी उत्कृष्टता सिद्ध नहीं होती। जहाँ तक निष्काम कर्म्म करनेकी बात है, अनीश्वरवादी मीमासक और साख्यमतानुयायी, बौद्ध और समाजवादी भी कर्म्मफलसे अनासक्त हो सकते है। सम्भव है ईश्वरार्पण बुद्धिसे कुछ सहायता मिलती हो परन्तु लकड़ीको सड़कपर चलनेका आवश्यक उपकरण नहीं कहा जा सकता। मै दर्शनका विद्यार्थी हूँ पर मुझे अपने अबतकके अध्ययन और मननमे उस प्रकारके ईश्वरका, उस प्रकारके रामका पता नहीं चला जिसका गान्धीजी जैसे व्यक्ति बराबर नाम लेते हैं। हमारे उपनिषद या आर्ष दर्शन ऐसे किसी ईश्वरको नही जानते थे। हो सकता है इस भावसे बल मिलता हो पर मुझे तो ऐसा देख पड़ता है कि परावलम्बन भावकी भी वृद्धि होती है। मै ईश्वरके निकटस्थ हूँ, ऐसा सोचते-सोचते दम्भ बढ़ जाता है। जो अपने अन्य गुणोके प्रभावसे दम्भसे बच जाता है उसको भी भ्रान्तिदर्शन हो सकता है। अपनी बुद्धिकी सूझ ईश्वरकी प्रेरणा प्रतीत होती है। स्वयं गान्धीजीके जीवनमे ऐसा अनेक बार हुआ है।

इस कहनेका यह तात्पर्य्य नहीं है कि दोनो वादोंमे कोई अन्तर नहीं

है। गान्धीवादकी सबसे बडी देन उसका यह उपदेश है कि हमको साध्य के साथ साथ साधनकी पवित्रताका भी ध्यान रखना चाहिये। इसीलिए गान्धीजी सत्य और अहिंसापर इतना जोर देते हैं। उनका यह दावा नहीं है कि सत्य और अहिंसा उनके आविष्कार है परन्तु यह बात बिलकुल ठीक है कि उनके पहिले सामूहिक व्यवहारमे किसीने अहिंसाको यह स्थान नही दिया था। अहिसाके सम्बन्धमे विस्तृत विचार करनेके लिए यह उचित स्थल नहीं है। यह विवादास्पद प्रश्न है कि प्रत्येक अवस्थामे शारीरिक अहिंसासे काम लेना चाहिये या कभी कभी दुर्गासप्तशतीमे दिखलाये हुए 'चित्ते कृपा समरनिष्ठुरता'के उस मार्गका भी अनुसरण करना चाहिये जिसमे जगत्के त्राणार्थ भौतिक हिंसा की जाती है परन्तु ऐसा करते समय उस व्यक्तिके कल्याणका भी ध्यान रखा जाता है जो हिंसाका शिकार होनेवाला है। फिर भी, हमारे जीवनमे जहाँ तक अहिसाका भाव आ सके अच्छा है और सत्य तथा चरित्रशुद्धि तो सर्वथा उपादेय है। समाजवादको हिंसासे प्रेम नहीं है परन्तु जगत्की वर्तमान अवस्थामे वह लोकहितके लिए शस्त्र चलानेको बुरा नहीं कहता। यह ध्यानमे रखनेकी बात है कि अन्ताराष्ट्रीय व्यवहारमे सत्यपर पर्दा डालनेवाली गुप्त सन्धियोके विरोध करनेका श्रेय सबसे पहिले समाजवादी रूसको ही मिला। गान्धीजी भी इस बातको स्वीकार करते हैं कि कायरताका नाम अहिसा नही है, जिसमे पूर्ण आत्मबल नहीं है उसके लिए हिसात्मक प्रतिकार भी विहित है। आश्रममे पीड़ासे निवृत्ति दिलानेका जब अन्य उपाय नही देख पड़ा तो उन्होने बछडेको मारनेकी आज्ञा दी थी। इस कार्य्यविशेषके सम्बन्धमे किसीकी कुछ भी सम्मति हो पर इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गान्धीजी अहिसा शब्दके अन्धभक्त नहीं हैं। इसके साथही यह भी ठीक है कि वह इस बातके लिए उतावले है कि वैयक्तिक और सामूहिक व्यवहार

अहिंसात्मक हो जाय। देशके शासनमे भी अहिसा, नैतिक प्रभाव,से काम लिया जाय, शत्रुके आक्रमणका सामना भी अहिसात्मक प्रकारसे किया जाय। यह उतावलापन उनके हृदयकी महत्ताका द्योतक तो है पर इसके पीछे गम्भीर विचारकी कुछ कमी है। प्रत्येक सुधारक, हर नये मतका प्रवर्तक, यह समझता है कि जो आजतक कोई नहीं कर सका वह मै कर लॅूगा। ऐसा आत्मविश्वास ही उसको विरोधोकी उपेक्षा करनेकी सामर्थ्य देता है। परन्तु मानव स्वभावको बदल देना सुकर नहीं है। पतञ्जलिने सत्य और अहिसाको देशकालसमयसे अनवच्छिन्न, सार्वभौम, महाव्रत कहा है परन्तु इनका पूरा-पूरा पालन कोई योगी ही कर सकता है। वशिष्ठ, व्यास, राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा, शङ्कर—सभी सत्य और अहिसाकी महिमा गा गये है पर इनमेसे कोई भी दस बीस लाख योगी नही बना सका। गान्धीजी भी ऐसा नहीं कर सकते।

समाजवादी कहता है कि बहुत दिनोमे, स्यात् आजसे सहस्रो वर्षके बाद, वह समय आयेगा जब राज, पुलिस और सेनाकी आवश्यकता न रहेगी। तब तक हमको इन उपकरणोसे काम लेना चाहिये और सामाजिक व्यवस्था तथा शिक्षाके द्वारा मनुष्यके स्वभावको धीरे धीरे संस्कृत, स्वार्थविरत, अहिसारत बना देना चाहिये। यह बात बुद्धिमे बैठती है। जहॉ तक गान्धीवादका अर्थ मनुष्यके स्वभावको ऊपर उठाना, साध्यके साथ साथ साधनकी निर्दोषतापर जोर देना है, वहॉतक वह श्लाघ्य है। जहॉतक गान्धीवाद जीवनकी सादगी सिखाता है, हमको यह बतलाता है कि भौतिक सम्पत्तिका सङ्ग्रह महत्ताका प्रमाण नहीं है, विलास और शृङ्गार जीवनके अन्तिम ध्येय नहीं हैं, वहॉ तक वह आदरणीय और अनुगमनीय है। परन्तु यदि गान्धीवादके अन्तर्गत आजसे कई सौ वर्ष पहिलेकी सभ्यताको पुनः स्थापित करना, मालिक और मजदूरके वर्तमान

सम्बन्धको बनाये रखना, दर्शन, विज्ञान, इतिहास, साहित्य और अर्थशास्त्र-का स्थान तुलसीकृत रामायणको दे देना और तत्कालही पुलिस और सेना-को हटा देना जैसी बाते मानी जाती हो तो वह अव्यवहार्य्य है। मै यह सब इसलिए कह रहा हूँ कि गान्धीवादका अभी वैसा शास्त्रीय स्पष्टीकरण नही हुआ है जैसा समाजवादका हुआ है । हमारे सामने गान्धीजी और उनके कुछ प्रमुख शिष्योंके स्फुट लेख और भाषण है । गान्धीजीने स्वय कहा है कि वह जिस रामराज्यको देखना चाहते हैं उसमे राजा और रङ्क दोनोके लिए स्थान होगा, वह बड़े यन्त्रोके पक्षमे नही है परन्तु यह उन्होने स्पष्ट कहा है कि उनकी कल्पनामे जो व्यवस्था है उसमे पूँजीपति होगे । अन्तर यह होगा कि वह अपनेको अपनी सम्पत्तिका स्वामी न मानकर सरक्षक समझेगे । गान्धीजीने बार बार कहा है कि विश्वविद्यालयोमे दी जानेवाली शिक्षापर सार्वजनिक धन न व्यय किया जाय । गान्धीजीने इस बातपर दु:ख प्रकट किया है कि काग्रेस सरकारे भी पुराने साधनोंसे ही काम लेती रही । उन्होने वर्तमान युद्धमे भी अहिंसात्मक प्रतिकारका परामर्श दिया है । इन बातोको देखते हुए हमारी आशङ्का साधार प्रतीत होती है । जिस प्रकार स्वयं गान्धीजी अपने मतकी व्याख्या करते है उसको देखकर यह कहना पडता है कि उनके उपदेशमे अशतः बहुत ही ऊँचा, अनुकरणीय, आदर्श है : शेष या तो अव्यवहार्य्य है या हानिकर ।

कालप्रवाहकी दिशाको उलटनेका प्रयत्न न तो आवश्यक है न श्रेयस्कर है । मनुष्य जहॉ तक पहुँचा है उसके आगे बढना चाहिये ; उसने प्रकृतिपर जहॉतक विजय पायी है उससे अधिक विजय प्राप्त करनी चाहिये , समाजकी ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये कि शोषक प्रवृत्तिको अनुकूल वातावरण न मिल सके और प्रत्येक व्यक्तिको अर्थकाम और शिक्षाकी वह सुविधा प्राप्त हो जिससे वह अपनी योग्यताका लोकसग्रहार्थ

अधिकसे अधिक उपयोग कर सके। स्वराष्ट्र और स्वदेशीके बन्धन ढीले होने चाहिये, मनुष्यमात्रको एक कुटुम्ब बनकर प्रकृतिकी दी सम्पत्तिका मिलकर बुद्धिपूर्वक उपभोग करना चाहिये। इन बातोके लिए किन उपायोसे काम लिया जाय, इसका निर्णय देशकालपात्रके साथ बदलता रहेगा पर यदि इस प्रकारकी व्यवस्थाको एक नाम देना हो तो उसे समाजवादके अन्तर्गत ही डाला जा सकेगा। पर इतनेसे ही काम नही चल सकता। वैज्ञानिक समाजवाद, मार्क्सवाद, भी पर्य्याप्त नही है। वह सुखसमृद्धिसे ऊँचा कोई ध्येय नही जानता। उसकी सफलता इस बातपर निर्भर है कि लोग अपनी अर्थकाम-प्रवृत्तिको सयत करे, नियन्त्रणके भीतर रखे, सार्वजनिक हितकी परिधिके बाहर न जाने दे। इसीको दूसरे शब्दोमे यो कहते हैं कि अर्थ और कामको धर्म्मके अनुकूल रखना चाहिये। समाजवादमे धर्म्मका एकमात्र आधार संस्कृत स्वार्थ है। मेरे अर्थकामकी सिद्धि समाजके अर्थकामके साथ साथ, समाजके भीतर, समाजके द्वारा, ही हो सकती है, अतः मुझे समाजके हितमे लगना चाहिये। अभ्यासवशात् साधन साध्य बन जाता है; समाजहितका विचार मुख्य, अपने हितका विचार गौण बन सकता है; फिर भी, आधेय अपने आधारसे बहुत दूर नहीं जा सकता। यह स्थान ईश्वर और उसकी आज्ञाको भी नहीं मिल सकता। ईश्वरकी आज्ञा क्यो मानी जाय? ईश्वरकी सत्ता क्या निर्विवाद है? ईश्वराज्ञा जानी कैसे जाय? क्या ईश्वरसे पुरस्कार पानेकी आशा या दण्ड पानेके भयसे जो काम किया जायगा वह शुद्धस्वार्थमूलक कामोसे ऊँचा कहा जा सकेगा?

समाजमे इस समय जो विकार आ गये हैं उनका मुख्य कारण यह है कि मनुष्यकी बुद्धिका आंशिक विकास हुआ है। एक दिशामे बुद्धि बहुत आगे बढ़ गयी, दूसरी दिशामे पीछे रह गयी, इसलिए समाज

बेडौल हो गया। प्रकृतिपर विजयपर विजय होती गयी, विज्ञान
अकल्पित उन्नति की पर इस दौड़-धूपमे उन्नतिसे काम लेनेका ढगँ नहं
आया। समाजका पुराना साँचा इस नये ज्ञानको सँभाल नहीं सका
भौतिक सम्पत्तिकी राशि जीवनका मुख्यतम लक्ष्य बन गयी। यदि शान्ति
पूर्वक इस प्रश्नपर विचार कर लिया जाय कि जीवनका लक्ष्य क्या
तो शेष सब समस्याएँ सुलझ जायें। सब ज्ञान-विज्ञान उस लक्ष्यर्क
सिद्धिका साधन बनाया जाय, जो उसके प्रतिकूल हो उसका परित्याग
कर दिया जाय। मार्क्स और एङ्गेल्सने एक उत्तर दिया। उस उत्तरर्क
आधारभूमि अनात्मवाद है। वह मनुष्यके भौतिक हितकी बात ही सोच
सके। इसके लिए उन्होंने समाजवादको जन्म दिया। समाजवाद बहुत
दूर तक जाता है। वह वैयक्तिक और सामूहिक जीवनके प्रायः सभी
स्तरोंको स्पर्श करता है। इसीलिए उसमे शक्ति है। फिर भी वह अपूर्ण
है। उसका दार्शनिक आधार सुदृढ नहीं है, इसलिए वह धर्म्मसम्बन्धी
शङ्काका यथार्थ उत्तर नहीं दे पाता।

गान्धीवाद जीवन सम्बन्धी मौलिक प्रश्नोंका उत्तर देता ही नहीं।
उसका कोई अपना दार्शनिक मत नहीं है, इसलिए उसमे जीवनके सब
अङ्गोंके एकीकरणकी, समन्वयकी, शक्ति नहीं है। वह कुछ बातोंको
गायब करके समस्याको सरल करना चाहता है। यह जान छुड़ानेका
उपाय हो सकता है परन्तु इससे काम नहीं चलता। हमारे बहुतसे प्रश्न
इसलिए खड़े हो गये है कि आज मशीनें चल रही है। यदि गान्धीवाद-
का बोलबाला हो तो मशीने उठा दी जायँगी, विश्वविद्यालय भी प्रायः
बन्द हो जायँगे। रेल, तार, कल-कारखाने होंगे ही नहीं, प्रश्न स्वतः
खत्म हो जायँगे, पुराना ग्राम्य जीवन आ जायगा। पिछले तीन चार सौ
वर्षोंमे मनुष्यकी बुद्धिने जो नभ-स्पर्शका प्रयास किया था उसकी दुःस्वप्नके

समान क्षीण स्मृति रह जायगी। यह समस्याका सुलझाव नहीं है, समस्या-से पलायन है। गान्धीजीने आत्मपरीक्षण और आत्मशुद्धिपर जो जोर दिया है वह सर्वथा स्तुत्य है। जो अपनी वासनाओके दमनमे निरन्तर यत्नशील नही रहता, जो रागद्वेषसे निरन्तर लडता नहीं रहता, वह कोई ऊँचा काम नहीं कर सकता। परन्तु समन्वयशील दार्शनिक आधारका अभाव तप और आत्मशुद्धिको दम्भ और परछिद्रान्वेषणका रूप दे सकता है। जब तक यह स्पष्ट न हो कि जीवनका ध्येय क्या है तबतक साधनाको महत्त्व देना बेकार है।

केवल भौतिक साधन पर्य्याप्त नही है परन्तु भौतिक चीजोसे छुईमुई बनकर हटना भी कल्याणकारी नही है। आत्मशुद्धि हो, आत्मबल हो, पर उसका सञ्चय इसलिए किया जाय कि जिन भौतिक साधनोको हमारी बुद्धिने सुलभ बना दिया है उनका जीवनके लक्ष्य, प्रधान पुरुषार्थ, की प्राप्तिके लिए यथासम्भव उपयोग किया जाय। जिसके लिए समाजवादी अर्थ और कामकी सामग्रीका सग्रह करनेकी बात सोचता है, जिससे गान्धीवादी सन्तोषी और व्रती होनेको कहता है, वह व्यक्ति है कौन? 'स्व' क्या है? उसे किधर जाना चाहिये? वह किसका सग्रह, किसका त्याग करे और क्यो?

धर्म्मका एकमात्र निर्दोष और परिपूर्ण आधार अध्यात्मवाद, अद्वैत वेदान्त, है। वह हमको बतलाता है कि न केवल सब मनुष्य प्रत्युत सभी प्राणी एक शरीरके, विराट्के, अङ्ग है। ऐसी दशामे पृथक् हितका प्रश्न उठ ही नही सकता। देहके अवयवोका कोई पृथक् स्वार्थ होता ही नहीं। यदि कोई अङ्ग अपने उचित भागसे अधिक रक्तमासका संग्रह कर लेता है तो वह कुरूप हो जाता है, रोगी बताकर काट दिया जाता है। प्रत्येक अङ्गकी सार्थकता इसीमे है कि वह अङ्गीकी सेवा कर सके,

अवयवीसे पृथक् अवयव मासका सड़ा पिण्ड है । देव, मनुष्य, तिर्य्यक्, सब एक सूत्रमे बॅधे हुए है ; सबको सबके साथ सहयोग करना ही होगा; जहॉतक अन्योऽन्यका, समुदायका, हित सामने रखा जाता है वहॉतक कर्म्म पवित्र, निष्काम, यज्ञस्वरूप, श्रेयस्कर होता है ।

अध्यात्मशास्त्र यहींपर नही रुकता । डॉयसनने लिखा है कि ईसाने आदेश दिया था कि दूसरोके साथ अपने जैसा वर्ताव करो । उनके शब्दोमे, 'अपने पड़ोसीसे अपने जैसा प्यार करो ।' परन्तु इसमे एक कमी है । 'मै ऐसा क्यो करूॅ ?' का यथार्थ उत्तर वेदान्त ही बतलाता है । वेदान्तके अनुसार ईसाके उपदेशका रूप यह होगा 'अपने पडोसीसे अपने जैसा प्यार करो क्योकि तुम स्वय अपने पडोसी हो ।' डॉयसनका कहना ठीक है । वेदान्त हमको बतलाता है कि स्व-परका भेद मिथ्या, मायाजनित, है । माया माया करके हाथपर हाथ धरके बैठनेसे काम नहीं चल सकता । जबतक जगत्की प्रतीति होती है तबतक वह हमारे लिए सत्य है । माया जब दूर हो जायगी तब हम अपने अनुभवके बलपर उसे मिथ्या कहनेके अधिकारी होगे । माया तभी दूर होगी जब अभेददर्शन होगा ।

अभेदका दर्शन कई स्तरोपर होता है । निम्न भूमियोपर जो अभेदाभास मिलता है वह अपूर्ण होते हुए भी शुद्ध स्वरूपदर्शनमे सहायक होता है । यह शुद्ध दर्शन तो योगीकी समाधिमे प्राप्त होता है । इसकी कुछ झलक सच्चे कलाकारको, कभी कभी ऊॅचे विचारकको, मिलती है । इसका कुछ आभास थोडी देरके लिए उस मनुष्यको भी मिल जाता है जो दूसरोंकी सेवामे अपनेको तन्मय कर देता है । अतः लोकसग्रह, कर्तव्यबुद्धिसे काम करना, समाजसेवा, परार्थचिन्तन, अशतः अद्वैत दर्शन, अशतः स्वरूपस्थिति, है । उससे समाधिमे सहायता मिलती

है। सब समाधिस्थ होनेकी योग्यता नहीं रखते, सबमे कलानुभूतिकी क्षमता भी नहीं है परन्तु सभी न्यूनाधिक धर्म्माचरण कर सकते है। इस प्रकार धर्म्म, अपने अर्थ और कामपर संयम करके परहितका अनुष्ठान, स्वार्थका साधन न रहकर मायासे छुटकारा पानेका, मोक्षका, साधन बन जाता है। जो जितने बड़े क्षेत्रसे तन्मयता प्राप्त कर सकेगा, अपने समाजका जितना बड़ा बना सकेगा, वह इस लक्ष्यके उतना ही निकट पहुँचेगा।

समुद्र अपनेको जबतक बूँद समझेगा तबतक अपनेमे अल्पताका निक्षेप करेगा। अल्पता अपूर्णता है, इसलिए अनिष्ट, अरुचिकर होती है। जब अज्ञान दूर होता है, मिथ्यात्वका पर्दा हट जाता है, तब अल्पता उस अखण्डतामे लीन हो जाती है जिसकी वह प्रतिच्छाया है। अल्पताके दूर होनेसे अनिष्टता और अरोचकताका भी विनाश हो जाता है। सत्यम्‌के साथ ही शिवम्‌ और सुन्दरम्‌का भी उदय होता है क्योकि तीनो अभिन्न है, एक ही मणिके तीन पहल है।

अतः हमको वैयक्तिक और सामूहिक जीवनको अद्वैतमूलक अध्यात्मवादकी नींवपर खड़ा करना चाहिये। अर्थनीति, राजनीति, दण्डनीति, शिक्षा, सबका एक ही आधार, एक ही लक्ष्य हो। सब योगी, कलाकार या निष्काम कर्म्मी नहीं हो सकते ; सबकी बुद्धि निवृत्तिप्रिय नहीं होगी, परन्तु सभी कुछ न कुछ इस मार्गपर अग्रसर होगे। समाजकी व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये कि अभेदबुद्धिको अधिकसे अधिक प्रोत्साहन मिले ; वर्ग और राष्ट्रके भेदोका यथाशक्य तिरोहन हो, शोपक और शोपित, राजा और रङ्क, का अस्तित्व मिट जाय ; सम्पन्न और अधिकारीसे शिक्षकका पद ऊँचा हो ; समाजकी सेवा प्रतिष्ठाका सोपान बने ; घरमे और बाहर, शिक्षालय और कार्य्यालयमे, कलाका वातावरण हो ; पैसेकी कमी किसीके आत्मप्रसारमे बाधक न हो सके ; प्रत्येक काम धर्म्मकी कसौटीपर और

धर्म्म अध्यात्मकी कसौटीपर कसा जाय, अच्छे बुरेकी पहिचान यह न हो कि इससे कहाँ तक अपना या अपने निकटवर्तियोका लाभ होता है, यह भी नहीं कि यह कहाँ तक ईश्वरकी प्रेरणाके अनुकूल है प्रत्युत यह कि इससे कहाँ तक अभेदभावना दृढ होगी। ऐसे प्रबन्धमे गान्धीवाद और समाजवाद दोनोका समन्वय हो जायगा, सभी सम्प्रदायोके मूल्यवान् मन्तव्योका समावेश हो जायगा। यह व्यवस्था समय समयपर अपना ऊपरी कलेवर बदलती रहेगी, क्योकि युगधर्म्म सदा एकसा नहीं रह सकता परन्तु इसका आधार सत्य और सनातन है।

जब हमको जीवनकी यह दिशा अभीष्ट है तो फिर उन लोगोका, जो जीवनको साँचेमे ढालते हैं, कर्तव्य भी स्पष्ट है। राजपुरुष, धर्म्मोपदेष्टा, लोकप्रिय नेता, शिक्षक और कलाकारका बहुत बडा दायित्व है। यहाँ हम सक्षेपमे कविके—मै काव्यमे गद्य पद्य दोनोको गिनता हूँ—विषयमे ही विचार करे। कविके पास शब्दोकी अक्षयराशि है, वह प्रत्येक शब्दकी प्रत्येक ध्वनिसे परिचित है; प्रकृति उसको उपमाओं और अलङ्कारोका भण्डार सौंप देती है; मात्रा और यति आदिके द्वारा वह प्राणोमे यथेच्छ स्पन्द उत्पन्न कर सकता है, उसकी वाणी उन मर्मस्थलोको स्पर्श कर सकती है जहाँ दूसरे शब्दोके पर जलते है। इस महती शक्तिका क्या उपयोग किया जाय?

कवि चाहे तो इसे ग्रामदेवताके चरणोपर अर्पित कर सकता है। राजा, राजपुरुष, जमीनदार, पूँजीपति, कृषक, मजदूर, सर्वहारा—सभी अपनी खुशामदसे प्रसन्न होंगे, साधुवाद देंगे, यथाशक्य दक्षिणा चढ़ायेंगे। वह चाहे तो निर्झर, प्रपात और कलकलवाहिनी नदियोका, पक्षियोंके मर्मर और मयूरके नृत्तका, युवकयुवतीके प्रणय और बच्चोकी क्रीडाका, चित्र खींच सकता है—जीवनमे फोटोके लिए भी स्थान रहता ही है।

वह दलितोंको शान्तिके लिए आह्वान दे सकता है, ईश्वरकी सेवामे चारण बनकर उपस्थित हो सकता है। अपनी अतृप्त वासनाओंको आशाविरहित गानका रूप देकर दूसरे अतृप्त हृदयोके तार खड़काना उसके लिए सुकर है। जो लोग जीवनकी रूक्षतासे ऊब गये है वह उसके स्वप्नोके आकाश-कुसुमोकी वर्षासे आप्यायित होगे। पर उसे यह समझ रखना चाहिये कि जबतक उसकी दृष्टि इन बातो तक सीमित रहती है तब तक वह कवि नहीं है। जिसने इस नानात्वके पीछे विलास करनेवाली शाश्वत कान्तिको नही देखा, जिसने इन्द्रियपथका अतिक्रमण करके जगत्‌का दर्शन नहीं किया, वह कवि नहीं है। जिसको उस पदार्थकी झलक नही मिली जिसके लिए 'रसो वै सः' कहा गया है उसके हृदयमे कोई भी विभाव रस नहीं जगा सकता। उसकी रचना दूसरोमे भी रस जगानेमे असमर्थ होगी। विना समाधिकी वितर्क और विचार भूमियोंका स्पर्श किये कोई कवि नहीं हो सकता। सच तो यह है कि योगी ही कवि हो सकता है। अस्तु, जो अपनेमे काव्यरचनाकी प्रवृत्ति देखता हो उसको पहिले अन्तर्मुख होना चाहिये। मनन करके और, यदि बन पड़े तो, निदिध्यासन करके उस तत्वको ढूँढना चाहिये जो इस नानात्वके रूपमे भासमान हो रहा है, जो अनेकको एक सूत्रमे ग्रथित कर रहा है। उसी एकका सन्देश सुनाना, उसीकी ओर श्रोताको ले जाना, भेदके जङ्गलमे अभेदकी पगडण्डी दिखलाना, कविका कर्तव्य है। वह शास्त्रका अध्यापक नही है, कथावाचक व्यास नहीं है, उसकी अपनी अलग शैली है। कविकी प्रवृत्ति तथा देशकालपात्रके भेदसे रचनाओके स्वरूपमे, विषयमे, भेद होगा परन्तु प्रकृतिका वर्णन हो या समाजके दुखदर्दका, प्रणय हो या प्रपत्ति, रणगान हो या कोमल भावोका चित्रण, इन सबको उस एक उद्देश्यकी पूर्तिका उपकरण बनाया जा सकता है। न कला कलाके लिए

है, न नाक नाकके लिए। नाककी सार्थकता शरीरके स्वास्थ्यमे है, कला-की सार्थकता जीवनकी पूर्णतामे है। जीवन तभी पूर्ण होगा जब वह अद्वैतभावनाकी नींवपर खड़ा किया जाय। कलाकी श्रेष्ठताकी परख यह है कि वह कहाँ तक मनुष्यको मनुष्यके और प्रकृतिके, उस पदार्थके जिसकी अभिव्यक्ति मनुष्यके भीतर और वाहर सर्वत्र हो रही है, निकट ले आनेमे समर्थ हुई।

जिसकी दृष्टि सनातन सत्यपर है उसके लिए कुछ और सोचनेकी आवश्यकता नहीं है, उसकी वाणीमे सुन्दर और शिव आपही निहित होगा। परन्तु जो लोग सत्यकी खोज किये बिना ही काव्यरचना करने लग जाते है उनके सामने अनेक समस्याएँ खड़ी होती हैं और वह समाजके सामने अनेक समस्याएँ खड़ी कर देते है। उनसे इतनाही कह सकता हूँ कि लिखनेके पहिले इतना तो सोचही लिया करें, मै यह क्यों लिख रहा हूँ? इसका क्या प्रभाव पढनेवालेपर पडेगा? मै उसपर क्या प्रभाव डालना चाहता हूँ? दुर्बोध शब्दोके इस घटाटोप, अप्रचलित वाग्विन्यासो-के इस जालके पीछे सचमुच स्थायी अर्थ कितना है? यह कहना गलत है कि कोई रचना केवल स्वान्तः सुखाय की जाती है। और फिर, केवल इतना कहना पर्याप्त नहीं है कि यह रचना स्वान्तःसुखाय की गयी है, कविके अन्तःस्तरसे निकली है। यही वात उन गालियोके लिए भी कही जा सकती है जो होलीमे सुन पडती हैं। सस्कृत बुद्धि उनको नापसन्द करती है। मनुष्य नङ्गा ही पैदा होता है, उसका शरीर प्रकृतिनिर्मित है, परन्तु नग्न शरीरका प्रदर्शन हेय है। हम रचनाके सम्भव प्रभावकी उपेक्षा नही कर सकते। वासना आत्माका वन्धन है। जिससे वासनाकी वृद्धि होती है वह अशिव, असुन्दर, असत्य है। जो नानात्वको, पार्थक्यको, ढीला करे, जिससे 'स्व' का परिवर्द्धन हो, वह सत्य है, शिव है, सुन्दर है। न हमको किसीके

घरकी गन्दी नालीके प्रति कोई जिज्ञासा है, न किसीके हृदयके उच्छ्वासोके तापमान जाननेकी इच्छा है, परन्तु जब वह नाली नगरमे होकर बहेगी और यह उच्छ्वास हमारे कानोमे फूँके जायँगे तो हम प्रभावकी ओर उदासीन नहीं रह सकते ।

कभी-कभी यह प्रश्न उठता है कि मनोविश्लेषणके तथ्योका साहित्य-मे कहाँ तक उपयोग किया जाय । यह रोचक बात है कि हमारे अधि-काश लेखकोको फ्रॉयड अधिक आकृष्ट करते है, जुङ्ग और ऐड्लर कम । सम्भव है इसका एक कारण यह हो कि अभी हमारे यहाँ फ्रायडका ही प्रचार हो पाया है । पर दूसरा कारण, जिसको लोग स्वय नहीं समझ पाते, यह भी है कि आज कलकी सामाजिक उथल-पुथलमे बहुतोको जो अशान्ति और असन्तोप रहता है वह रतिवासनाके रूपमे सुगमतासे व्यक्त हो पाता है और फ्रायडसे इस वासनाको शास्त्रीय पुष्टि मिलती प्रतीत होती है । लेखक अपना मनोविश्लेपण नहीं करता । मनोविज्ञानके इस अङ्गके सिद्धान्तोको समझना अच्छा है परन्तु केवल वासनाओका नग्न चित्रण मनुष्यका पूरा चित्र नहीं है । मनुष्यका विकास क्षुद्र जीवोसे हुआ है । विकासक्रमका ज्ञान हमको मनुष्यको समझनेमे सहायता देता है परन्तु मछलीका वर्णन मनुष्यका वर्णन नहीं है ।

मुझे विभिन्न वादोके बारेमे कुछ नहीं कहना है परन्तु ऐसा समझता हूँ कि ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे काव्यके सम्बन्धमे मेरा विचार स्पष्ट हो जाता है । भारतीय कविको यह न भूलना चाहिये कि वह व्यास और वाल्मीकिका दायाद है । यदि विश्वकल्याण, मनुष्यके श्रेय, अभेद-भावके उद्बोध, के लिए उसको कोई बात उचित प्रतीत होती है तो वह उसका निःसङ्कोच समर्थन करेगा परन्तु जो अपनी कलाको किसी वादके प्रचारका उपकरण बना देता है वह कवि नहीं है । कवि किसी नेता या

विचारकसे सन्देशकी भिक्षा नहीं लेता। वह ऐसा मनुष्य है जिसकी बुद्धि सहज ही सह-अनुभूतिकी ओर झुकी होती है, वह भी अपने चारों ओरके भौतिक और बौद्धिक वातावरणसे प्रभावित होता है, परन्तु सत्यके पीयूषसागरमे वह स्वयं डुबकी लगाता है। सबकी बुद्धि एकसी नही होती; भाजन भेदसे सब सत्यको ठीक एकसा ग्रहण नहीं करते और ग्रहण करके भी उसको एकही प्रकार दूसरो तक पहुँचा नही सकते। इस लिए प्रत्येक कविके सन्देशमे नूतनता, मौलिकता, विशेषता है परन्तु प्रत्येक सन्देशमे वही एक परम सत्य, परम शिव, परम सुन्दर तत्व प्रतिध्वनित होता रहता है।

यह तो सैद्धान्तिक बाते हुई। इनके सम्बन्धमे मतभेद होना स्वाभाविक है। शिकायत मतभेदसे नहीं, मननके अभावसे हो सकती है। यह आक्षेप शान्तिप्रियजीके विषयमे नहीं किया जा सकता। सामयिकी अपने रचयिताके व्यापक अनुचिन्तन ही नहीं उनकी कलात्मक अनुभूतिका परिचय देती है। उन्होने साहित्य, विशेषतः हिन्दी साहित्यकी प्रगतिका शास्त्रीय आलोचकके साथ साथ सहृदय कलाकारकी दृष्टिसे भी अवलोकन किया है। वह चाहते है कि साहित्य निर्जन अरण्यमे खिलनेवाला फूल न रह जाय, वह जीवनका प्रतिबिम्ब और साथ ही उसका पथप्रदर्शक बने। उनकी यह कृति श्लाघ्य है।

सम्पूर्णानन्द

विषय-क्रम

सामयिकी

युग-दर्शन

[१]

श्रूयते हि पुरा लोके

मदनने मधुवाण चलाकर शिवकी समाधि भङ्ग कर दी थी। जिस अतीन्द्रिय सत्यकी साधनामे वे लगे हुए थे, जिसे पानेके लिए विश्वका विषपान कर भी मृत्युञ्जय हो गये थे, उसमे मदनकी उच्छृङ्खलतासे व्याघात पहुँचा। किन्तु सृष्टिके जिस सार-तत्त्व—मनःसयम—के लिए उनकी साधना तपस्याकी अन्तर्भून ज्वाला बन गयी थी उसकी दुःसह ज्योतिके सम्मुख मदन मनसिज नही बना रह सका, शरीरको बेधकर आत्मातक नहीं पहुँच सका, वह ग्रीष्मातपसे झुलसे पुष्पकी भाँति निष्प्रभ हो गया।

शिव है श्मशानके योगी। संसारकी सारी एषणाएँ जहाँ भस्म हो जाती है उसी भूमिके पीठस्थविर—समाधिस्थ—होकर उन्होने अपने मनोयोग—चिन्तन—को अग्रसर किया था। साधनाकी इस भूमिमे उनका दिगम्बर शरीर अतीन्द्रिय हो गया था।—'क्या शरीर है! शुष्क धूलिका थोडा-सा छवि-जाल!' मदनने उनके उसी दिगम्बर शरीरको पुष्पवाणसे भेदकर श्मशानकी मिट्टीकी तरह कुरेद दिया। उस दिगम्बरताके भीतर भस्माच्छादित सत्यकी ज्वाला—अनासक्त चेतना—मे वह भी भस्म हो गया।

शिव थे स्रष्टाकी सृष्टिके अन्तर्द्रष्टा। वे लीलाधरके लीलामुक्त प्रहरी थे। जो अभिनेता सीमाका उल्लङ्घन कर जीवनका अनुचित आस्फालन करता था उसके लिए वे तपःकठोर हो जाते थे। इस लीलाधाममे मदन था मनकी दुर्बल-रसिकताका प्रतिनिधि। मानव-मनका प्रतिनिधि होते हुए भी उसकी रसिकतामे पाशविक अहङ्कार आ गया था, वह उद्धत निर्लज्ज हो गया था, वह 'शिव' पर 'सौन्दर्य' को विजयी बनानेको उद्यत हुआ था, किन्तु वह पराजित ही नहीं हुआ, अपना अस्तित्व भी खो बैठा।

नारी थी अबला। रति थी नारी, मदनकी मदनिका, सौन्दर्यकी श्री—शची। पुरुष ही उसका सम्बल था, किन्तु पुरुप अपने अविचारके कारण उसे सनाथ नहीं बनाये रख सका। अतएव, आत्माकी वह सुकुमार सुषमा—रति—आत्माके महर्षिके चरणोमे प्रणत हुई, 'सौन्दर्य' का विश्वास खोकर 'शिव' की शरणागत हुई। शिवने उसके हियेको पहचाना, उसके आँसुओमे पुरुषका अहङ्कार बह गया था। शिवकी साधनामे जो सहृदयता है उसीसे विगलित होकर उन्होने रतिको पुनः सुहागका वरदान दिया, मदनने अनङ्ग होकर ससारमे पुनः संसरण किया। स्वयं शिवने भी सौन्दर्य-समारोह किया, शङ्करके पार्श्वमे पार्वती शोभासीन हुई।

शिवमे सत्यकी शुष्क कठोरता ही नहीं, आनन्दकी प्रसन्न-कोमलता भी है। सत्-चित्-आनन्द—सच्चिदानन्द—के समन्वयमे उनकी साधनाकी पूर्णता है। निरा-आनन्द ऐन्द्रिक विलास बन जाता है, आनन्द-रहित चित् विक्षिप्त हो जाता है, हृदय-रहित सत्य अशिव हो जाता है।

उस समय सृष्टिमे यही विपर्यय हो गया था—सत्-चित्-आनन्दकी एकता भङ्ग हो गयी थी। जीवनके विशृङ्खलित छन्दको सन्तुलन देनेके

लिए शिव विरागीसे अनुरागी हुए थे। आज फिर छन्दोभङ्ग हो गया है—सत्यका स्थान वस्तुवादने, चित्‌का स्थान निरङ्कुशता—हृदयहीनता—ने, आनन्दका स्थान विलासिताने ले लिया है। फलतः शिवका प्रलय-नेत्र फिर खुल पडा है—चारो ओर महानाशकी ज्वाला धधक रही है। नवीन सर्जनके लिए शिवकी संहारलीला चल रही है। शिव विप्लवके नटराज हो गये है।

पतनोन्मुख जीवन-प्रणाली

शिवने नारीपर आक्रोश नही किया था, आज भी शिवका नारी-पर आक्रोश नहीं है, क्योकि सृष्टिकी जननी होकर भी नारीका सृष्टिपर प्रभुत्व नही है, प्रभुत्व है पुरुषका। युग-युगकी रीति-नीतिका विधायक पुरुष ही होता आया है। पुरुषका सबसे बड़ा पतन उसका विलास है, उसका सृष्टि-विधान शरीरके उत्कर्ष—पौरुष—से प्रारम्भ होकर शरीरके अपकर्ष—विलास—मे समाप्त होता है। फ्रासका पतन होने पर परिणामदर्शियोने ठीक ही कहा था कि उसका पतन उसकी सैनिक शक्तिके अभावसे नहीं हुआ था, बल्कि उसके विलासके कारण हुआ था। इसी प्रकार उनका भी पतन निश्चित है जो शरीरके हर्ष-विमर्षो-को ही जीवनका अथ-इति बनाकर चल रहे है। इस जीवन प्रणालीका स्वभाव ही पतनोन्मुख है। अपनी बाह्य—शारीरिक—सत्तामे अचल वे विराट वपुधारी पर्वत भी अपने भौतिक उत्कर्षको न सँभाल पानेके कारण धराशायी हो जाते है। स्वय धराशायी न होने पर कोई क्रान्ति—शिवकी शिवा शक्ति—ज्वालामुखी या भूकम्प बनकर उन्हे धराशायी कर देती है। हॉ, हिमालय (जीवनका स्थितप्रज्ञ व्यक्तित्व) प्रकृति (नारी) की कोमलता—अन्तःकरणकी पद्मीभत तरलता—शिरोधार्य कर लेनेके

कारण चिरअक्षुण्ण रहेगा। ऐसे व्यक्तित्वके प्राङ्गणमे शिवका ताण्डव नहीं होता, बल्कि वहाँ प्रकृतिका आत्मोल्लास लास्य करता है।

पुरातन आख्यान-युगको पार कर हम जिस इतिहास-कालका प्रारम्भ करते है, वह और कुछ नही, पौरुषेय—भौतिक—सभ्यताका आदि-काल है जहाँसे पाशव अभिव्यक्तियाँ—आहारादि अष्ट-प्रवृत्तियाँ—मानव-कलेवर—शरीर—का नेतृत्व पाती है, मानो एक ही मैटर नवीन संस्करण पा जाता है। गोचर-भूमि—ऐन्द्रिक सुविधा—के लिए पशुओकी तरह लड़ना-भिडना और हार-जीतका सुख-दुःख उठाना, यही तो अब तकके ऐतिहासिक युगोका इतिहास है।

नारीका व्यक्तित्व

इस ऐन्द्रिक या भौतिक सभ्यताको हमने पौरुषेय इसलिए कहा कि इसके निर्माणमे नारीका व्यक्तित्व नहीं है। यह ठीक है कि पुरुषके पद-चिन्होपर चलकर नारी भी सृष्टिकी अशान्तिका कारण बनी है, किन्तु नारी तो पुरुषके व्यक्तित्वकी ही अनुवादित-कृति रही है। प्रेमके मधुर सूत्रसे बँधकर जहाँ प्रकृति-पुरुष अद्वैत हो जाते है, वहाँ नारी पुरुषके निर्मम शासन-सूत्रसे बँधकर केवल उसका भाष्य-मात्र रह गयी। पुरुष अपने तामसिक प्रभुत्वके विस्तारमे अन्धकार बन गया, नारी उस अन्धकारकी कुहुकिनी। छाया-प्रकाशका व्यक्तित्व खोकर नारायण नर रह गया, नारायणी नारी। नरके ताल-तालपर ही नारी नृत्य करती रही, जैसे नटके सङ्केतोपर नटी। वह कामकी कामिनी हो गयी, 'योनिमात्र रह गयी मानवी'। फिर भी, नारीके भीतर हृदयकी जो सुकुमारता है वह अन्तःसलिलाकी तरह जीवनका अस्तित्व बनाये रही, मृन्मयी पाषाण-सभ्यताको भेदकर अन्तःकरणका अमृत-रस सँजोये रही। नारीके इस सङ्गोपन-व्यक्तित्वपर शिव—विश्व-कल्याण—का विश्वास था। शिवके

सम्मुख रतिने जब विलाप किया था तब उसके ऑसुओंमे मानो इसी विश्वासकी शपथ थी। नारीकी शपथसे पुरुष फिर जी उठा, किन्तु वह शपथकी लाज नही निबाह सका। आज भी नारी अपने ऑसुओमे रो रही है, पुरुषको अभिशप्त होनेसे बचानेके लिए। पुरुष नारीके ऑसुओसे ही तो जीता आया है, ऐसा है वह निर्लज्ज पशु! किन्तु भावी युगका स्रष्टा नवप्रबुद्ध बुद्ध—गान्धी—नारीके व्यक्तित्वको उसका मौलिक विकास देनेके लिए, पुरुषकी स्वेच्छारितासे उसे मुक्त करनेके लिए, तपःकठोर होकर कहता है—'स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध अस्वाभाविक है'। पौरुषेय—वैज्ञानिक—सभ्यताके इस युगमे यह दो-टूक निर्णय इतिहास-परायण जीवोको प्रतिक्रियावादी बना देता है, मानो चेतनताके प्रतिकूल जड़ताको। किन्तु गान्धीका यह अति-निषेध तो इस बातका सूचक है कि हमारी भोग-वृत्ति कितनी पतित हो गयी है कि उसे तनिक भी मुक्ति देना रुग्णताको रियायत देने जैसा खतरनाक हो गया है। गान्धीने आजके रियलिज्मको यहॉपर अपने आइडियलिज्म द्वारा ही व्यक्त कर दिया है। गान्धीको नारीपर विश्वास है, किन्तु इस बार उसीका अभिशाप-मोचन करनेके लिए उसने पुराने वरदानकी पुनरुक्ति नहीं की। नारीके अभिशाप-मुक्त होनेसे पुरुषका भी अभिशाप-मोचन हो जायगा, नारी नारायणी होकर नरको भी नारायण बना देगी। नारीके इस व्यक्तित्वकी प्रतिष्ठा वैज्ञानिको द्वारा नहीं, कलाकारो द्वारा होगी। विज्ञानके सर्चलाइट—रियलिज्म—मे नर-नारीकी नङ्गी भूख-प्यास दिखलानेसे गान्धीको सन्तोष नही होगा, उसे तो कलाके पारदर्शी आलोकमे नर-नारीका वह अन्तःसाक्षात् चाहिये जहॉ वे बुभुक्षु नही, मुमुक्षु हैं। जहॉ स्त्री-पुरुष नर-नारी नहीं बल्कि अपने अन्तःकरणमे मनुष्य हैं, इस नाते मानव-मानवी है, उसी व्यक्तित्वके एकत्वमे समाजका कल्याण है।

समस्याओंके मूलमें नारी-समस्या

हमने कहा कि ऐतिहासिक युगोके निर्माणमे नारीका व्यक्तित्व नगण्य था। पुराकाल और गान्धी-कालके 'आख्यान'-युगमे नर-नारी-का कर्म-योगमे सहयोग है, किन्तु ऐतिहासिक युगोमे केवल पुरुषका स्वार्थ-भोग ही देख पडता है, नारीका मनोयोग नही। पुरुषके राजतन्त्रमें नारी खनिज धातुओका ही शारीरिक रूपान्तर है। इन पौरुषेय युगोकी सम्पत्तिका नाम है—कामिनी-काञ्चन। काञ्चनके साथ जुड़कर नारी भी जड़-सम्पत्ति बन गयी, चेतन प्राणी नहीं। अन्तर केवल यह रहा कि काञ्चन कोषागारमें बन्द हुआ, नारी अन्तःपुरमे बन्द हुई। इस तरह पुरुषने समाजमे दुहरे-कोषागारोकी स्थापना की। आज इनमेसे एक कोषागार—अन्तःपुर—तो टूट चला है, दूसरा कोषागार अभी समाजवादकी प्रतीक्षामे है। किन्तु कामिनी और काञ्चन, इन दोनोको अपने वन्दीगृहोसे मुक्त होकर फिर उन्हीं जड-युगोकी सभ्यताका नवीन अभिनय नही करना है।

ऐतिहासिक युग नारीके हृदय-कोमल व्यक्तित्वसे वञ्चित होकर पुरुषकी जड़तासे पाषाण-युग बन गये। इन युगोकी पौरुषेय सभ्यता मानसिक पक्षाघातसे विकलाङ्ग है। उसमे जीवनकी पूर्ण संस्कृति—नर-नारीके सायुज्य—का अभाव है। स्वय शिव केवल पुरुष नही है, वे है अर्द्धनारीश्वर। लोक-सङ्ग्रहके लिए पुरुषका पौरुष और नारीका औदार्य, इन्हीके सयोजनका नाम है अर्द्धनारीश्वर। विना औदार्यके पुरुष जड है, नारी ही अपने व्यक्तित्वसे उसे सजीव बनाती है, जैसे पर्वतको निर्झरिणी, शिवको पार्वती। अतएव पाषाण-युगकी सभ्यताको अपने पद-चिह्न देकर युग-पुरुष गान्धी उसके भीतरसे नारीका ही उद्धार कर रहा है।

आज सारी समस्याओके मूलमे स्त्री-पुरुषकी समस्या ही प्रच्छन्न है। यह समस्या एक तरहसे पशुताके विरुद्ध मानवताका सङ्केत है। नारीकी चेतनाके अभावमे पुरुष-जात ऐन्द्रिक सभ्यता एकाङ्गी तो है ही, साथ ही वह पौरुषेय भी नहीं बनी रह सकी, क्योंकि पुरुष पुरुष न होकर पशुमात्र रह गया। नारीको जड धातुओंमे फेंककर पुरुष कैसे पुरुष कहला सकता है, वह तो बिना मानवीके मानवताकी एक विडम्बनामात्र है। पाशविक अहङ्कार ही पुरुषका पुरुषत्व बन गया है। पुरुषका इतना अहङ्कार कि अपने एकतन्त्र अहम्‌के लिए नारीको भी जड-सम्पत्ति बना दिया! वह सामाजिक प्राणी न रहकर वनचारी हो गया है जो अपने सिवा शेष सृष्टिको भक्ष्य समझता है। पुरुषकी इसी भक्षण-नीतिके कारण उसकी ऐतिहासिक सभ्यता भोग-प्रधान है। भोगवादने ही सत्-चित्-आनन्द—सच्चिदानन्द—की शृङ्खलाको विच्छिन्न कर दिया है। नारीके उद्धारसे ही पुरुषको अपने अहङ्कारकी क्षुद्रताका बोध होगा। जड़तासे चेतनामे आकर यदि नारी फिर नरकी अन्ध-अनुरक्ति नहीं बनी, वह अपना मौलिक विकास कर सकी तो पुनः उसीके द्वारा सच्चिदानन्दकी शृङ्खला जुड़ेगी। युगोतक जड-सम्पत्तिमे परिगणित होनेके कारण वह जडताके वास्तविक मूल्य—निस्सारता—को समझ गयी होगी, फलतः नर-निर्मित नरकको चेतनाका स्वर्ग बनायेगी।

[२]

आजकी स्थूल समस्या

उस भावी स्वप्न-युगके पूर्व, आजकी समस्याको आजके स्थूल कलेवरमे देखे। आजका सारा युग और सारी समस्या है—रूप और रुपया। इसे सरस भाषामे चाहे कामिनी और काञ्चन कहिये, चाहे सात्विक

भाषामे आहार-विहार; आजकी भाषामे तो इसका यथार्थ-पर्याय है—रोटी और सेक्स। रोटी अर्थात् सम्पत्ति, सेक्स अर्थात् नारी। आज भी नारीका मूल्य सम्पत्तिके मानदण्डसे ही बँधा हुआ है। रोटी जीवनका पर्याय नही और न सेक्स प्रेमका पर्याय है। रोटी और सेक्समे तो दुर्भिक्ष-पीडित पशुकी नग्न बुभुक्षा है, जीवन्मृत मनुष्यकी शारीरिक विवशता है। पौरुषेय सभ्यताका—जिसे आजकी राजनीतिक भाषामे पूँजीवादी सभ्यता कह सकते है—अन्तिम परिणाम यहीं तो होना था। जबतक सभ्यताका धरातल नहीं बदल जाता तबतक यही दुष्परिणाम बना रहेगा।

रोटी और सेक्स अथवा रूप और रुपया—इन्हींको लेकर आजका अन्तर्राष्ट्रीय जगत् स्थापित स्वार्थोंका शतरञ्ज खेल रहा है। इस खेलमे जो सबसे छोटे—निम्नवर्गीय—है वे तो पहिले ही सर्वहारा हो गये है, किन्तु जो उच्चवर्गीय है वे भी विजित होनेके लिए ही अपने स्थानपर बने हुए है। इस खेलमे किसी भी वर्गकी खैर नही है। इसमें विजय तो है ही नहीं, बारी बारीसे एक दिन सभी वर्गोंको सर्वहारा हो जाना है।

मनुष्य जब हारने लगता है तब अपने. अधिकारोंके लिए आपसमे पशुओकी तरह लडता है। जितना स्थूल उसके लडनेका साधन होता है उतना ही स्थूल उसका साध्य भी। आज व्यक्ति-व्यक्ति मे, राष्ट्र-राष्ट्रमे स्थूल सङ्घर्ष छिड़ा हुआ है, तदनुसार सबका लक्ष्य भी एक-सा ही स्थूल है—रूप और रुपया।

निःसन्देह आज मनुष्य पशु हो गया है, कोई पददलित पशु है तो कोई उद्धत पशु। लेकिन हम जरा रुके, पाशविक होनेके कारण ही हम आजकी स्थूल आवश्यकताकी उपेक्षा नहीं कर सकते। बनैली सभ्यताके विषम युगमे पाशविक उत्पातके रहते मानवी साधना सम्भव नहीं है।

किसी युगमे पशु मनुष्यका व्यक्तित्व ग्रहण करता था, किन्तु आज जब कि मनुष्य ही पशु बन गया है, उसका उद्धार करनेके लिए समस्याको उसकी दृष्टिसे भी देखना होगा। समाजवाद यही दृष्टि सुलभ करता है। वह निर्बल और प्रबल पशुताको सन्तुलित करनेके लिए कहता है—सबको खाने-खेलनेके लिए समान अवसर और समान क्षेत्र मिलने चाहिये। इसी दृष्टिसे वह स्त्री-पुरुषको भी समानाधिकार देना चाहता है। इस प्रकार समाजवाद पीछेकी अपेक्षा एक कदम आगे बढकर नारीको जड़-सम्पत्तिसे निकालकर उसे भी सम्पत्तिके उत्तराधिकारियोमे सम्मिलित करता है। यहाँ नारी भी भोग-प्रधान सभ्यताकी अधिकारिणी बन जाती है, वह उपभोग्यसे भोक्ताकी श्रेणीमे आ जाती है, पुरुषके अहङ्कारकी ही साझीदार हो जाती है, किन्तु उपभोक्ताके लिए चेतना अथवा मानवके लिए मानवीका प्रश्न शेष ही रह जाता है।

दीनों और सम्पन्नोंका सङ्घर्ष

हाँ, समाजवाद भोगवादको ही नवीन सामाजिक व्यवस्था देना चाहता है। भोगके दुरुपयोग-सदुपयोगके नैतिक प्रश्नको स्थगित कर वह उसकी दैनिक व्यवस्था—दुर्व्यवस्थाका आयोजन-विवेचन करता है। जीवनके कुछ प्रश्न चिरन्तन अथवा स्थायी होते है, कुछ प्रश्न तात्कालिक अथवा सामयिक। समाजवाद जीवनके सामयिक प्रश्नोंको सुलझाता है। रोटी और सेक्स, यही आजके सबसे बडे सामयिक प्रश्न हैं। यह ठीक है कि नैतिक दृष्टिसे ये प्रश्न बडे घिनौने लगते हैं, किन्तु उनके कारण और निदानको समझनेके लिए उन्हे सामने रखकर देखना ही होगा। हम क्या देखते हैं,—कहीं मानवकी अतृप्ति उसकी कामुकता बन गयी है, कहीं उसकी अति-तृप्ति विलासिता। दोनो ही

स्थितियोंमे अतृप्त-मानव आज पशु बन गया है। ऐसे ही पाशव-युगने उस शारीरिक सभ्यताको प्रधानता दी जिसकी दर्पोक्ति है—'वीरभोग्या वसुन्धरा'। किसी युगमे वीरता शरीरके सौष्ठवमे थी, आज वह शरीरसे सम्पत्तिकी कुरूपतामे स्थानान्तरित हो गयी है, मानो मनुष्यकी पशुता अर्थ-परायणतामे रेहन हो गयी। यो कहे कि शारीरिक जडता आर्थिक जड़तामे पुञ्जीभूत—एकजाई—हो गयी। मनुष्य शरीरको प्रधानता देकर मनसे खोखला तो था ही, अब सम्पत्तिको प्रधानता देकर शरीरसे भी खोखला हो गया है। यह ऐतिहासिक सभ्यताका दिवालियापन है, यद्यपि अन्तः-सारशून्य स्वरमे वह सभ्यता आज भी दर्पोद्धत होकर कहती है—'वीर-भोग्या वसुन्धरा'।

सच तो यह है कि आज आर्थिक स्वार्थोको लेकर ही सामाजिक सम्बन्ध बने हुए है। तन, मन, धन—इन तीनोमे धन ही प्रधान होकर तन-मनका मूल्य निर्धारित करता है; तनको मूल्य देकर वह वेश्याओंका समाज बनाता है, मनको मूल्य देकर गार्हस्थिक समाज। किन्तु दोनोके मूलमे जीवन केवल आर्थिक स्वार्थोका व्यापार-मात्र है। स्पष्ट शब्दोमे, आज मनुष्य सामाजिक प्राणी नही बल्कि आर्थिक प्राणी है। समाज नामकी कोई वस्तु है ही नहीं। आर्थिक हानि-लाभको लेकर परस्पर जुड़ने-टूटनेवाले सम्बन्धोका नाम ही समाज पड गया है। निम्नवर्गसे लेकर उच्च वर्गतक, सभी एक ही पूँजीवादी टाइप-फाउण्डरीमे ढले हुए हैं। टकसालोमे ढले हुए छोटे-बड़े सिक्के यदि मानव-आकार धारण कर एक दूसरेसे स्वार्थ-सङ्घर्ष कर बैठे तो उस सङ्घर्षका जो रूप होगा वही आज शोषित और शोषको तथा दीनो और सम्पन्नोंके सङ्घर्षका है। सिक्कोंके सङ्घर्षसे द्रव्यागारमे जो अशान्ति फैलती वही अशान्ति आज व्यक्तियोके सङ्घर्षसे समाजमे फैली हुई है।

सम्पत्तिवाद और समाजवाद

स्वार्थोंकी विषमता अथवा आर्थिक सङ्घर्षसे उत्पन्न अशान्तिके इस वातावरणमे समाजवादने प्रवेश किया है। शारीरिक और आर्थिक प्रभुत्व-के युगमे पशुबलने कहा था—'वीरभोग्या वसुन्धरा'। समाजवाद जन-बलकी भाषामे कह सकता है—'सर्वभोग्या वसुन्धरा'। सम्पत्तिवाद और समाजवाद दोनो ही वसुन्धराको भोग्य मानते है, अन्तर यह है कि सम्पत्तिवादमे व्यक्ति निरङ्कुश हो जाता है, समाजवादमे नियन्त्रित। हाँ, भोगको प्रधानता दोनोने दी है, इस सम्बन्धमे दोनोका नैतिक धरातल एक है—दोनोंने जीवनके व्यापारोको आचार-विचारकी दृष्टिसे नहीं वल्कि आहार-विहार—रोटी और सेक्स—की दृष्टिसे देखा है। दोनोका माध्यम भी एक है—'मनी'। दोनोका कर्मक्षेत्र भी एक है—ऐन्द्रिक जगत्। किन्तु सम्पत्तिवादसे समाजवाद इस अर्थमे भिन्न हो जाता है कि उसमें व्यक्ति अपने अवयवोकी तरह ही समष्टिसे ग्रथित है, सम्पत्तिवाद जिस मेटीरियलिज्मको लेकर चल रहा है, समाजवाद उसीके लिए 'मीटर' वन जाता है, मानो स्वेच्छाचारिताके लिए सीमाका बन्धन।

समाजवाद सम्पत्तिवादका गर्भजात है। समाजवादी व्यवस्था वर्तमान क्रान्तिके वाद भले ही स्थापित हो, पर उसका जन्म पूँजीवादी व्यवस्थाके गर्भसे ही होगा, अतः वह उसके दोषोसे एकदम मुक्त नहीं हो सकती। वर्तमान अपने पिछले इतिहाससे सर्वथा मुक्त होनेका प्रयत्न भी नहीं कर रहा है।

आजके स्थापित स्वार्थोंके केन्द्र ये है—कीर्त्ति, शक्ति, सम्पत्ति। इनमे मूल-तन्तु है सम्पत्ति, कीर्त्ति और शक्ति इसीके डाल-पात है। स्थापित स्वार्थोंके इन्ही केन्द्रोको लेकर आजका समाज सभ्यताका अभिनय कर रहा है। समाजवाद समझता है कि आर्थिक विषमताके दूर होजाने

पर स्थापित स्वार्थोंके ये केन्द्र टूट जायँगे। किन्तु बात ऐसी नही, आर्थिक विषमताके दूर हो जाने पर भी कीर्त्ति और शक्तिकी प्रतिस्पर्द्धा बनी रहेगी। यही नही, बल्कि आर्थिक प्रतिस्पर्द्धाके लिए अवकाश न मिलने पर सम्पत्तिवादी विकार कीर्त्ति और शक्तिमे ही घनीभूत हो जायँगे। मनुष्यके भीतर जो अधिकार-लोलुपता है, वह कहीं न कहीं अपना केन्द्रीकरण चाहती है, अतएव उसके लिए सम्पत्ति नही तो कीर्त्ति और शक्ति ही अलम् है। सम्पत्तिवादमे वह जिस पशुताको चरितार्थ करता था उसे वह कीर्त्ति और शक्तिमे ही कृतार्थ कर लेगा। इस प्रकार समाजवाद मानवताके लिए कोई नवीन क्षेत्र नही प्रस्तुत करता, बल्कि पशुताके विस्तीर्ण क्षेत्रको ही कुछ सिमटा देता है। अर्थ-लिप्सा जिस प्रकार जीवनकी बहिर्मुखी अभिव्यक्ति है उसी प्रकार शक्ति और कीर्त्तिलिप्सा भी। ये सभी लिप्साएँ जीवनके अतःस्पर्शसे शून्य है, ये ढोलमे पोल हैं, इनमे केवल 'चमडी' ही बोलती है।

समाजवाद आपद्धर्म

असलमे ये लिप्साएँ अर्थ-विकृति नही, बल्कि मनोविकृति है। समाजवाद अर्थ-विकारको दूर कर इन लिप्साओको उसी प्रकार नियमन देना चाहता है जिस प्रकार भोग-लिप्साको सन्तति-निरोधन द्वारा। यह अविकसित समाजके लिए आपद्धर्म हो सकता है, किन्तु स्थायी निदान नही।

अर्थ-विकार तो मनोविकारका सङ्केत मात्र है। प्रतीयमान—मनोविकार—के परिष्कारसे ही प्रतीक—अर्थ-विकार—का भी परिष्कार हो जायगा। इस प्रकार आजकी सामाजिक परिष्कृतिका प्रश्न वैज्ञानिक उतना नही है, जितना मनोवैज्ञानिक। यहाँ मनोविज्ञानसे अभिप्राय

फ्रायड या हैवलाक एलिसके मनस्तत्वोसे नही है, उनमे तो जीव-शास्त्र है। हमारे मनोविज्ञानका अभीष्ट अभिप्राय जीवन-शास्त्र है।

समाजवाद जीव-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र लेकर चल रहा है। सम्पत्ति-वाद और समाजवादमें यह अन्तर है कि एक अपने मेटीरियलिज्ममे मदान्ध वैज्ञानिक है, दूसरा सजग-वैज्ञानिक। इसीलिए समाजवाद पूँजी-वादी दूषणोका तीव्रद्रष्टा है। वास्तविकताकी तीक्ष्ण ज्योतिमे उसने जिन पूँजीवादी विकृतियोको रोटी और सेक्सके रूपमे रखा है उनसे इनकार नहीं किया जा सकता। जिस समाजमे रोटी और सेक्सके लाले पड जायँ, उसका कहाँतक पतन हो चुका है, अपने भावी विकासके लिए हमे समाजवाद द्वारा इसकी सामयिक सूचना मिलती है। कामुकता और कङ्गालीके इस सङ्घर्ष-युगमे समाजवादकी उपयोगिता उसके 'फर्स्ट एड' होनेमे है।

गान्धीवाद स्थायी निदान

किन्तु हमे तो उन गुप्त कारणो तक पहुँचना है जिनसे सङ्घर्षका सूत्रपात होता है। किसी भी समुन्नत राजनीतिक विज्ञान द्वारा मनुष्यकी पाशविक समस्या और उसका पाशविक निदान ही सामने आता है, किन्तु हमे तो मनुष्यकी मानवीय समस्या और उसके मनो-विज्ञानको भी देखना है। यहाँ समस्या राजनीतिकसे सास्कृतिक हो जाती है। यहीं गान्धीवादकी सार्थकता है। पूँजीवादमे विकृतियाँ बाहर-भीतर दोनो जगह बनी रहती है, समाजवादमे बाहरसे लुप्त होने पर भी भीतर गुप्त रहती है, गान्धीवादमे भीतरसे भी लुप्त होकर अपना स्थान सस्कृतिके लिए छोड जाती है।

आजकी सबसे बडी विकृति है—अहङ्कार। कीर्त्ति और शक्ति इस अहङ्कारके प्रच्छन्न रूप है, सम्पत्ति प्रत्यक्ष—प्रतीक—रूप। आजके

आर्थिक युगका प्राणी भीतर पशु है, बाहर मनुष्य। अपनी पाशविक सङ्कीर्णताको उसने चारो ओरसे अपने 'अहम्' मे केन्द्रित कर लिया है—जात-पॉत, अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—सबमें।

आज मनुष्यका पशु—अहम्—कही तो अजीर्ण-ग्रस्त—पूँजीवादी—हो गया है, कहीं क्षुधार्त्त—सर्वहारा। अहम्की तृप्ति-अतृप्तिका सङ्घर्ष ही आजका युग-सङ्घर्ष बना हुआ है। समाजवाद पूँजीवादको समाप्त कर क्षुधार्त्तको तृप्त करना चाहता है। इस प्रकार वह जीवनके किसी नये तत्त्वकी स्थापना नही करता, वह तो अहम्—पशु—के ही निराश्रय वर्गके लिए सामाजिक क्षेत्र प्रस्तुत करता है। समाजवाद अहम् अर्थात् 'मैं' की भावनाका तिरोधान नहीं कर पाता, अतएव पूँजीवादका गुप्त विकार—अहङ्कार—उसमे भी बना रहता है। व्यक्तिवादकी मूल विकृति—स्वरति, आत्मलिप्सा या अहवृत्ति—के शेष रहते समाजवादमे भी व्यक्तिवाद निःशेष नहीं हो जाता। इसी मनोवैज्ञानिक स्तरपर पहुँचकर गान्धीको कहना पडा कि वहाँ भी मनुष्य स्वार्थी—अहसेवी—ही हो गया है। गान्धीवाद स्थापित स्वार्थोंके बजाय स्थापित मनुष्यताका व्यवहार चलाना चाहता है जिसमे मनुष्य स्वभावतः सहयोगी प्राणी है, न कि अपने अहपोषित स्वार्थोंके कारण। स्वार्थपरता मनुष्यकी विकृति (ह्रास) है, विकास (संस्कृति) नहीं। गान्धीवादको यदि विकसित व्यक्तिवाद कहे तो वह इस अर्थमे विकासवान है कि वहाँ व्यक्ति अहम्से ऊपर उठकर मनुष्य बन सका है।

गान्धीवाद 'सोऽहम्' को लेकर चलता है। 'मैं' की जगह 'हम'—अखिल—की चेतना जगाता है। 'सोऽहम्'की चेतनाने ही वन-मानवको सामाजिक मानव बनाया। इस चेतना—संस्कृति—ने अपना मूर्त्त रूप गार्हस्थिक निर्माणमे पाया। नर-नारीने दो-से एक होकर कुटुम्ब

बनाया । वन्य-युगका नर-भक्षी मानव कौटुम्बिक रूपमें इतना सुबोध बन सका कि वह 'स्व' से उठकर 'पर' के लिए अपनापन निछावर करने लगा, यहाँतक कि मनुष्येतर प्राणियोको भी अपने पार्श्वमे स्थान दे सका । इस प्रकार निखिल सृष्टि एकात्म होकर परमात्म-बोधका कुटुम्ब बन गयी । जीवनकी कौटुम्बिक प्रणालीने सारी वसुधाको कौटुम्बिक एकता दे दी । विश्व-जीवन गार्हस्थ्यका ही विराट रूप हो गया । यद्यपि पूँजीवादने आज प्रत्येक व्यक्तिको अपनेमे ही विश्वको सङ्कीर्ण बना लेनेके लिए बाध्य किया है, किन्तु किसी दिन, वैयक्तिक सुख-दुःख जिस प्रकार गार्हस्थिक विस्तीर्णता पा गया था उसी प्रकार गार्हस्थिक सुख-दुःख विश्वकी विस्तीर्णता भी पा गया था । जिसे हम आध्यात्मिक सस्कृति कहते है वह गार्हस्थिक चेतनाकी ही समष्टि-अभिव्यक्ति है । यह अभिव्यक्ति—विश्व-सस्कृति—सुख-दुःखको लेकर नहीं, बल्कि सुख-दुःखकी परिणति—अनुभूति—को लेकर चलती है । अनुभूति ही गार्हस्थिक जीवनमे सहानुभूति बनती है और विश्व-जीवनमे सस्कृति ।

नवीन भौतिक विज्ञान—समाजवाद—इस सामाजिक अनुष्ठानको भिन्न प्रकारसे देखता है । उसकी दृष्टिमे जीवन केवल जड वस्तुओका सङ्घटन मात्र है । पूँजीवाद अपनी दस्युवृत्तिसे इस सङ्घटनका विघटन करता है, इसलिए समाजवादका उससे विरोध है । गान्धीवाद इस सङ्घटनका न तो विघटन करता है, न समर्थन ; वह तो सङ्घटनके आधार—वस्तु—को ही बदल देता है, वस्तुकी जगह चेतनाको स्थापित करता है । वस्तु विकारकी ओर ले जाती है और चेतना सस्कारकी ओर ।

किन्तु भौतिक विज्ञान चेतनाका अस्तित्व ही नहीं मानता, वह सृष्टिको प्राकृतिक उपकरणोंका सयोजन मानता है । इस प्रकार प्राकृतिक सृष्टि मानवीय सृष्टि (मशीन) की तरह ही एक यन्त्रमात्र रह जाती है, जिसके

बिगड़े हुए कल-पुर्जोको समय-समयपर विभिन्न भौतिकवाद—वैज्ञानिक विकास—ठीक करते रहते है। यदि सृष्टि केवल एक वैज्ञानिक निर्माण ही है तो मनुष्य विज्ञान-द्वारा स्वनिर्मित यन्त्रोमे भी वह अन्तस्संज्ञा क्यो नहीं सजीव कर देता जिसके अभावमे यन्त्र केवल यन्त्र है ?

पूँजीवाद इसी यान्त्रिक जडताको लेकर चला आ रहा है। यान्त्रिक जड़ताने समाजमे सैनिक सभ्यताको प्रभुत्व दिया। सैनिक सभ्यताने समाजके गार्हस्थिक संस्थानको छिन्न-भिन्न कर दिया।

गार्हस्थिक संस्थानके पुनर्निर्माणकी ओर

यद्यपि पूँजीवाद भी अध्यात्म—चेतना—का प्रतिष्ठाता होनेका ढोग करता है, किन्तु जैसे उसकी यान्त्रिक जड़ता राजनीतिक विलास बन गयी है वैसे ही उसका अध्यात्म नैतिक-विलास बन गया है, न कि नैतिक विकास। समाजवादने राजनीतिक विलासको राजनीतिक विकासका सिद्धान्त दिया, गान्धीवादने नैतिक विलासको नैतिक विकासका मन्त्र। चूँकि समाजवाद जड़-सभ्यताका ही नव-निर्माण करता है, इसलिए उसमे प्रवृत्तियोकी सैनिक उच्छृङ्खलता बनी रह जाती है। समाजको सैनिक सभ्यताकी नही, बल्कि गार्हस्थिक सस्कृतिकी आवश्यकता है, गान्धीवाद इसीको सुलभ करता है।

समाजवाद आहार-विहार—रोटी और सेक्स—की समस्या हल करता है, गान्धीवाद आचार-विचारकी समस्या। यहाँ आचार-विचारको रूढ विधि-निषेधोमे नहीं, बल्कि सत्-असत्के विवेकमे ग्रहण करना चाहिये। आचार-विचारकी समस्यासे पशु मुक्त है, मनुष्य सम्बद्ध। यही आचार-विचार स्त्री-पुरुषका गार्हस्थिक सूत्र है। इसी सूत्रसे न केवल

स्त्री-पुरुषका गार्हस्थिक जीवन बल्कि सम्पूर्ण गृहस्थोंका सामाजिक जीवन बँधा है। इस जीवन-बन्धनकी रक्षा नारीके ही हाथो होगी क्योंकि वही समाजकी जननी है।

पूँजीवादका अन्त चाहे समाजवाद द्वारा हो या गान्धीवाद द्वारा, किन्तु जिस गार्हस्थिक सस्थानको सम्पत्तिवाद—पूँजीवाद—ने छिन्न-भिन्न कर दिया है उसका पुनर्निर्माण गान्धीवाद द्वारा ही होगा। गान्धीवाद भोगको मनोयोग देता है, समाजवाद भोगको उद्योग। फलतः दोनोके दैनिक प्रयत्नोमे चर्खे और मशीनका अन्तर है, मानो सरलता और जटिलताका। चर्खेमे समाजका रचनात्मक स्वरूप गार्हस्थिक है, मशीनमे व्यापारिक।

एकमात्र समस्याका एकमात्र निदान

समाजवाद भी पूँजीवादसे विरासतमे व्यापारिक सभ्यताको ही ले रहा है; इस सभ्यताके मूलमे ही लोभ समाया हुआ है। सम्पत्तिवादमे जैसे शक्ति और कीर्त्ति प्रच्छन्न है, वैसे ही लोभमे हिंसा और अन्याय। इस तरह तो स्थापित स्वार्थोंका अन्त होनेका नहीं, आये दिन नये-नये आर्थिक युद्धोका प्रादुर्भाव होता रहेगा। अतएव, आजकी एकमात्र समस्या है—प्रलोभनोसे ऊपर उठना।

समाजवादके सामने आज जैसे आर्थिक विषमता प्रत्यक्ष है, वैसे ही एक दिन उसके सामने लोभकी विषमता भी प्रत्यक्ष होगी। उसी दिन उसे गान्धीवादकी ओर उन्मुख होना होगा। सत्य और अहिंसाको अपनाकर समाजवाद ही तो गान्धीवाद हो जायगा। सत्य और अहिंसाको अपना लेने पर उद्योगके उपादान भी सुष्ठु हो जायँगे।

सत्य और अहिंसा द्वारा मानवताके कर्त्तव्योके लिए मनुष्य बिना किसी वैधानिक बन्धनके स्वतः प्रेरित होता है। इसीलिए गान्धीवाद

आचार-प्रधान है, जब कि समाजवाद प्रचारात्मक अधिक। काग्रेसी सरकारोके समयमे साम्प्रदायिक दङ्गोकी शान्तिके लिए पुलिसकी सहायता लेनेकी महात्माने जो भर्त्सना की थी, उसका अभिप्राय यही था कि काग्रेसी सरकारे लोक-शासनके पूर्व आत्मानुशासन---सत्य और अहिंसा---नहीं ग्रहण कर सकी थी, गान्धीवाद पदाधिकारियोके जीवनमे घुल-मिल नहीं सका था; काग्रेसका नैतिक प्रभाव वे अपनेमे उत्पन्न नहीं कर सके थे। वे तो गान्धीवादके अपूर्ण मनुष्य थे, आरम्भिक कार्यवाहक थे। अभी ऐसे कितने ही अपूर्ण व्यक्तित्वोके बाद गान्धीवादमे क्रमशः पूर्ण व्यक्तित्व प्रकट होगे।

मार्क्सवाद मानता है कि समष्टिवादके स्टेजपर पहुँचने पर सरकार, सेना और पुलिसके शासनकी आवश्यकता नही रह जायगी। किन्तु बिना सत्य और अहिसाके यह कैसे सम्भव है? अराजकता केवल राज-तन्त्रके विघटनमे नहीं है। अराजक वही हो सकता है जिसमे आत्मनिग्रह हो। जबतक मानसिक प्रवृत्तियोकी अराजकताको हम नियमन नहीं दे पाते तबतक बाहरकी अराजकता निराधार है। सत्य और अहिंसा मनके वही नियमन हैं। इन्हे अपना लेने पर ये मनुष्यके स्वनिर्मित कानून बन जायँगे। इन्हींके द्वारा समाजवादका अभीष्ट-उद्देश्य व्यक्तिका स्वतः प्रेरित आचरण बन जायगा।

सत्य और अहिंसाको अपना लेने पर धनी और निर्धनका प्रश्न ही नहीं रह जाता, क्योकि तब तो प्रवञ्चना और प्रलोभनका ही अन्त हो जाता है। मानवताके इसी स्तरपर महात्माको सम्बोधित कर कविगुरु रवीन्द्रनाथने कहा है—

'गान्धि महाराज, तोमार शिष्य
कोउ वा धनी, कोउ वा निःस्व।'

जबतक प्रवञ्चना और प्रलोभनका आन्तरिक मूलोच्छेदन नहीं होगा तबतक समाजवादमे भी विषम स्थिति बनी रहेगी। हमारी मूलभूत आवश्यकता है मानसिक परिष्कार; सत्य और अहिंसासे ही मानसिक परिष्करण हो सकता है।

समाजवादमे व्यक्तिका सबजेक्टिव पहलू आवजेक्टिव बन जाता है, गान्धीवादमे आवजेक्टिव भी सबजेक्टिव ही बना रहता है। इस स्थितिमे व्यक्ति समाज नहीं, बल्कि समाज ही व्यक्ति हो जाता है। एक ही-जैसे आत्मनिर्माणमे निर्मित व्यक्तियोका समूह जहाँ समाज बनता है वहाँ एक व्यक्ति भी अपनेमे पूर्ण समाज रहता है। साधारण दिनचर्या अलग-अलग हो सकती है, किन्तु सबके जोवन-निर्माणका सूत्र एक ही होनेके कारण अनेकमे एक और एकमे अनेककी अभिव्यक्ति रहती है। इसीलिए गान्धीवादमे व्यक्ति और समाज भिन्न नहीं, बल्कि वैयक्तिक साधना ही सार्वजनिक साधना बन गयी है।

साध्य और साधन

गान्धीवादमे व्यक्ति कर्त्तव्यके लिए स्वतः प्रेरित होता है, क्योंकि कर्त्तव्यके लिए उसे पहिले मानसिक परिष्करणकी भूमि—सत्य और अहिंसा—प्रस्तुत कर लेनी पडती है। किन्तु समाजवादमे व्यक्ति कर्त्तव्यके लिए शासन द्वारा विवश होकर प्रेरित होता है। यही यह स्पष्ट हो जाता है कि गान्धीवाद अन्तःकरण—आत्मनीति—की ओर है, समाजवाद वाह्यकरण—राजनीति—की ओर। अपने पूर्ण विकासमे भी समाजवाद राजनीतिकी सीमा पार नहीं कर पाता। वाह्य शासनकी विवशतासे प्रेरित मनुष्य कर्त्तव्यके प्रति आत्मनिष्ठ नही हो सकता। गान्धीवाद कर्त्तव्यके लिए अन्तर्भूमि—आत्मनिष्ठा—पहिले प्रस्तुत करता

है, अन्यथा कर्त्तव्य बिना नीवका निर्माण रह जायगा। कर्त्तव्य तो बाह्य रूप है, गान्धीवाद उसका केन्द्रीकरण—अन्तर्बोध—करता है। इसीलिए जहाँ समाजवाद प्रचारप्रधान है, गान्धीवाद आचारप्रधान। जैसी नींव होती है, वैसा ही कर्त्तव्य भी होता है; इसीलिए गान्धीवादमे सत्य और अहिसा साध्य भी है, और वही साधन भी।

मार्क्सवाद अपने जिस दूसरे स्टेज—कम्यूनिज्म या समष्टिवाद—पर कर्त्तव्यको शासन-रहित स्वयं प्रेरणाकी स्थितिमे उपस्थित करता है, गान्धीवाद उसे शुरूसे ही उसी स्टेजपर अग्रसर करता है। बल्कि यो कहे कि मार्क्सवादका जो आखिरी स्टेज है वह गान्धीवादका अन्तिम नहीं, अपितु, आरम्भिक स्टेज है। गान्धीवादकी अपेक्षा मार्क्सवाद अपनी वैज्ञानिक पद्धतिमे वास्तविक अधिक जान पड़ता है। किन्तु विज्ञानका सापेक्षवाद ही सृष्टि-क्रमका अन्तिम सत्य है, यह माननेमे आइन्स्टीनको भी दुविधा है। उसकी अन्तर्जिज्ञासा बुद्ध, ईसा और गान्धीको समझनेमे शिशु हो जाती है। गान्धीवाद स्वाप्निक अवश्य है, इसीसे यह भी सिद्ध है कि वह निरवधि है; किसी युग या कालमे पर्यवसित नहीं, वह सृष्टिके अनन्त छोरपर है। क्या हर्ज है यदि उसके स्वप्न हजारो-लाखो वर्षमे भी मूर्त्त न हो, सृष्टिका अन्त इतनेसे ही तो हो नहीं जाता। हम युग-स्वार्थी ही न बने, बल्कि असख्य पीढ़ियोके भविष्यके प्रति भी शुभेच्छु रहे। मार्क्सवाद तो एक राजनीतिक प्रयोग है जो अपनी वैज्ञानिक यूटोपियाके साथ कोर्टशिप करता है, यदि कालावधिमे वह सफल भी हो जाय तो कौन कह सकता है कि फिर कोई ऐतिहासिक उपराम नयी व्यवस्थाके लिए समाजवादी व्यवस्थाको भी राजनीतिक तलाक नहीं देना चाहेगा, जैसे आज पूँजीवादी व्यवस्थाको दे रहा है। इस चाहने और पानेकी अन्तिम सन्तुष्टि कहाँ है?

अन्ततोगत्वा, मार्क्सवाद राजनीतिका नव-निर्माण करता है, गान्धीवाद सस्कृतिका। जबतक पाशव-मनुष्य सत्य और अहिंसासे सुसस्कृत नहीं हो जाता तबतक ससारमे सस्कृति बन ही नही सकती। किसी भी वादमे विकृतियॉ, चाहे वे कितना ही नवीन ऐतिहासिक रूपान्तर पा जायॅ, कभी सस्कृतिका अभाव पूर्ण नहीं कर सकेगी। सत्य और अहिंसामे ही सस्कृतिके रुख-मुखका रुझान है।

सम्प्रति मार्क्सवादकी सार्थकता यह है कि वह इस जड़-युगकी स्थूल दृष्टियोको [illegible] वस्तुओ द्वारा समताका पदार्थ-पाठ उसी प्रकार दे सकता है, जिस प्रकार प्रारम्भिक शिक्षामे छात्रोको सचित्र वर्णमाला द्वारा अक्षर-ज्ञान कराया जाता है। इस प्रकार गान्धीवादकी उच्च शिक्षाके लिए—समुन्नत सामाजिक सस्कारके लिए—मार्क्सवाद समष्टि-चेतनाका साधारणीकरण कर देता है।

समाजकी सामयिक परिस्थितिमे मार्क्सवाद युग-धर्म—आपद्धर्म—है, गान्धीवाद मानवकी मनःस्थितिका सनातन—शाश्वत—धर्म। ईश्वर, सत्य और अहिंसा इस सनातन धर्मके अङ्ग हैं।

आस्तिकता और उसकी उपलब्धि

ईश्वर और कुछ नहीं, वह तो बहिर्मनका विनम्र अथवा निरभिमान अन्तःकरण है। अपने भीतर अहङ्कारका न होना, अपने प्रयत्नोमे समष्टि-की एकरूपता बनाये रखना, यही तो आस्तिकता है। यही आस्तिकता कर्मको सुष्ठु बनाती है; ऐसे कर्ममे सत्य, शिव, सुन्दरका एकत्व रहता है।

जहॉ अहङ्कार है वहॉ कर्मका रूप आत्मलोभी किंवा आक्रोशी, परपीडक एव जय-पराजयकी प्रवञ्चनासे ग्रस्त और सन्तप्त रहता है।

इसीलिए आस्तिकता—निरभिमान कर्मण्यता—मे अहङ्कारका विसर्जन अथवा आत्मोत्सर्गका उन्नयन है। महात्माका यह प्रिय भजन—

'वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीड़ पराई जाणे रे,
परदुःखे उपकार करे तोए मन अभिमान न आणे रे!'

—आस्तिकताकी व्याख्या कर देता है। इसी आस्तिकताकी उपलब्धिके लिए रवि ठाकुरकी यह प्रणति है—

'सकल अहङ्कार हे आमार डुबाओ चोखेर जले।'

जब हम इस आस्तिकताको हृदयङ्गम कर लेते है तब सत्य और अहिंसाकी अनुभूति भी हमारे लिए सुगम हो जाती है। सत्य याने जीवनके निर्विकार रूपको व्यवहृत करना; अहिसा याने मात्सर्य-रहित होकर आचरण करना।

हिसा और अहिंसाकी सीधी-सादी परिभाषा यह है—
अहिंसा वहॉ है जहॉ न्याय और समवेदना है।
हिसा वहॉ है जहॉ अन्याय और निरर्थक परपीड़न है।
इस प्रकार हिंसा-अहिसाके विवेकमे विभ्रमकी गुञ्जाइश नही रह जाती।
अहिसकमे न्यायका बल होता है इसलिए वह निर्भय होता है।

हिंसक अन्यायकी नश्वरतापर खड़ा होता है इसलिए वह बाहरसे दुर्दान्त, भीतरसे दुर्बल रहता है—आत्मबल-रहित। वह दूसरोंको मिटानेके पहिले खुद मिट जाता है, बारूदकी तरह। हिसक प्रतिशोध—विष—लेकर चलता है, अहिसक प्रायश्चित्त—अमृत। इस दिशामे अहिंसक अपने प्रति निर्मम, दूसरोके प्रति ममतालु होता है। न्यायनिष्ठ अथवा निष्पक्ष वही हो सकता है जो अपने प्रति निर्मम हो सके। जो अपने प्रति निर्मम—निष्पक्ष—नही हो सकता वह किसीके प्रति न्याय नहीं कर सकता।

'परदुःखे' उपकार करे'—इस कथनसे समाजवादियोका मतभेद हो सकता है क्योकि उनकी दृष्टिसे समाजकी साम्यस्थितिमे न कोई उपकारी होगा, न उपकृत ; सब जीवनकी उपलब्ध सामग्रियोके समभोगी होंगे। किन्तु सुख-दुःख केवल वस्तुगत नहीं, वल्कि प्राणीके मृन्मय-अस्तित्वसे चिरसम्बद्ध है, वहीपर उपकारी वृत्ति—सेवाधर्म—की भी आवश्यकता बनी रहेगी।

मार्क्सवादके दो स्टेज हैं—सोशलिज्म (समाजवाद) और कम्यूनिज्म (समष्टिवाद)। यदि मार्क्स जीवित होता तो वह समष्टिवादके भी आगेके स्टेज सर्वोदयवाद—गान्धीवाद—को स्वीकार करता। समाजवादसे समष्टिवादमे पहुँच जाने पर भी राजनीतिक अनुशासनका अन्त नहीं हो जाता, मनुष्य उसमे विवश कर्त्तव्य-परायण बना रहता है, स्वतः प्रेरित नहीं। कर्त्तव्यके प्रति जो आत्मीयता होनी चाहिये वह तो सर्वोदयवादमे ही जगती है।

मार्क्सवाद तार्किक है, गान्धीवाद जिज्ञासु, इसीलिए वह बोधवादी है। तर्कमे ग्राध्यता है, बोधमे हृदयङ्गमता। मनुष्य जब कर्त्तव्यको हृदयकी सहज प्रेरणासे अङ्गीकार करता है तब उसमे उसकी आत्मनिष्ठा आ जाती है। बोधवाद हृदयकी इसी सहज प्रेरणाको जागरूक करता है। एक दिन फिर बोधवाद ही दिग्विजयी होगा। हम आशावादी है—

'भू-से नभतक बोधिवृक्षकी
हरी टहनियाँ लहरायेंगी,
जिनकी विश्वव्यापिनी छाया
शीतल अञ्जन बन मानवके
उरके दग्ध दृगोंमें सो जायेगी।'

रवीन्द्रनाथ

[१]

स्वर्ग धराके मध्य हिमाचल-से स्थित निश्चल
स्वर्णाभासे मण्डित उन्नत भाल यशोज्ज्वल
दश दिशि सिन्धु-वीचि-अञ्जलि-जल-चुम्बित पदतल
शत प्रणाम हे भारतके चिर कीर्ति-स्तम्भ-बल !

निस्तल मानससे निःसृत स्वर-सुरधुनि अविरल
उर्वर करती अखिल अवनिका सुषमित अञ्चल
शत शत वर्ण, गन्ध, शत शत कलि, मुकुल, कुसुम कल
देते नित मधुदान मुग्ध दश दिशिके अलिदल । —पन्त

ऐसा ही था महोच्च उनका व्यक्तित्व ! और वह व्यक्तित्व विश्वके मनोहरतम कवित्वसे मण्डित था । वे देशके अन्य व्यक्तित्वोके बीच व्यक्तित्वोकी शोभा थे—कवीर्मनीषी ।

वे जन्मजात कवि थे । जबसे उनकी तुतलाहट टूटी, शब्दोंमे, संस्कारोमे, व्यवहारोमे वे अपनी प्रतिभाका दान करते रहे—८२ वर्षके वयतक । ८२ वर्ष, प्रायः एक शताब्दी—कालका एक विन्दु जिसमे वे अपने पिछले सभी युगोका स्वच्छतम प्रतिबिम्ब प्रतिफलित कर गये ।

समाजवादी समीक्षकने उनके देहान्तपर लिखा—'एक महान बौद्धिक परम्पराका अन्त !'—किन्तु उस परम्पराका अन्त नही हो गया, महात्मा गान्धीके व्यक्तित्वमे वह अन्य रूपमे भी विद्यमान है ।

भारतके आधुनिक इतिहासने जीवनके दो तटोपर जिन दो दिव्यात्माओको स्थापित किया वे ही है गान्धी और रवीन्द्र । ये युग्म व्यक्तित्व

युगोके आर्ष भारतके अबतकके निचोड़ है—श्रेय और प्रेय, सत्य और सौन्दर्य। पिछली परम्परामे गान्धी सत्यके सन्त हैं, रवीन्द्र सौन्दर्यके शिल्पी। निर्गुणकी परम्परा गान्धीमे है, सगुणकी परम्परा रवीन्द्रमे।

ऐश्वर्य और कवित्वका सम्मिलन

रवीन्द्रनाथ राजपुरुष थे। हमारे देशमे वैभवशालियोके बीच कलाकार नही, कला-प्रेमी उत्पन्न होते रहे है। कविराज थे, राजकवि थे, किन्तु वे स्वयं राजा नही थे। कवित्वका वरदान पाकर भी पराश्रयका अभिशाप उनके साथ था। राज-पुरुष रवीन्द्रनाथके रूपमे उस अभिशापका मोचन हुआ। कालिदासको राजकवि होनेकी आवश्यकता नही पडी, विक्रम स्वय कालिदास हो गये। पहिले ऐश्वर्य—वैभव—अलग था, सौन्दर्य—कवित्व—अलग। ऐश्वर्य सौन्दर्यके प्रति मुग्ध था, सौन्दर्य ऐश्वर्यके प्रति प्रणत, रवीन्द्रनाथमे अर्द्धनारीश्वरकी भाँति दोनों एक हो गये।

वे साहित्यिकोमे महाराज थे। लक्ष्मी उनके चरणोमे थी, सरस्वती उनके कण्ठमे। उनके जीवन द्वारा सम्पन्नवर्गका गौरव बढा, किन्तु साधारण वर्गको वे अभिशाप-मुक्त न कर सके। फलतः उनके कलाकुमार—साहित्यिक सन्ततियाँ—उनकी-जैसी निश्चिन्ततासे कलाकी उपासना न कर सके। जिनका यौवन जीवनके ठोस अभावोमे असमय ही मुरझा गया वे रवीन्द्रनाथके छायावादसे समाजवादमे चले गये। यदि रवीन्द्रनाथका जन्म साधारण वर्गमे होता तो उनके जीवनका भी लालित्य असमय ही अस्तमित हो जाता। उनका जीवन यह दृष्टान्त सुलभ करता है कि कलाकारको यदि लौकिक विभूतियोसे निश्चिन्त कर

दिया जाय—और किसी अदृश्य भविष्यमे यदि वह निश्चिन्त हो सका—तो वह कितने मुक्त कण्ठ, मुक्त हृदय और मुक्त प्राणसे कलाको रूप, रङ्ग और वाणी देगा। वैभवकी विषम व्यवस्थामे भी रवीन्द्रनाथको जो सौकर्य प्राप्त हुआ वही सौकर्य किसी सुषम भावी व्यवस्थामे प्रत्येकको प्राप्त होना है। अपनी सुसम्पन्न सामाजिक स्थितिके उत्तरदायी रवीन्द्र-नाथ नहीं हैं, वे निर्दोष है। पञ्जाब-हत्याकाण्डके प्रतिवादमे जैसे वे अपना 'सर' का खिताब छोड सके थे वैसे ही वे विषम-सामाजिक व्यवस्थाके प्रतिवादमे अपने वैभवको भी छोड सकते थे, टाल्स्टायकी तरह। किन्तु वे किसके लिए छोडते?—क्या अपने उत्तराधिकारियोंके लिए? तब, इससे वर्तमान विषमतामे क्या अन्तर पड़ता? हॉ, देशके लिए उसे छोड सकते थे। देशके लिए तो उन्होने उसे विसर्जित ही कर दिया था, शान्ति-निकेतनके रूपमे। वर्तमान सम्पत्तिवादी समाज-व्यवस्थामे अपनी चैतन्य-इकाईसे वे जितना आगे बढ़ सकते थे, बढ़े। निःसन्देह वे इकाई ही नहीं, महा-इकाई थे।

जीवन-निर्माणके लिए मॉडल

जीवन-निर्माणके लिए प्रत्येक स्रष्टाका अपना एक 'मॉडल' होता है। एक 'मॉडल' महात्मा गान्धीके सेवागॉवमे है तो एक 'मॉडल' रवीन्द्रनाथके शान्ति-निकेतनमे। सेवागॉवके मॉडलमे तत्त्व है, शान्ति-निकेतनके मॉडलमे कवित्व; सेवागॉवमे निर्गुणका निषेध है, शान्ति-निकेतनमें सगुणका अभिषेक; एक वीतराग है, दूसरा सानुराग। पाशविक एषणाऍ जब मनुष्यको ढँक लेती हैं तब उसके हियेकी ऑखे खोलनेके लिए निर्गुणवाद है, अन्धनेत्रोंके प्रति वह तपःकठोर निषेध लेकर चलता है। और सगुणवाद?—

प्रकाशमान नेत्रोके सम्मुख जीवनके ऐश्वर्य और सौन्दर्यका काव्यी-कलित रूप उपस्थित करता है। इस तरह निर्गुण ही सगुणको सुलभ कर सकता है। यह ठीक है कि शान्ति-निकेतनका कवित्व सर्वसुलभ नहीं है, किन्तु यदि वह आज सुलभ नही है तो भविष्यमे भी सुलभ नहीं होगा—इसका क्या निश्चय ? रवीन्द्रनाथ कल्पक-कलाकार थे, जो आज नहीं है उसीकी 'यूटोपिया' वे दे गये है। शान्तिनिकेतन यदि उनके मॉडलको अक्षुण्ण न रख सका तो भी उनकी 'यूटोपिया' मरेगी नहीं, क्योकि वे क्षण-भङ्गर कलाकार नहीं थे।

तो, सेवाग्राम रुग्ण जीवनका आध्यात्मिक आरोग्य-मन्दिर है, शान्ति-निकेतन स्वस्थ जीवनका कला-भवन। ये दोनो दूरके स्वप्न इसलिए जान पड़ते है कि समाज न तो निर्गुणकी ओर है, न सगुण-की ओर, वह है दुर्गुणकी ओर। दुर्गुण-मानव इतना दुर्मुख हो गया है कि उसकी कुरूपताके प्रति निराश होकर नवीन-भूतवाद—समाजवाद—वैज्ञानिक उपचार चाहता है। वह समाजकी सर्जरीमें विश्वास करता है। फलतः समाजवादी सेवाग्राम और शान्ति-निकेतनकी अपेक्षा किसी 'मेडिकल हॉल' का मूल्य अधिक लगायेगा। आश्रमो और निकेतनोके बजाय उसका केन्द्र है कैम्प, और आजकी समस्याओके बीच अपनी स्पिरिटमे है वह कैम्प-फायरिस्ट। वह सैनिक मनोवृत्तिका ही नव-सन्तुलित प्रतिनिधित्व करता है।

समाजवादके सामने है गान्धीवाद। रवीन्द्रनाथ बीचमे छूट जाते है, उनके नामपर कोई 'वाद' नहीं है; यदि है तो छायावाद। साहित्यकी अनुभूतिशीलता उनमे केन्द्रित थी, समाजकी क्रियाशीलता महात्मा गान्धीमे। जहाँ क्रियाशीलता होती है वहीं शक्ति उत्पन्न होती है।

रवीन्द्रनाथमे शक्ति नहीं, अनुरक्ति थी; उनकी अनुरक्तिमे 'गान्धी महाराज'* के लिए श्रद्धा थी।

महात्माजीसे मतभेद

अवश्य ही उनमे अन्ध-अनुरक्ति नहीं, एक सजग-गुण-ग्राहकता थी; इसीलिए खादी-आन्दोलनके सम्बन्धमे महात्माजीसे उनका मतभेद था। खादी-आन्दोलनमें राष्ट्रीय स्वावलम्बनका दृष्टिकोण कविगुरुको सङ्कुचित जान पड़ा, उन्होने अपनी कवित्वपूर्ण भाषामे कहा—'खादीमे हार्मनी नहीं है,' अर्थात् उसका एक सूत पतला, एक सूत मोटा हो जाता है। इस तरह एक ओर अपने राष्ट्रके लिए मनोरम होकर दूसरी ओर प्रतिपक्षी राष्ट्रके लिए खादी विषम हो जाती है, इससे विश्वप्रेमका सन्तुलन स्खलित हो जाता है। कविवर विश्वप्रेमके गायक थे। वे भावुक थे, खादीमे उन्हे विश्वप्रेमका अभाव दीख पडा। किन्तु खादीमे राजनीतिक दृष्टिसे चाहे हार्मनी न हो, नैतिक दृष्टिसे उसमे मानवके प्रयत्नोके साथ उसकी आत्माका सामञ्जस्य है। वह मनुष्यको बिना किसी प्रतिस्पर्द्धाके विषमतासे सरलताकी ओर ले जाती है। बडे पैमानेपर यदि अन्य देश भी इसी प्रकार लक्ष्यवान हो सके तो आर्थिक एवं राजनीतिक विश्वप्रेम बाह्य न होकर आन्तरिक हो जाय। खादी तो एक निर्देशन है।

महात्मा गान्धीने खादीकी बेमेल-बुनावटमे ही एक पीड़ित राष्ट्रकी ओर विश्वको आकर्षित कर लिया। जिस जनता-जनार्दनको लेकर वे चले उसके सम्मानको उन्होने संरक्षित कर दिया, किन्तु कविगुरु अपने संसार—

---

* कविवरने इसी शीर्षकसे गान्धी-व्यक्तित्वके अनुरूप एक सहज सुन्दर कविता लिखी है।

साहित्यिकोके संसार—को संरक्षित न कर सके । अपने कीर्ति-शिखरपर वे साहित्यिकोके प्रजापति थे, किन्तु अपनी प्रजाओ—कलाकुमारो—का पालन वे न कर सके । हॉटप्रेसके नीचे दबी पुस्तककी भॉति कलाकारो-को पूँजीवाद दबाये हुए है। फिर भी पुस्तकोका तो कुछ साहित्यिक मूल्याङ्कन हो जाता है, उससे कलाकारोको कुछ गौरव भी मिल जाता है, किन्तु कलाकारोके जीवनका मूल्य उतना भी नहीं है जितना उनकी पुस्तकोका । निःसन्देह रवीन्द्रनाथ जितने वैभवशाली नहीं थे उससे अधिक प्रतिभाशाली थे । किन्तु पूँजीवादकी जडतासे ग्रस्त यह देश यदि प्रतिभाको समझ सकता तो अन्य प्रतिभाशालियोंको भी सम्मान देता । स्वय रवीन्द्रनाथको वार्द्धक्यमे शान्तिनिकेतनके सहायतार्थ भ्रमण न करना पड़ता । यह अभिशप्त देश आध्यात्मिकताके नामपर जैसे देवताओ-की पूजाका ढोग करता है, वैसे ही प्रतिभाके नामपर अपने कलाकारोके सम्मानका । असलमे यह शक्ति और वैभवकी पूजा करता है , अपनी तामसिकतासे सशङ्क होकर कभी-कभी सात्विकताका भी अभिनय कर लेता है । वस्तुस्थिति यह है कि हमारे कलाकुमार कलमकी निबसे अपने रक्तका इञ्जेक्शन देकर भी जीनेके साधनोसे वञ्चित रह जाते है । उनके रक्तसे कागज तो सजीव हो जाता है किन्तु स्वतः वे जीवन्मृत हो जाते है । अन्य समस्याओकी तरह साहित्यिकोकी जीवन-समस्या अथवा जनताकी कला-चेतनाकी समस्याको भी भविष्यमे गान्धीवाद और समाज-वादकी तरुण शक्तियॉ ही हल करेंगी ।

कविगुरु साहित्यको वाणीके स्वर और लयका सामञ्जस्य दे सके, किन्तु समाजको जीवनका सामञ्जस्य न दे सके । जिस विश्व-सौन्दर्यके वे उपासक थे उसीके उपासक अन्य कलाकार भी है, किन्तु दोनोके सामाजिक अवस्थानोमे कितना अन्तर है ! वे

कवि-सम्राट् ही नहीं, बल्कि सम्राट्-कवि थे, ठीक शाहजहाँकी तरह, जिसकी यशोज्ज्वल कृति ('ताजमहल') को लक्ष्य कर उन्होने कहा—

हे सम्राट कवि,
एइ तव हृदयेर छवि
एइ तव नव मेघदूत
अपूर्व अद्भुत ।

इसी प्रकार उनकी भी कलाको लक्ष्य कर उन्हे सम्बोधित किया जा सकता है ।

जीवन और कलाका समन्वय

साहित्यकी रचना कवि रवीन्द्रनाथने की, समाजकी रचना महात्मा गान्धीने । एक कलाके सामञ्जस्यकी ओर है, दूसरा जीवनके सामञ्जस्य-की ओर । दोनोमे ताजमहल और खादीका अन्तर है । जीवनके सामञ्जस्यके लिए महात्मा गान्धी कलाके सामञ्जस्यकी उपेक्षा कर देते है, रवीन्द्रनाथ कलाके सामञ्जस्यके लिए खादीके प्रति आलो-चक हो जाते है, ताजमहलके प्रति मुग्ध । हमारी स्थिति यह है कि हम अपने अभावोमे केवल कलाकी उपासना नहीं कर सकते, भारतका सांस्कृतिक प्राणी होनेके कारण जीवनके सामञ्जस्यके लिए अनि-वार्यतः हमे गान्धीवाद अभीष्ट है । किन्तु हम केवल लोकजीवी ही नहीं, भावजीवी भी है; अतएव रवीन्द्रनाथसे कलाका कन्सेशन भी ले लेते है । जीवन हम गान्धीवादसे ग्रहण कर सकते हैं, किन्तु साँस किसी कलाकारकी वशीसे ही ले सकेंगे ।

जीवनके लिए कुछ मायाकी भी जरूरत है—सत्यको ढँक देनेके लिए नहीं, बल्कि सत्यको सौन्दर्य देनेके लिए । कलाका ही दूसरा

नाम माया है। रवीन्द्रनाथने कलात्मक सत्य दिया, इसीलिए वह स्वभाव-सुन्दर है। जिस मायाको अपनाकर कलाकार सत्यको सुन्दर बना देता है उसी मायाको अपनाकर तामसिक-प्रवञ्चक सत्यको कुरूप कर देता है, और प्रतिक्रियामे सात्विक साधक अरूप। रवीन्द्रनाथ कुरूप और अरूपके बजाय सुरूपकी ओर है।

बापूने सत्यको सीधे शिवत्व तक पहुँचाया ; रवीन्द्रने शिवत्व तक पहुँचनेके लिए सौन्दर्यको माध्यम बनाया।

तो, रवीन्द्रनाथने कलात्मक सत्य दिया, बापूने कला (माया)-रहित सत्य। रवीन्द्रनाथके सत्यमे वासन्तिकता है, बापूके सत्यमे शारदीयता ; वे जीवनका शुभ्रतम छन्द—सयम-नियम—लेकर चले है।

जब हम कहते है कि रवीन्द्रनाथने कलात्मक सत्य दिया, बापूने कला-रहित सत्य, तब इसके माने यह कि रवीन्द्रका सत्य सङ्कल्पात्मक है, बापूका सत्य निर्विकल्प। किन्तु सत्य जब विकल्पात्मक हो जाता है तब उसमे तामसिक कुरूपता आ जाती है, रियलिज्मके नामपर साहित्यमे प्रायः यही तामसिकता सत्य बन गयी है। हमें या तो कलाकारका सङ्कल्पात्मक सत्य चाहिये, या सन्तका निर्विकल्प सत्य। और यहीं गान्धीवादका निषेध तामसी मायाके प्रति होना चाहिये, न कि कलाकारके कलात्मक—सौन्दर्यात्मक—सत्यके प्रति। कलात्मक सत्य जीवनका राजयोग है।

गान्धी और रवीन्द्रमे बाह्यतः दृष्टि-भेद होते हुए भी अपने अभ्यन्तरमे दोनो मूलतः वैष्णव है—जीवनकी कोमल-निर्मल अभिव्यक्तियोके उन्नायक। इसके लिए रामकी आत्माहुति गान्धीका लक्ष्य है, कृष्णकी तटस्थ-सहृदयता रवीन्द्रका लक्ष्य। यद्यपि लोक-सग्रह दोनोमें है, किन्तु

एकमे व्यक्ति और लोक अभिन्न है, दूसरेमे भिन्न। गान्धीवाद व्यक्तियोको तो हिंसा नही करता किन्तु व्यक्तित्वोको मिटा देता है। रवीन्द्रनाथ व्यक्तित्वको बनाये रखते है। 'गिरिधर' मे जैसे कृष्णका लोकत्व है और 'मुरलीधर'मे उनका व्यक्तित्व, वैसे ही विश्व-प्रेममे रवीन्द्रनाथका लोकत्व है और सौन्दर्य एवं माधुर्यमे उनका व्यक्तित्व।

[२]

आर्ष भारतके अर्वाचीन कवि

रवीन्द्रनाथ आर्ष भारतके अर्वाचीन कवि थे। वे ऐसे युगमे उत्पन्न हुए जब कि उपनिषद्-कालका भारत इतिहासकी अनेक सुरङ्गो-को पार कर अंग्रेजी साम्राज्यके प्रभावमें पहुँच गया। वह भारत जिनके द्वारा व्यक्तित्वमे तो नहीं, किन्तु अभिव्यक्तिमे नवीन हो गया उन्हींमे रवीन्द्रनाथ है। उन्होने प्राचीन भारतको कलाकी आधुनिकता दे दी है। 'भानुसिंह-पदावली' मे उन्होने जिस तरह पुराने स्वरोंको नयी ट्यून दी, उसी तरह भारतको नवीन अभिव्यक्ति। यूरोप-प्रवासकी भाँति कलाकी यह आधुनिकता रवीन्द्रनाथके साहित्यका बाह्य अङ्ग है, अन्तरङ्ग नहीं। कला उनकी प्रवासिनी है, आत्मा है उनकी गृहवासिनी—भारतीय। उनका सम्बन्ध केवल भारत अथवा बङ्गालसे होता तो उनकी अभिव्यक्ति-योका स्वरूप कुछ और होता, जैसे शरच्चन्द्रमे। किन्तु भारतीय होकर भी जितने अशमे रवीन्द्रनाथ ब्राह्म-समाजी थे उतने अशमे उनकी अभिव्यक्तियाँ भी आधुनिक हो गयीं। उन्होंने राष्ट्रीय भारतकी नहीं, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय भारतकी कला दी।

अपनी आधुनिकतामे रवीन्द्रनाथ एकदम समुद्र-पारसे भारतमे नहीं आये थे, बल्कि भारतीय संस्कृतिके पुराकालीन प्राकृतिक स्तम्भ हिमालयके

शिखरोको नमस्कार कर उपनिषद-युग, पौराणिक युग, बौद्ध युग, हिन्दू-युग, मुस्लिम युग और आरम्भिक आग्ल युगको स्पर्श करते हुए वे समुद्र-पार गये थे। इतने युगोंके निर्माण थे रवीन्द्रनाथ। आर्य युगने उन्हे सस्कृति दी, आग्ल युगने अभिव्यक्ति। इस नयी अभिव्यक्तिकी शैली है—छायावाद, भावात्मक रचनाकी भावात्मक शैली। उसमे मध्ययुगके कलावादियोकी आधुनिक कलात्मकता है। पक्के उस्तादी गानोसे सङ्गीतको उबारकर रवीन्द्रने जैसे उसे नयी स्वरलिपि दी, वैसे ही भक्तिकाव्यको नूतन शैली। इस तरह सङ्गीत और काव्यको उनसे नव-जीवन मिला है।

अपने विशद कवित्वसे रवीन्द्रनाथने भारतीय साहित्यको निःसन्देह एक युग दिया है—छायावाद-युग। साहित्यमे उन्हींसे मध्ययुगको नवचेतना मिली है। अपनी दीर्घायुमे वे एक शताब्दीके साहित्यिक उत्कर्षके जीवित इतिहास थे। १९ वी सदीमे ही वे २० वीं सदीकी साहित्यिक कलाके प्रथम प्रतिनिधि होकर आ गये थे।

रवीन्द्र युग और गान्धी युगका भविष्य

बीसवीं सदीके अर्द्धांशके पूर्व ही अबतक हमारे साहित्यमे तीन युग बन गये—रवीन्द्र-युग, गान्धी-युग, प्रगतिशील-युग। सन् '२० के सत्या-ग्रह-आन्दोलनके साथ गान्धी-युग आरम्भ होता है, और सन् '३० से अन्तर्राष्ट्रीय जाग्रतिके साथ प्रगतिशील-युग। रवीन्द्र-युग भावयोगका युग था, गान्धी-युग कर्मयोगका युग है और प्रगतिशील-युग अर्थयोगका युग।

सन् '१३ से (नोबुल-पुरस्कार पानेके समयसे) सन् '२० तक रवीद्रनाथका भारतीय साहित्यपर विशेष प्रभाव पडा। सन् '३० तक गान्धी-युगमें भी उनका प्रभाव निर्विघ्न चला आया, क्योकि गान्धी-युगमे

जिस वातावरणका कर्मयोग था, रवीन्द्र-युगमे उसी वातावरणका भावयोग था। अब जब कि प्रगतिशील-युगमे मध्ययुगके सामाजिक मनुष्यको चेतना उत्क्रान्तिशील हो गयी है, गान्धी-युग या गान्धीवाद विचारणीय हो गया है, रवीन्द्र-युग पीछे छूट गया है, छायावाद निःशेष है। जिस प्रकार गान्धी-युगमे रवीन्द्र-युग चल रहा था उसी प्रकार प्रगतिशील-युगमे गान्धी-युग चल रहा है, क्योंकि मध्ययुगका सामाजिक वातावरण अभी प्रगतिशील-युगको पूर्णतः ग्रहण नही कर सका है। प्रतिदिन एक-एक शताब्दीका परिवर्त्तन लेकर आज ससार जिस तेजीसे बदल रहा है उस हिसावसे गान्धी-युगका भविष्य शीघ्र ही वर्तमान महायुद्धके बाद स्पष्ट हो जायगा। और रवीन्द्र-युग तो अभीसे सशयास्पद हो गया है, गान्धी-युग और प्रगतिशील-युग दोनो ही उसकी भावप्रवण देन—छायावादी कला—को जनताके जीवनके बाहरकी रचना समझते हैं, एक उसे कर्मकी कसौटीपर रखकर परखता है तो दूसरा अर्थशास्त्रकी तुलापर रखकर तौलता है; फलतः दोनोका मन उससे नही भरता। छायावादी कलाकारोके मस्तकपर जो सबसे बड़ा हाथ (रवीन्द्र) था वह तो उठ ही गया, साथ ही जिस पूँजीवादी वातावरणमे वह कला फूली-फली वह भी युद्धके दावानलमे झुलस रहा है। पूँजीवादने आर्थिक विकास तो खूब किया किन्तु जनताका मानसिक विकास वह नहीं कर सका, वह अपने ऐश्वर्य-विलासमे ही लगा रहा, फलतः उसीके वातावरणमे जो थोड़ी-बहुत मानसिक विभूतियाँ उसके किसी पुण्यसे प्रकट हुईं, जनता उन्हे ग्रहण करनेकी सतह तक नहीं पहुँच सकी। इस प्रकार छायावादी कला सब ओरसे निर्वासित है। किन्तु कबतक ?—

युगपर युग आये, किन्तु रवीन्द्रनाथ अपने व्यक्तित्वमे हिमाचलकी भाँति अचल थे। हाँ, आध्यात्मिक होते हुए भी वे वीतराग नहीं थे,

कलानुरागने उनमे सृष्टिके प्रति मुग्धता ला दी थी। उनके शब्द—'वैराग्य साधने मुक्ति, से आमार नय'। वे ब्रह्मर्षि नही, राजर्षि थे; अतएव भौतिक सम्पन्नता न प्राप्त होने पर वे महात्मा गान्धीकी भॉति आध्यात्मिक न बने रहते, बल्कि समाजवादकी तरुण शक्तियोमे जा मिलते। उनकी 'रूसकी चिट्ठी' इसका शाब्दिक प्रमाण है। रवीन्द्रनाथकी कोटिके व्यक्ति या तो सामन्तवादमे चल सकते है या समाजवादके संरक्षणमे, क्योकि उनकी लोक-यात्राका साधन पार्थिव होनेके कारण उसे वे किसी भी 'वाद'मे स्वीकार कर सकते हैं। इसे अवसरवादिता कहा जा सकता है। हॉ, सम्पन्नवर्गका कोई भी व्यक्ति आवश्यकतासे विवश होकर ही समाजवादको चाहेगा; आन्तरिक प्रेरणासे तो उसे वे ही चाहेगे जिन्हे हम शोषितवर्ग कहते हैं। भग्नप्राय सम्पन्नवर्ग निम्न समूहके नामपर आत्मलिप्साकी सुरक्षाके लिए निरुपाय होकर समाजवादमे आता है। समाजवादमे प्रायः इसी वर्गका नेतृत्व होनेके कारण गान्धीवादके सम्मुख समाजवाद अधिक प्रभावशाली न हो सका। यह ठीक है कि एक ओर भग्नप्राय सम्पन्नवर्ग जैसे समाजवादमे चला जाता है वैसे ही सुसमृद्ध सम्पन्नवर्ग गान्धीवादमें। यह आत्मरक्षाके लिए सम्पन्नवर्गकी अन्तिम सचेष्टता है। किन्तु वर्गीकरणको तो टूटना है, अतएव आज जो स्थापित स्वार्थोंके कारण समाजवाद और गान्धीवादमे सम्मिलित है कल उन्हे उसे कर्त्तव्य रूपमे स्वीकार करना पड़ेगा। हॉ, समाजवादमे स्थापित स्वार्थोंके आये हुए प्रतिनिधि कभी प्रतिक्रियावादी भी हो सकते है, अतएव आत्मदमन गान्धीवादमे अन्तःकरणका छन्द-बन्ध है। अवश्य ही वह इतना कठोर न हो कि जीवनका उल्लास अवरुद्ध हो जाय, अतएव जीवनको 'ब्लैङ्क वर्स' भी देनेके लिए रवीन्द्रनाथ जैसे कलाकारोका अस्तित्व है।

तो, रवीन्द्रनाथका सत्वगुण-प्रधान गान्धीवादसे मतभेद था, किन्तु समाजवादसे उनका मतभेद नहीं होता क्योंकि उनमे रजोगुण प्रधान था; समाजवाद रजोगुणको प्रश्रय देता है।

सामन्तवादी इतिहासने रवीन्द्रनाथको जो सामाजिक सुविधा दी उसका उन्होने अपनी सुरुचिके अनुसार सदुपयोग किया, यही उनके जीवनकी विशेषता है। यद्यपि समाजवादी युगको यह विशेषता अभीष्ट नहीं, किन्तु आगत युग कुछ कन्सेशन देकर रवीन्द्रनाथको भी उसी प्रकार ममता प्रदान करेगा जिस प्रकार लेनिनने पुश्किनको।

पुश्किनको तो लेनिनने चाहा, किन्तु टाल्स्टायके नामसे उसे चिढ़ थी, जैसे प्रगतिशील-युगको गान्धीवादसे चिढ है। क्या टाल्स्टाय या गान्धीसे प्रगतिशील-युग कोई 'सजेशन' नहीं ले सकता? युग-युगकी सफलताके लिए टाल्स्टाय या गान्धीका एक बहुत बडा सजेशन है—आत्मशुद्धि—अन्तःशुद्धि, यह ऐसी आन्तरिक बुनियाद है जिसकी सर्वथा उपेक्षा नही की जा सकती। गान्धीवाद ही समाजवादको स्थायी बना सकता है। समाजवादका उत्क्रान्त-रूप आपद्धर्मके रूपमे हमे इसलिए मान्य है कि इससे मनुष्य वर्तमान गश खायी हुई स्थितिसे मुक्त होकर गान्धीवादको ग्रहण करनेके लिए प्रकृतिस्थ हो सकेगा। समाजवाद यदि वर्तमान स्थितिसे उबार न सका तो आवश्यकता पडने पर गान्धीवाद क्रान्तिके लिए भी प्रस्तुत हो सकेगा; उसकी क्रान्ति दर्दसे छटपटाते बछडेको राहत देनेके लिए विषके इञ्जेक्शन जैसी होगी।

[३]

बहुमुखी प्रतिभा और बहुमुखी कृतियाँ

रवीन्द्रनाथकी प्रतिभा बहुमुखी थी। वे थे कवि, कहानीकार, उपन्यासकार, नाटककार, निबन्धकार, चित्रकार और अभिनेता।

यद्यपि उनकी प्रतिभाने साहित्यकी अनेक पङ्खुडियाँ खोली है, तथापि समष्टितः वे थे एक कमल-कोमल कवि ।

अपनी कविताओमे रवीन्द्रनाथ कृष्ण-शाखाके वैष्णव है, सौन्दर्य और भक्तिमूलक । 'भानुसिंह पदावली' (वैष्णवी रचना) में उन्होने अपनी कविताको जो कैशोर्य दिया था उसीकी प्रौढता 'गीताञ्जलि' मे है। किशोरावस्थाकी सहज अभिव्यक्ति 'गीताञ्जलि' से साङ्केतिक गूढताकी ओर चली गयी , मुखरित वैष्णवता प्रच्छन्न हो गयी । कविके कैशोर्यकी जिज्ञासा थी —

को तुहुँ, बोलबि मोय !
हेरि हास तव मधुऋतु धाओल,
शुनयि बाँशि तव पिककुल गाओल,
विकल भ्रमर सम त्रिभुवन आओल,
चरण कमल युग छोय !

को तुहुँ, बोलबि मोय !
गोप-वधूजन विकसित यौवन,
पुलकित यमुना, मुकुलित उपवन,
नील तीरपर धीर समीरण,
पलके प्राण मने खोय ।
को तुहुँ बोलबि मोय !

—यही जिज्ञासा आगे अनुभूतिमे परिणत हो गयी, बाहरका वंशीधर भीतरका अन्तर्यामी हो गया ।

रवीन्द्रनाथ कहानीकी परियो और राजकुमारोके देशमे उत्पन्न, भोले स्वप्नोके कवि थे ; फलतः उनकी सभी कविताओमें एक स्वप्निल मानसिक वातावरण है । उनकी रचनाओमे कुहुक, कुतूहल, मोह, मुग्धता और व्यथाका ऐसा सम्मोहन है जो हृदयको मधुर-मधुर उच्छ्वाससे मर्मरित कर

देता है। 'चित्राङ्गदा', 'ताजमहल', 'उर्वशी' कविकी ऐसी ही रचनाएँ है। 'उर्वशी' मे रवीन्द्रनाथका सौन्दर्य-बोध बडा ही सूक्ष्मग्राही है।

कविने अपने साहित्यमे लोकधर्मको भी अपनाया है, फलतः राजनीतिक और सामाजिक हलचलोने भी उनकी कलाका फ्रेम पाया है। देश-प्रेम और विश्वप्रेमकी स्फुट कविताएँ तथा 'गौरमोहन', 'घरे बाहिरे' और 'चार अध्याय' इसके लिए द्रष्टव्य है। परन्तु वैष्णवोकी तरह ही रवीन्द्रनाथका मूल भाव है माधुर्य (सौन्दर्य), प्रेम और विरह। वैष्णवोने सौन्दर्य और प्रेमकी क्षणभङ्गुरताको विरागसे विस्मृत नहीं किया, बल्कि विरहके अमृत-रससे सीचकर उसे स्मृतिमे अमर कर दिया। वे साधनाके नहीं, आराधनाके योगी थे। रवीन्द्रनाथ भी अपनी कृतियोमे ऐसे ही योगी कलाकार है।

मनुष्यके सामने दो ससार है—आत्मजगत् और वस्तुजगत्। इसे हम कह सकते है—'घरे-बाहिरे'; घरमे रहता है हमारा निसर्ग-धर्म—प्रणय; बाहर रहता है हमारा उत्सर्ग-धर्म—लोक-सेवा। किन्तु बाहरका धर्म व्यर्थके आडम्बरोमे इतना अस्वाभाविक हो गया है कि गृह-धर्म बरबस छोड़ना पडता है। 'चार अध्याय'का अतीन तो चाहता है यह कि कोई कहे उससे—'आओ आओ पिया, आधे आँचलपर बैठो!'—किन्तु 'गुप्तचारिणी वीभत्स-विभीपिका' (क्रान्तिकारी पार्टीकी निरर्थक हिंसा) उसे इस भाव-लोकमे जीवित नही रहने देती।

रवीन्द्रनाथका स्थल-विशेषपर गान्धीवादसे मतभेद था, जैसे खादीके प्रसङ्गमे; स्थल-विशेषपर क्रान्तिवादियोसे भी मतभेद था, जैसे हिंसाके प्रसङ्गमें; साथ ही ब्रिटिश नीतिकी अविचारितासे भी उनका विरोध था, इसके लिए उनके सामयिक राष्ट्रीय वक्तव्य द्रष्टव्य है। वे सत्य, शिव,

सुन्दरके उपासक थे, कवि होनेके कारण इतने कोमल थे कि विश्वकी रुग्णताको कहीसे भी कड़ुवाहट नहीं मालूम होने देना चाहते थे। वे नर्सकी तरह बहुत मीठी मीठी थपकियोसे शान्ति देना चाहते थे। उनमे गार्हस्थिक मृदुता थी। पुरुषके दैहिक कलेवरमे वे मानसिक नारी थे।

किसीने कहा है—'नारी अघकी खान।' सन्तोसे लेकर क्रान्तिकारियों तक सब नारीके व्यक्तित्वको अस्पृश्यकी तरह दूर रखकर ही अपनी महत्ता स्थापित करनेमे लगे रहे है। वीतराग सन्तोसे रवीन्द्रनाथका दृष्टिकोण पहिलेसे ही भिन्न है; इस सम्बन्धमे क्रान्तिकारियोकी शुष्क सङ्कीर्णता भी उन्हे विडम्बनापूर्ण जान पड़ी। जीवन केवल परुष-पौरुप ही नहीं है, उसमे माधुर्य भावकी स्निग्धता भी है, इसीलिए वह 'जीवन' है। शोभनको छोड़कर केवल अशोभन (आतङ्कवाद) मे लगे रहना ही मनुष्यकी कृतकार्यता नहीं, 'चार अध्याय' का यही 'थीम' है।

रवीन्द्रनाथका देशप्रेम या विश्वप्रेम न तो सर्वथा भौतिकवादसे प्रसूत है और न सर्वथा अध्यात्मवादसे, वह है मानवके सहज-स्वभावसे उद्भूत। उनके देशप्रेम या विश्वप्रेमकी इकाई माधुर्य भाव है। जो सवेदनशीलता लघु परिधिमे दाम्पत्यप्रेम बनती है वही तो विस्तृत परिधिमे देश-प्रेम या विश्वप्रेम है। प्रेयके लिए उन्होने श्रेयकी उपेक्षा नहीं की, किन्तु श्रेयका प्रेयसे भिन्न अस्तित्व नहीं रखा, व्यक्तिगत रूपसे जो प्रेय है उसीके सामूहिक प्रयत्नका नाम श्रेय है—

'वही प्रज्ञाका सत्य स्वरूप
हृदयमे बनता प्रणय अपार
लोचनोमे लावण्य अनूप
लोकसेवामें शिव अविकार।'

एक शब्दमे, रवीन्द्रनाथ राजर्षि थे—भगवानके प्रति प्रणत होकर जीवनके प्रति कलानुरक्त । कर्म-लोकको वे एक अविचल जीवधारीकी तरह अङ्गीकार करते थे—

मेरा तुम परित्राण करो
यह नहीं प्रार्थना,
सहनेकी हो शक्ति न क्षय ।

किन्तु कर्म-लोकमे शरीरकी तरह बँधकर उनका मन निर्मुक्तके प्रति जागरूक रहना चाहता था, मदान्ध नहीं,—

सुखके समय विनम्र भाव
रख तुम्हें जानना,
यह हो जीवनका सञ्चय ।

दुखके तममें निखिल विश्व
यदि करे वञ्चना,
तुमपर मैं न करूँ संशय ।

रवीन्द्रनाथकी कलाकी त्रिवेणी है—भक्ति, सौन्दर्य, समवेदना । भक्ति 'गीताञ्जलि' मे, सौन्दर्य 'उर्वशी' मे, समवेदना लोकधर्मी रचनाओमे । ये एक ही कोमल आस्तिकताकी विविध अभिव्यक्तियाँ है ।

रवीन्द्रनाथकी कथा-कृतियोके तीन रूप है—गार्हस्थिक, सामाजिक, राजनीतिक । गार्हस्थिक कृतियोमे 'कुमुदिनी' ('योगायोगी'), सामाजिक कृतियोमे 'गौरमोहन', राजनीतिक कृतियोमे 'चार अध्याय' समस्या-मूलक है । ये उपन्यास अपने अपने दायरेमें रवीन्द्रनाथके दृष्टि-विन्दुके प्रतीक-केन्द्र हैं ।

कहानियोमे रवीन्द्रनाथकी दो प्रकारकी शैली है—कथात्मक और भावात्मक। जीवनके दैनिक चित्रोको उन्होने कथापरक शैली दी है, मानसिक चित्रोंको भावात्मक शैली। यो कहे, बाह्यजगत्को उन्होने कहानी दी है, अन्तर्जगत्को कविता।

कुछ कथा-कृतियोमे रवीन्द्रनाथका कवि-हृदय प्रच्छन्न है तो कुछमे उनका कवि-हृदय प्रधान है—यथा, 'घरे बाहिरे', 'कुमुदिनी' और 'चार अध्याय' मे।

नाटककी अपेक्षा रवीन्द्रनाथने नाटिकाएँ अधिक लिखी है। उनमे भावनाढ्य है। कथनोपकथन सरल है, किन्तु उनकी श्लेषात्मक व्यञ्जना अन्तर्गम्भीर है। उनकी नाटिकाएँ प्रायः अध्यात्ममूलक है, उनमे 'आत्म-दर्शन' है। कविता, कहानी और उपन्यासकी तरह रवीन्द्रनाथके नाटकीय टेकनीक भी अपने है। 'चार अध्याय' का टेकनीक तो एकदम नवीन है।

यह उल्लेखनीय है कि वयोविकासके साथ साथ रवीन्द्रनाथकी कृतियाँ अधिकाधिक कला-गूढ होती गयी है। वे बाहरसे जटिल होकर भीतरसे सरल है। प्रारम्भिक रचनाओंकी बाह्य-सुबोधता गम्भीर अर्न्तबोध-मे परिणत हो गयी है।

उनके भाव जितने ही अन्तर्गर्भित होते गये उनकी भावाभिव्यञ्जन-की कला भी उतनी ही अवगुण्ठित होती गयी। इस भावाङ्कनकी चरम सीमा उनके उन चित्रोमे है जिनमे कविकी लेखनी तूलिका बन गयी है। उन चित्रोमे बाह्य आकार कुछ कहते ही नहीं, वे इतने अपरिचित है कि मानव-समाज और प्रकृति-समाजमे कही नही मिलते। कारण, उन चित्रोमे रवीन्द्रनाथने प्राणियोके शारीरिक अस्तित्वको नही, बल्कि उनके मानसिक व्यक्तित्वका अङ्कित किया है। बाह्य रूपोंकी अपेक्षा अन्तः-स्वरूपमे मनुष्य और प्रकृतिका जो अंश जैसा कुरूप या सुरूप लगा,

उन्होने उसे ही आकार-प्रकार दे दिया। ये कविके एक्सरे-चित्र हैं, जिनमे भीतरकी मुखाकृतियाँ दिखायी गयी है। जिस तरह उन्होने इन मुखाकृतियोंका आविष्कार किया है, उसी तरह इनकी अभिव्यक्तिके लिए नयी चित्रकलाका भी। किसी भी चित्रकलासे उनके टेकनीकका सादृश्य नहीं। वह मुक्त काव्यकी तरह मुक्त चित्रकला है।

ज्यो ज्यो रवीन्द्रनाथकी दृष्टिमे नवीनता आती गयी है, त्यो त्यो उनके दृष्टिपात करनेके ढङ्ग (आर्ट) मे भी नूतनता आती गयी है; चित्रकलामे ही नहीं बल्कि साहित्य-कलामे भी। वे चिरन्तन-कलाकार थे; न नूतन, न पुरातन। वे तो कलाके उर्वर मस्तिष्क-विधाता थे। वृद्धावस्थामे भी उन्होने कलाके जो नये नये टेकनीक दे दिये है, वे तरुणसे तरुण शिल्पीके लिए लोभकी वस्तु है।

रवीन्द्रनाथ निबन्धकार, व्याख्यानदाता और अभिनेता भी थे। निबन्धो और व्याख्यानोमे उनकी वाग्विदग्धता है, अभिनयोमे उनकी कलानुरागिता। अपने सभी व्यक्तित्वोमे रवीन्द्रनाथका एक ही व्यक्तित्व है कविका। वर्तमान महायुद्धकी विभीषिकाके शमनके लिए प्रेसिडेण्ट रूजवेल्टको उन्होने जो तार दिया था वह भी कविताकी ही भाषामे। उनका सम्पूर्ण कृतित्व एक ही सूत्रसे बँधा है, वह है काव्य-सूत्र। कवि होनेके कारण उनमे नव-नव उद्भावनाओकी कुशल क्षमता थी। 'चार अध्याय'के अतीन्द्रकी तरह भावुकता ही उनकी अमोघ शक्ति थी। साहित्येतर विषयो, यथा इतिहास, राजनीति और विज्ञानके सम्बन्धमे रवीन्द्रनाथकी स्थापनाएँ एक कविकी ही नवोद्भावनाएँ हैं। प्रत्यक्ष जगत्मे जैसे कविकी सूक्ष्म दृष्टि प्रवेश करती है, वैसे ही इन स्थूल विषयोमे भी उसने प्रवेश किया है। इन स्थूल विषयोपर रवीन्द्रनाथकी स्थापनाएँ अकाट्य मानी जाती है, उनकी चित्रकलाकी ही तरह।

विस्मय-जनक व्यक्तित्व

कवि कह देनेसे ही रवीन्द्रनाथकी आत्माका मूर्त्त परिचय नहीं मिल सकता। हम कहेंगे—वे शिशु थे। वे अपने 'क्रेसेण्ट मून' मे है। कविकी आत्मा वय-हीन होती है—उसकी अभिव्यक्तियोमे तो वयोविकास रहता है, किन्तु भावोमे अखण्ड शैशव। जो शिशु है वही कवि है। आत्माकी शिशुता बनाये रखकर ही रवीन्द्रनाथ चिरन्तन कवि बने रहे।

बचपनमे बालक रवीन्द्रपर सेवकोका शासन मानो उसके शैशवको उसीमे पुञ्जीभूत हो जानेका बन्धन था। वह बन्धन उसके लिए वरदान हो गया—प्रकृतिने उसके निकट आकर उसे अजस्र कवित्व दे दिया। प्रकृतिके क्रोडमे उसका आत्मविकास प्रकृतिकी तरह ही रोमैण्टिक ढङ्गसे हुआ, किसी एकैडेमिक ढङ्गसे नहीं, इसीलिए रवीन्द्रनाथकी सारी रचनाएँ रोमैण्टिक है।

यह ठीक है कि रवीन्द्रनाथने अपनी कृतियोमे उच्चवर्गका समाज दिया है, किन्तु उच्चवर्ग, मध्यवर्ग और निम्नवर्गकी गार्हस्थिक सस्कृति एक है, रवीन्द्रनाथने उसी एकोन्मुख सास्कृतिक समाजको व्यक्त किया है। गार्हस्थिक सस्कृतिसे भिन्न, जीवनका नवीन आर्थिक दृष्टिकोण रवीन्द्रनाथके परवर्त्ती युगका है, इस युगके आते-न-आते वे चले गये। यह युग उनके लिए नहीं था। उनके चले जानेके बादसे साहित्य-सङ्गीत-कला-शून्य पृथ्वी बञ्जर हो गयी है। पिछले युगकी पृथ्वीके वे परिपूर्ण सौभाग्य थे—यश, वय, वैभव और प्रतिभा—सभी दृष्टियोसे।

एक शब्दमे, रवीन्द्रनाथ सामन्तवादी युगके परिष्कृततम, सर्वोत्तम, स्वर्गोपम विकास थे। सामन्तवादी पङ्किल इतिहास उनमे 'फिल्टर' हो गया था। उस युगके विकासकी उनके कवित्वपूर्ण व्यक्तित्वसे अधिक अच्छी कल्पना नहीं की जा सकती।

पन्तजीके शब्दोमे—'कवीन्द्र रवीन्द्र अपनी रचनाओमे सामन्तयुगके समस्त कला-वैभवका नवीन रूपसे उपयोग कर सके है। उनसे परिपूर्ण, कलात्मक, सङ्गीतमय, भाव-प्रवण और दार्शनिक कवि एव साहित्यस्रष्टा शताब्दियो तक दूसरा कोई हो सकता है इसके लिए ऐतिहासिक कारण भी नही है। भारत जैसे सम्पन्न देशका समस्त सामन्तकालीन् वाङ्मय, अपने युगके सांस्कृतिक समन्वयका विश्वव्यापी स्वप्न देखनेके लिए, बुझनेसे पहले एक ही बारमे प्रज्वलित होकर, अपने अलौकिक सौन्दर्यके प्रकाशसे संसारको परिप्लावित कर गया है।'

जीते-जी रवीन्द्रनाथ अपनी काव्य-चेतनाके प्रति चिरसजग रहे। एक कवितामे उन्होने अपने पचास वर्ष बादके पाठकोको भी सम्बोधित किया है, मानो वे सृष्टिमे कभी भी अनुपस्थित रहना नही चाहते थे। मृत्युके दिन भी उन्होने कवितामे ही मृत्युका स्वागत किया। उनकी सॉस-सॉस कविता थी।

एक स्वप्न-सृष्टिकी तरह सम्मोहन छोड कर वे चले गये, हृदय अपने मुग्ध-विस्मयमे महादेवीके शब्दोमे बोल उठता है—'हमने व्यक्ति देखा है या किसी चिरन्तन रागको रूप-मय!'

कवि, कलाकार और सन्त

कल्पना कीजिये कि किसी एकैडेमीमे यदि कवि, कलाकार और सन्त एक साथ आमन्त्रित किये जायँ तो वे हमारे हृदयोपर अपनी कैसी छाप छोड जायँगे ? किन्तु हम कल्पना भी क्यों करे, इन महत्तम व्यक्तित्वोका शुभ्रसाहचर्य हमे अपने जीवनमे, साहित्यमे, समाजमे सहज सुलभ रहा है, हम इनसे चिरपरिचित है। ये हैं—रवीन्द्र, शरद और गान्धी। ये ही वर्तमान भारतीय साहित्यके त्रिदेव है।

अभिन्न-भिन्नता

इनके पथकी दिशाएँ भिन्न-भिन्न होते हुए भी इनका उद्गम एक है—पुराकालीन सास्कृतिक भारत, इसीलिए सस्कृतिके किसी केन्द्र-विन्दुपर इनके व्यक्तित्वोंका सङ्गम हो जाता है, ये कहींपर अभिन्न होकर पुनः अपने-अपने पथपर चल पडते है। अभिन्न-भिन्नता ही इनके व्यक्तित्वोकी विशेषता है।

वैष्णवता—परमात्म-बोध—इनके सङ्गमका केन्द्र-विन्दु है, और उस वैष्णवताकी विविध अभिव्यक्तियाँ इनके पथोकी विभिन्न दिशाएँ है।

रवीन्द्रनाथ कवि थे—काव्यके राजहसपर भावाकाशमे सङ्गीतकी स्वर-लहरियोंके साथ उन्होने विहार किया था। वायव्य जगत्‌के कवि होनेके कारण उनकी कलाकारिता भी वैसी ही सूक्ष्म थी, जीवन उनके लिए एक स्वप्निल वरदान था। उन्होने संसारको मधुर-मधुर स्वप्नोंसे भर दिया।

शरच्चन्द्र वस्तु-जगत्‌के उपन्यासकार थे। वे कवि नहीं, मधुकर—भ्रमण-शील—थे; पृथ्वीके ही शूल-फूलोका रस-सञ्चय कर उन्होंने औपन्यासिक चषकमें भर दिया है। अन्धकार और प्रकाश उनकी

दृष्टिमे इसलिए सत्य है कि वे पृथ्वीपर दिखाई पडते हैं। स्थूलके सम्पर्कसे ही वे सूक्ष्मको ग्रहण करते रहे हैं, जैसे संसारके साथ उसके दिन-रातको। स्थूल और सूक्ष्मका सम्मिश्रण ही उनके लिए जीवन है। रवीन्द्रनाथके लिए जब कि जीवन एक भाव-शिल्प (मानसी कला) है, शरच्चन्द्रके लिए सामाजिक स्थापत्य—मानुषी-कला। शरच्चन्द्रने क्षिति (स्थूल) से क्षितिज (सूक्ष्म) को स्पर्श किया है, रवीन्द्रनाथने क्षितिज (सूक्ष्म) से अनन्त (छाया-लोक) को। शरच्चन्द्रकी कला वस्तु-लोककी है, रवीन्द्रनाथकी कला भावलोककी।

गान्धीजी आध्यात्मिक वैज्ञानिक है। जीवन उनके लिए आत्मा (सत्य) की प्रयोगशाला है। उन्हे न तो पृथ्वीमे आकर्षण है, न छाया-लोकमे। वे तो स्थूल और सूक्ष्म, लोक और अलोकके स्रष्टाके अनुसन्धानी है। निखिल सृष्टि जिसकी कला है, वे उसी कलाकारके अध्येता है। शरद और रवीन्द्र भी उसी कलाकारके कलाधर है; किन्तु वे लोकोन्मुख आस्तिक हैं, बापू ईश्वरोन्मुख लोक-पुरुष। बापू केवल स्रष्टाके प्रति अनुरक्त है, सृष्टिके प्रति अनासक्त। रचनात्मक कार्य उनकी अनासक्तिके सात्विक उपकरण मात्र है। रचनात्मक कार्य उनकी विश्व-पूजाके नैवेद्य है, और उनकी विश्व-पूजा प्रभु-पूजाका लोकानुष्ठान है। सगुणकी तरह वे इन रचनात्मक कार्योंमे रहकर भी निर्गुणकी तरह इनमे नही हैं। कवि पन्तके शब्दोमे—

तुम यह कुछ भी नहीं
चरखा, खादी, हरिजन-आन्दोलन, स्वराज
हे भारतके मुकुट, विश्व-राजाधिराज !
तुम यह कुछ भी नहीं
नहीं !......................................नहीं !

× × ×

देश-कालकी सीमाएँ ये तुममें बिम्बित
भारतकी आकांक्षाएँ—तुमसे सम्बन्धित !
तुम यह सब कुछ नहीं।

*   *

सत्य अहिंसा—यह केवल साधना तुम्हारी
लीन हो रहे तुम निजमें, हे असि-पथचारी !

किन्तु शरद और रवीन्द्र सृष्टि और स्रष्टा दोनोके प्रति अनुरक्त है। अनासक्ति नही, आसक्ति उनके जीवनका मूलतन्तु है। बापू ज्योतिकी किरणो—लोकाभिव्यक्तियो—को नही देखना चाहते, वे चाहते है केवल ज्योतिर्मयको। किन्तु शरद-रवीन्द्र स्रष्टाकी कलाकारिता—सृष्टि—मे भी रस लेते है, वे उसकी किरणोमे रिलमिल जाते है।

वैष्णव सस्कृतिके एक ही शतदलमे इन आस्तिक व्यक्तियोके अव-स्थान इस प्रकार है—बापू है निर्लिप्त जीवन-बिन्दु, रवीन्द्र है प्रस्फुटित मुख-पद्म (विकास), शरद हैं पङ्किल मृणाल। बापू जब चाहेंगे सब कुछ झाड-पोछकर इस सृष्टिसे विलग हो जायँगे, रवीन्द्रनाथ अनन्तमे अपना नीरव-हृदय बगेरते रहेंगे, किन्तु शरच्चन्द्र इसी पृथ्वीकी मायामे गड़े रहेंगे, निःसन्देह वे मायावी कलाकार है। इस बृहत्-त्रयीमे महत्तम व्यक्तित्वो-का भार धारण किये हुए शरद निम्नतम स्तरपर हैं। आखिर थे तो वे पङ्किल मृणाल; उच्चता धारण करके भी वे चरित्रकी उस विवश-पङ्किलताको छिपा नहीं सके जिसे अभिजात-वर्ग नैतिक कुत्साकी दृष्टिसे देखता है। फलतः, समाजमे जितना दुर्नाम उन्हे मिला, उतना शायद ही किसी ख्यातनामा साहित्यिकको मिला हो।

रवीन्द्रनाथकी मध्यस्थता

इस बृहत्-त्रयीमे रवीन्द्रनाथका व्यक्तित्व सन्तुलित है—उनमे है निर्लिप्त-लिप्तता। उनके एक ओर बापूकी निर्लिप्तता है, दूसरी ओर शरदकी पङ्किलता—लिप्तता। बीचमे वे जजकी तरह मध्यस्थ हो जाते हैं। इसीलिए समय-समयपर उनके कविमे उनका विचारक भी जग पड़ा है। विचारकके आसनसे उन्होने बापूके साथ राजनीतिक मतभेद प्रकट किया, शरदके साथ नैतिक मतभेद।

बापूने कहा—बिहारका भूकम्प अस्पृश्योके साथ किये गये हमारे दुर्व्यवहारोका पाप-दण्ड है। रवीन्द्रनाथने जनताके भ्रम-निवारणार्थ इसका भौगोलिक प्रतिवाद किया। जान पड़ता है, यहॉ रवीन्द्रनाथका कवि उन्हे छोड़ गया। उन्हीका कवि तो कहता आया है कि जीवन वस्तु-तथ्यमें नहीं बॅधा है, वह तो भाव-सत्यसे अनुप्राणित है। बापूकी उक्तिमे वही भाव-सत्य है। यह एक विचित्र विरोधाभास है कि जहॉ बापू कवि हो जाते है वहॉ रवीन्द्रनाथ विचारक, और जहॉ बापू विचारक हो जाते है वहॉ रवीन्द्रनाथ कवि, जैसे खादीके प्रसङ्गमे।

मानववादकी ओर

गान्धी और रवीन्द्रमे मतभेद था, किन्तु 'शेष प्रश्न'से पूर्व शरदका न गान्धीसे मतभेद था और न रवीन्द्रसे। दोनो ही उनके शिरोमणि है। किन्तु जीवनकी उच्चतम अभिव्यक्तियोके प्रति श्रद्धालु होकर भी उन्होने निम्नतम अभिव्यक्तियोकी उपेक्षा नहीं की। कैसे करते, वे स्वयं भी तो उच्च व्यक्तित्वोके पद-प्रान्तमे ही खड़े रहे। नैतिक दृष्टिसे जो अस्पृश्य है, समाज जिन्हे चरित्रहीन (?) कहता है, उनके लिए शरदके अन्तः-

करणमे बहुत स्थान था, किन्तु उनके पूर्वके समाज और साहित्यमे नहीं। वहाँ या तो विलासियोको स्थान मिलता आया है अथवा रूढिग्रस्त आदर्शवादियोको। इस तरहके समाज और साहित्यमे न तो यथार्थवाद था और न आदर्शवाद; था केवल जड़वाद—पूँजीवाद। शरदने नवीन मनोवैज्ञानिक चेतनाके स्पर्शसे चरित्रोको जीवित व्यक्तित्व दिया। आदर्शवाद और यथार्थवादके रूढिवादी वर्गीकरणको तोड़कर उन्होने एक बुनियादी दृष्टिविन्दु दिया—मानववाद। द्विपद-पशु जहाँ हियेकी ऑखे खोलकर चलता है वहीं मनुष्य बन जाता है। (बाहरकी ऑखे तो चतुष्पदोकी भी खुली रहती हैं।) मनुष्य जिस बन्धनसे एक दूसरेको बॉधता है वह है प्रेम। जहाँ शारीरिक—पाशविक—स्वार्थ अधिक बोलता है वहाँ है वासना। वासनामे आत्मलिप्सा है, प्रेममे उत्सर्ग। इस दृष्टिसे चरित्रका सम्बन्ध शरीरसे नहीं, मनसे है। शरीरका सम्बन्ध स्वास्थ्य-विज्ञानसे है, मनका सम्बन्ध नीति-विज्ञान (मनोविज्ञान) से। शरीरसे स्वस्थ व्यक्ति मनसे विकृत हो सकता है, इसके विपरीत शरीरसे अस्वस्थ व्यक्तिमे मनकी स्वस्थ मानवता हो सकती है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि कोई शरीरके साथ अविचार करे, यह तो मनको धोखा देना हुआ। स्थिति-विशेषमे शारीरिक विकृतियाँ विवशता हो सकती है, किन्तु विवश होकर भी मन अक्षुण्ण रह सकता है। जहाँ विवशता नहीं बल्कि लोलुपता है वहाँ शरीरसे विकृत होकर मनुष्य मनसे भी विकृत हो जाता है।

सच्चरित्रता और चरित्रहीनता

समाज जिसे चरित्रहीनता कहता है वह बहुत कुछ सामाजिक परिस्थितियोसे भी उत्पन्न होती है। जैसे बुभुक्षित कदन्न खाता है वैसे ही समाज-द्वारा विवश प्राणी निरुपाय होकर शरीरके साथ अनाचार

भी कर बैठता है। वह क्षम्य है, उसे 'फ्रीजिंग कन्सेशन' मिलना चाहिये। ऐसा व्यक्ति कह सकता है—'तन विकृत होवे भले ही मन सदा अविकार मेरा'। ऐसे व्यक्ति शारीरिक कमजोरियोमे कीचड़मे कमलकी तरह खिलते है। कीचडमे धँसकर भी वे उसे दलदल नही बनने देते, जैसे शरदके देवदास, श्रीकान्त, सतीश। किन्तु जिनमे अन्तःशुद्धि नही होती अर्थात् जिनका मन भी विकृत होता है वे कीचड—शारीरिक दुर्बलता—को दलदल बना लेते है। जबतक समाज परिष्कृत नही हो जाता तबतक शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यका एकत्रीकरण दुर्लभ है। आज भी जिस जीवनमे तन-मन दोनो स्वस्थ है वह जीवन धन्य है, जैसे बापूका जीवन। बापू तो एक व्यक्ति नही, पूर्ण सत्य है। वह निखिल सृष्टिका मापदण्ड है—गौरी-शङ्कर श‍ृङ्ग, हमारी अपूर्णताओका निर्देशक। उसके द्वारा आत्मलीन होकर हम आत्मनिरीक्षण कर सकते है कि जीवनकी किस सतहतक हमे उठना है।

परन्तु जिस शारीरिक पवित्रताको ही समाज सच्चरित्रता मानता है वह चरित्रका बहुत स्थूल रूप है। शरीरकी विकृतियो या सुकृतियोको तो डाक्टर या कम्पाउण्डर भी देख लेता है, कलाकार इसके भी ऊपर उठकर मनक निर्माणमे चरित्रको देखता है। उस दृष्टि-विन्दुपर कलाकार डाक्टर या कम्पाउण्डरसे उसी प्रकार भिन्न हो जाता है जिस प्रकार भूगोलके मास्टरसे प्रकृतिका कवि। शरदने चरित्रके नामपर मनके उसी निर्माणको देखा है। इस दृष्टिसे उनका चरित्र-चित्रण गृहदेवियोमे सुबुद्ध है, गृह-कुमारोमे उद्‌बुद्ध तथा सामाजिक कदाचारियोमे दुर्बुद्ध।

गृहकुमारोके चरित्रमे उद्‌बुद्धता इसलिए है कि वे सामाजिक संकीर्णताके प्रति विक्षुब्ध है। गृहदेवियाँ अपने विक्षोभको भीतर ही भीतर वाड़वकी तरह छिपाकर अपने आँसुओमे जीती रही है, किन्तु 'शेष प्रश्न' से शरदने नारीके चरित्रको भी उद्‌बुद्ध कर दिया।

नूतन सामाजिक चेतना

समाजके नैतिक नियम सामन्तवादी हैं। धर्मको जैसे सामन्तवाद निगल गया है, वैसे ही समाजको भी। अर्थशास्त्रकी महत्तापर ही जहाँ प्राणियोका मूल्य निर्धारित होता है वहाँ सदाचार और दुराचार भी सम्पन्नवर्गकी ठाकुरशाहीके सिवा और कुछ नहीं है। वही सम्पन्नवर्ग एक ओर विवाह-सस्थाका सञ्चालक है, दूसरी ओर वेश्याओका उत्पादक भी। ठाकुरशाही नीति-नियमके विरुद्ध बगावत कर जो समाजसे दूर जा पड़ते है वे है चरित्रहीन, और जो उसीमे घुट-घुटकर मर जाते है वे है सच्चरित्र। नारी अबला है, सृष्टिकी निःसहाय साधना, वह चाहे विवाहिता हो या अविवाहिता, वह अपने आँसुओको भीतर ही भीतर पीकर एक विधवाकी तरह तपती रहती है। किन्तु नवचेतन तारुण्य इस बर्बर समाजके विरुद्ध बदनाम विद्रोही बन जाता है। शरदने अपने उपन्यासोमे अबतक विद्रोही पात्रोको दिया था, 'शेष प्रश्न' से शिवानीके रूपमे विद्रोहिणीको भी अवतीर्ण कर दिया है। रूढिवादी समाजने सदाचार और दुराचारकी जो सीमा बाँध रखी है शरदने उस सीमाको तोड दिया है। कलाकार जिस तरह भाषाको व्याकरणके जटिल नियमोसे मुक्त करता है उसी तरह शरदने मानवको समाजके जड़ नियमोसे स्वतन्त्र किया है।

शरदकी देखा-देखी कथा-साहित्यमे रियलिज्मकी बाढ़ आ गयी। रियलिज्मके माने है सामाजिक असलियत। ख्वाहमख्वाह मनुष्यकी दुर्बल विकृतियोका उद्घाटन करना रियलिज्म नहीं है। शरदपर यह आक्षेप किया गया कि रियलिज्मके नामपर साहित्यमे उन्होने गन्दगी फैला दी। इस आक्षेपका लेकर शरदका रवीन्द्रनाथसे उत्तर-प्रत्युत्तर हो चुका है। किन्तु रियलिज्मके इस प्रचारमे शरदका

क्या दोष है? शरदने सामाजिक विषपानके लिए यदि देवदास दिया है तो उस शिवके मानसिक जगत्को पार्वतीकी साधनामे साकार भी कर दिया है। इसी तरह सतीशकी साधना सावित्री है, श्रीकान्तकी साधना राजलक्ष्मी, इन्द्रनाथकी साधना अन्नदा जीजी। इन विद्रोही पात्रोकी सामाजिक अराजकता बाहरसे विशृङ्खल होकर भी भीतरकी शृङ्खला—साधना—से छन्दोबद्ध है। समाजकी बाह्य विषमतामे इनके जीवनका मुक्त छन्द आन्तरिक सामञ्जस्य लेकर चला है। शरदके इस अन्तर्बाह्य व्यक्तित्वको अपनानेके लिए शिवत्व चाहिये। जिनमे शिवत्व नही है, किसी 'साधना' के लिए विषपानकी क्षमता नहीं है, वे साहित्यमे रियलिज्मके नामपर विष वमन करते है। विषपानके लिए जैसे सभी शिव नही हो सकते वैसे ही रियलिज्मके लिए सभी शरद नहीं हो सकते। विषाक्त होकर भी शरद फणिधर नही, मणिधर—ज्योतिर्धर—हैं। जो केवल फणिधर है वे शरद-स्कूलके नामपर प्रवञ्चना करते है।

शरदके बाद साहित्यमे एक नये रियलिज्मने प्रवेश किया है, नाम है समाजवादी यथार्थवाद। शरद स्वय भी समाजवादी थे। जो समाज मानवतासे शून्य होकर विधि-निषेधोसे सुरक्षित पशुताका गिरोह मात्र है—जैसे कानूनोसे सुरक्षित प्रभुत्ववाद—उस समाजको सच्चे अर्थमे मनुष्योका समाज बनाना शरदकी कलाका सङ्केत है। अधिकार-प्राप्त अनधिकारियोने जिस समाजको लुप्त कर उसकी जगह कारागार बना दिया है, शरदका साहित्य उसी समाजके रिक्त स्थानकी पूर्ति करता है। निरङ्कुश व्यक्तिवादके बजाय लुप्त समाजको महत्त्व देकर शरद समाजवादी हो गये है। अवश्य ही वे सीधे आजके माडर्न समाजवादी नहीं है। आजका समाजवाद राजनीतिक रूढियोके विरोधमे है, शरदका समाजवाद नैतिक

रूढ़ियोके विरोधमे। युग-विकासके हिसावसे शरद समाजवादकी भीतरी सतह—गार्हस्थिक सतह—पर हैं। वे जिस युगमे उत्पन्न हुए उस युगमे राजनीतिक विषमता इतनी स्पष्ट नही हुई थी जितनी नैतिक विषमता। आज तो ये दोनो विषमताएँ स्पष्ट ही नही वल्कि नग्न हो गयी है। वर्तमान समाजवाद इन्हे निर्मूल करनेमे लगा हुआ है। राजनीतिक विषमता रोटीकी समस्या वनकर सामने आयी है, नैतिक विषमता 'सेक्स' की समस्या बनकर। दोनो ही समस्याएँ स्थूल है। वर्तमान समाजवादियो-से शरदकी यह भिन्नता है कि वे समस्याओको सीधे स्थूल रूपमे नहीं लेते ; वे उन्हे मानवीय मर्यादा देकर देखते है। रोटी और सेक्स तो पशुओकी भी समस्या है, किन्तु जीवनके जिन सुसस्कृत रागात्मक तत्त्वोके स्पर्शसे इन समस्याओका मानवीकरण होता आया है वे शरीरजन्य नही, मनोजन्य है। मानवी चेतनाके प्रकाशमे सेक्स वासनासे ऊपर उठ-कर प्रेम वन जाता है। किसी युगमे अमृत—जीवन-तत्त्व—देवताओको सुलभ हुआ था, अपात्रो—असुरो—द्वारा उसका दुरुपयोग न हो, इसलिए सामाजिक विधि-निषेध बने थे। उस समय लोक-यात्राका माध्यम धर्म था। किन्तु इतिहासने पलटा खाया, उस धार्मिक व्यवस्था-को पूँजीवादके राहुने ग्रस लिया, जीवनका माध्यम वन गया अर्थ। पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्थामे विधि-निषेध तो धार्मिक युगके बने रहे किन्तु वे मानवताके विकासके साधन न होकर उसके ह्रासके कारण बन गये। नैतिक युगके बन्धन राजनीतिक युगमे स्वार्थके सूत्रमात्र रह गये। यह विचित्र-विद्रूप है कि समाज तो है ह्रास-कालका पशु, किन्तु उसके हाथमे विधान हैं दैवीयुगके। इसी ह्रास-कालकी पहिली सामाजिक बगावत शरदके साहित्यमे है। उन्होने धार्मिक युगकी साधनाको तो गौरवमयी वनाये रखा, किन्तु जहाँ विधि-निषेध स्थापित स्वार्थोके

दुःसाधन बन गये है वहाँ मानवको उन्होने उत्क्रान्तिशील भी कर दिया। उनके उत्क्रान्तिशील पात्रोको रूढ़िवाद चरित्रहीन कहता है, जैसे पूँजीवाद राजनीतिक क्रान्तिकारियोको बागी।

समाजवादके उद्गमकी ओर

अपने परवर्ती जीवन-कालमे शरद अधिक रियलिस्ट हो गये। उन्होने पहिले रूढ़िवादी समाजसे मानवको मुक्त किया था, इस बार मानवीको भी मुक्त कर दिया। पहिले भी उन्होने अभया और किरणमयीको मुक्त किया था, किन्तु इस बार मुक्तिको शक्ति भी दी है। उन्होने देखा कि धार्मिक विधि-निषेधोकी अनुवर्त्तिनी नारी अपनी साधनासे न तो अपने जीवनको सुफल बना पाती है और न साधनाके पुजारियो—तथाकथित चरित्रहीनो—को सामाजिक सहयोग दे पाती है; उलटे, जिनके अन्ध-अनुशासनने मानवताको अभिशप्त कर दिया है उन्हीकी वह गौरव-सिद्धि बन जाती है। अतएव, मानवताकी ही शक्ति बन जानेके लिए शरदने नारीके भीतर भी सामाजिक क्रान्तिको ऊर्जस्वी कर दिया 'शेष प्रश्न' मे; वहाँ नारी 'पार्वती' से 'शिवानी' बन गयी।

बन्धनो—विधि-निषेधो—को उच्छिन्न कर स्वेच्छाचारिता फैलानेके लिए ही शरदने सामाजिक स्वतन्त्रता नहीं ली है। वह स्वतन्त्रता सदुद्देश्यपूर्ण है, टूटते हुए बन्धन तो अनमिल-पाणि-ग्रहणकी तरह है।

'शेष प्रश्न' तक आकर शरद समाजवादके उद्गम तक पहुँच गये थे। समाजवाद सामाजिक प्रश्नोको जिस दृष्टिकोणसे देखता है उस दृष्टिकोणको अपनाकर भी शरदने उसके नैतिक पार्श्वकी ही विवेचना की है, राजनीतिक पार्श्वकी नही।

इस सम्बन्धमे शरदका दृष्टिकोण उनकी एक पुरानी कहानी ('एकादशी वैरागी') से सामने आता है। लोक-चक्षुमे कृपण, किन्तु अपने अन्तःकरणमे ईमानदार एकादशी वैरागी बड़े-बड़े चन्दा देनेवाले कीर्त्ति-लिप्सु दानवीरोंसे श्रेष्ठ है। शरदका 'मनुष्यत्व' अन्तःकरणसे सञ्चालित होता आया है। उन्होने मनुष्यको परखनेके लिए अन्तर्दर्शन दिया, इस तरह बाह्यदर्शनोको नगण्य कर दिया। किन्तु शरदने 'शेष प्रश्न' मे जैसे पुरानी नैतिक आस्थाओको खण्डित कर दिया, उसी तरह किसी उपन्यासमे आर्थिक व्यवस्थाओको भी खण्डित कर सकते थे, समाजवादियोकी तरह। असलमे शरद न रवीन्द्रकी तरह भाव-प्रवण थे, न बापूकी तरह नीति-प्रवण और न समाजवादियोकी तरह अर्थ-प्रवण, वे तो उस निर्वासित गृहीकी तरह थे जिसमे गृहस्थोकी सुकुमार श्रद्धा और निर्वासनका विद्रोह था। उनके भीतर विद्रोही अश प्रवल था। किन्तु उनका विद्रोह शिवत्व—कल्याण—के लिए था। उनके समयमे जो समाज प्राप्त था उसीमेसे चुनकर गुदडीके लालकी तरह कल्याणकी विभूतियोको उन्होने उपस्थित कर दिया था। उसके बाद, जब युगकी जाग्रति कुछ और ज्वलन्त हो गयी तब 'शेष प्रश्न' मे उनका विद्रोह ही एकच्छत्र हो गया। गृहदेवियोके जिस समाजमे शरद गार्हस्थिक आस्थावान् थे, उस समाजमे उन्हे गृहस्थ होनेका सौकर्य नहीं मिला। सामाजिक व्यवस्थाकी यह कैसी विडम्बना है! शरद आजीवन अविवाहित योगी बने रहे। समाजके दावानलमे दूर्वादलकी तरह झुलसते रहे, फिर भी शरदने अपने हृदयकी हरीतिमा (गार्हस्थिक निष्ठा) नहीं छोडी, यही उनकी साधना है। किन माँ-बहिनोके आँसुओने उनके जीवनको इतना आर्द्र बना दिया था! रूढ़ि-ग्रस्त समाजको आर्थिक और मानसिक दासताने सङ्कीर्ण बना दिया है।

शरद शुरूसे मानसिक दासताके विरुद्ध पुरुष-कण्ठसे बगावत करते आये थे, 'शेष प्रश्न'मे उसी बगावतका स्वर उन्होने नारीके कण्ठसे भी ओजस्वी कर दिया। इसके बाद, यदि वे जीवित रहते तो शायद आर्थिक दासताके विरुद्ध भी जेहाद बोलते। इस भूमिमे वे समाज-वादी होते। शुरूसे ही शरद जीवनकी सबजेक्टिव सतहके कलाकार थे, विन्दुमे ही वे सिन्धु (आबजेक्टिव) को उपस्थित करते थे। हॉ, 'शेष प्रश्न' मे भी उसी सतहपर है किन्तु यहॉ आकर सबजेक्टिवको देखनेका उनका दृष्टिकोण बदल गया—पहिले वे प्रज्ञानकी ओर थे, अब विज्ञानकी ओर हो गये। वे जीवनकी आप्त आस्थाओसे बहिर्भूत हो गये। गान्धी-रवीन्द्र वटवृक्षकी शाखाओकी तरह जिस आर्ष सामा-जिक सूत्रको पकड़े रहे उसे छोडकर शरद एकदम वास्तविकताकी धरतीपर आ गये।

नारीका नवीन व्यक्तित्व

आजकी वैज्ञानिक प्रगतियोको लक्ष्य कर बापू कहते हैं—'तेजीसे चलती हुई चीजोपर विश्वास नहीं है'। क्यो?—शायद तेज चीजें अपनी उतावली रफ्तारसे अहित कर बैठती है। कल तक शरद भी यही कहते, क्योंकि तब वे भी विद्रोही होते हुए जीवनके गतिधीर पथिक थे। किन्तु 'शेष प्रश्न'मे वे ही शरद शिवानीके मुखसे कहते है—'तेजीका भी एक भारी आनन्द है, क्या गाडीकी और क्या इस जीवनकी। मगर जो डरपोक हैं, वे नहीं चल सकते। वे सावधानीसे धीरे धीरे चलते है। साचते है, पैदल चलनेका कष्ट जो बच गया वही उनके लिए काफी है। मार्गको धोखा देकर वे खुश है, अपनेको धोखा देनेका उन्हे भान ही नही होता।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि शरद भी प्रगतिवादी हो गये जिसके भीतर उनका नवीन समाजवादी रूप उसी प्रकार प्रच्छन्न है जैसे उनकी वैष्णवतामे उनका शैव-रूप प्रच्छन्न था। यहाँ तक पहुँचकर शरदका दृष्टिकोण जीवनकी सबजेक्टिव सतहपर ही केन्द्रित न रह जाता, बल्कि वह आबजेक्टिव-सतहपर जाकर स्पष्टतः समाजवादी हो जाता। किन्तु शुरूसे ही शरदकी कलाकी यह खासियत है कि वह सजेस्टिव दृष्टिकोण लेकर चली है। पिछली रचनाओमे वैष्णवी आस्थाओको अङ्गीकार कर जिस प्रकार वे शैवत्वको दरसाते आये है, उसी प्रकार आबजेक्टिव सतह (समाजवादी सतह) पर बुद्धिवादको निग्रहका निर्देश भी करते। बुद्धिवादिनी शिवानी भी जीवनमे निग्रहको लेकर चल रही है। शरदने 'शेष प्रश्न'मे जीवनके स्वाभाविक उपभोगोको मनुष्य रहकर ही उपभोग करनेका सङ्केत किया है। हाँ, जीवनका आनन्द पाशव (विलास) न बन जाय, वह मानवीय (उल्लास) बना रहे, शिवानीके चरित्रमे यह सङ्केत गर्भित है। अपने बौद्धिक चिन्तन द्वारा समाजकी निर्जीव रूढियोसे बहिर्भूत होकर शिवानी जीवनके मुक्त पथमे विलासिनी नही, उल्लासिनी है। उसके आहार-विहार व्यवहारमें अन्तर्विवेक है, वह राजहसिनी है।

'देवदास'की पार्वतीको शरद अपने हृदयमे स्थापित कर जीवन-पथपर चले थे। इतने दिनों शरद जिस नारी-हृदयको लेकर चल रहे थे उसमें शिवकी ज्वलन्त शक्ति फूँककर उन्होने पार्वतीको शिवानी बना दिया, उनकी पुरानी गार्हस्थिक निष्ठा दक्ष-सुताकी तरह भस्म हो गयी। पार्वतीकी उन्होने उपेक्षा नही की, किन्तु इस बार पार्वतीको वेदनामे ही सुखकी तपस्या करनेके लिए उत्साहित नहीं होने दिया। बाहरसे बन्द होकर भीतरसे जो सती-दाह चल रहा था, 'शेष प्रश्न'मे

शरदने उसीकी रोक थाम की। फलतः, पार्वतीको शिवानीके रूपमे आसक्तिका एक नवीन व्यक्तित्व मिला। नारी अब भी वही मानवी है, किन्तु वह वैष्णवोकी राधा न रहकर शैवोकी भवानी हो गयी है। वह जीवनकी साधना जीवन्मृत होकर नहीं, जीवनमयी होकर करती है। वह अब करुणाकरकी करुण प्रतिमा नहीं, सच्चिदानन्दकी ज्योतिष्मती है। वह सामाजिक अभिशापो या नैतिक रूढ़ियोको ही वरदान बनाकर सन्तुष्ट नही हो जाती।

प्रेयोन्मुख श्रेय

शरदको यदि हम एक शब्दमे ग्रहण करना चाहे तो वे मानववादी थे। 'शेष प्रश्न'मे शरदका मानववाद खुल पडा है। पहिले उनका मानववाद श्रद्धाके सूक्ष्म पार्श्वोंसे आवेष्टित था, इसमे आवेष्टन हट गया है। इसमे है शरद जीवनके लौकिक दार्शनिक। ऐसे व्यक्ति गान्धीवादके भी श्रद्धालु होते है और समाजवादके भी पारखी; जवाहरलालकी भॉति। हॉ, वीतराग न होनेके कारण उनका रुख समाजवादकी ओर अधिक उन्मुख रहता है। शरदकी तरह लौकिक दार्शनिक न होते हुए भी रविबाबू वीतराग नहीं थे, फलतः वे भी समाजवादकी ओर उन्मुख थे। सामाजिक सौख्यके लिए रजोमुख-तमोमुख दोनो कोटिके प्राणी समाजवादकी ओर उन्मुख होते हैं, क्योकि उनमे लोकैषणा रहती है, किन्तु रजोमुख सत्वमुखका भी महत्त्व समझता है, क्योकि उसमे दृष्टि-दारिद्र्य नहीं होता। इसके विपरीत तमोमुख अपने अहम्मे कूप-मण्डूक रह जाता है। प्रगतिशील साहित्यकी रचनामे इस समय दोनो ही प्रकारके व्यक्तित्व अग्रसर है। पिछली पीढीके कलाकारोमे रवीन्द्र और शरद रजोमुख साहित्यिक थे—रवीन्द्र थे भावुक, शरद थे व्यावहारिक। रवीन्द्रने

जीवनको सङ्गीतके माध्यमसे जाना था, शरदने दैनिक वार्त्तालापसे। फलतः, दोनोकी कलाकारितामे सूक्ष्म और स्थूलका अन्तर है, किन्तु कल तक जीवनका लक्ष्यविन्दु दोनोका एक था—श्रेयोन्मुख प्रेय। कलाकार होनेके कारण दोनोने श्रेयके साथ प्रेय—माया—को सयुक्त कर दिया था। रवीन्द्रनाथने भक्तकी दृष्टिसे श्रेयोन्मुख प्रेयको साहित्यमे मूर्त्त किया था, शरदने गृहस्थकी दृष्टिसे।

किन्तु 'शेष प्रश्न'से शरद रवीन्द्रकी सामाजिक एकसूत्रता टूट जाती है, शरद प्रेयोन्मुख श्रेयकी ओर चले गये, अबतकका सारा क्रम उलटकर। असलमे शरदने 'शेष प्रश्न'मे एक यूटोपिया देनेकी कोशिश की है। यूटोपियन उपन्यास उन्होने अबतक लिखा नहीं था, यही शायद उनका पहिला यूटोपियन उपन्यास है। उनके पूर्ववर्त्ती रवीन्द्रनाथ कवि होनेके कारण स्वभावसे ही यूटोपियन थे। कलाके हृदय-कोमल आलोकमे उन्होने 'गौरमोहन' नामक यूटोपियन उपन्यास साहित्यको दिया था, उसी वातावरणको लेकर शरदने कलाके बुद्धि-प्रखर प्रकाशमे 'शेष प्रश्न' दिया। जैसा कि ऊपर सङ्केत है, रवि थे भावुक, शरद थे व्यावहारिक। अपनी भावुक सूक्ष्म दृष्टिसे रवीन्द्रने 'गौरमोहन'मे आध्यात्मिक विश्व-मानवको जन्म दिया, अपनी व्यावहारिक स्थूल दृष्टिसे शरदने सामाजिक विश्व मानवीका दर्शन कराया। इस प्रकार अपने समयकी धार्मिक सतहसे रवीन्द्रनाथ ऊपर उठे, अपने समयके सामाजिक धरातलसे शरच्चन्द्र।

परिणति

गान्धी, रवीन्द्र, शरद आज हमारे सामने इस प्रकार आते है—

गान्धी (श्रेय), रवीन्द्र (श्रेय+प्रेय—मानो 'गीताञ्जलि' और

'उर्वशी'), शरद (प्रेय—'शिवानी')। श्रेय है गान्धीवाद या अध्यात्मवाद, श्रेयके साथ सम्बद्ध है रवीन्द्रनाथका प्रेय मानों अरूपके साथ रूप (सौन्दर्यवाद या भाववाद); रवीन्द्रनाथके प्रेयसे भिन्न है शरदका प्रेय (बौद्धिक यथार्थवाद)। इस प्रकार हम देखते है कि रवीन्द्रनाथ सत्यको सौन्दर्य देते है, शरच्चन्द्र सौन्दर्यको शरीर। शरीरसे यहाँ अभिप्राय है अपने तन-मनमे निर्मित जीवित मनुष्य। जीवनकी बुनियादी सतहपर श्रेय रवीन्द्रसे आधार पाता है, प्रेय शरदसे। कलतक कला-जगत्के प्रतिनिधिकी हैसियतसे रवीन्द्र और शरद दोनो गान्धी (श्रेय) के प्रति प्रश्नोन्मुख हो सकते थे। श्रेयको शीर्ष-स्थानीय रखकर रवीन्द्र नाथका कहना था—

"वसन्तमे वन-उपवन आदिके बीच फूलोके फूलनेका समय उपस्थित होता है। वह उनके हृदयके स्वाभाविक विकासका महोत्सव होता है। उस वक्त आत्मदान करनेके आनन्दमे वृक्ष, लता आदि पागल हो उठते हे। तब विधि-विधानकी ओर उनका ध्यान नही रहता। जहाँ दो फल लगने होते हैं वहाँ पच्चीस कलियाँ निकल आती है। तो क्या मनुष्य ही इस प्रवाहको रोक देगा? तो क्या मनुष्य अपनेको न फलने देगा और आत्मदान करना भी न चाहेगा?...वसन्तके गूढरस-सञ्चारके द्वारा विकसित तरु, लता, पुष्प, पल्लव आदिसे क्या हम लोगोका कोई सम्बन्ध नहीं है?"

इस प्रकार रवीन्द्रनाथका प्रेय श्रेय के लिए है, उनके प्रेयमे ही श्रेय अन्तगर्भित है। किन्तु शरच्चन्द्रने मानो रवीन्द्रनाथ (भावात्मक प्रेय)के प्रति भी प्रश्नोन्मुख होकर यह 'शेष प्रश्न' (यथार्थ प्रेय) दे दिया है। 'आत्मदान' की शरदने कभी अवहेलना नही की, इस समय भी नहीं करते। विना आत्मदानके तो जीवन पशुओकी तरह आत्मलोलुप हो

जायगा। किन्तु आत्मदानका जो रूढ सामाजिक रूप है वह मानवताको प्रेयसे वञ्चित कर हेय कर देता है; इस स्थितिमे आत्मदान वरदान न होकर अभिशाप हो जाता है। पार्वती और देवदास दोनो ही तो आत्म-दान लेकर चले थे, किन्तु श्रेयके रूढ़िवादी समाजने उनके जीवनका कैसा सङ्घटन किया! दुःशील समाजकी श्रेयोपासना ऐसी ही है जैसे होलीकी चितापर जीर्णकालका कूड़ा-कर्कट जलानेके बजाय नवजीवनके कलि-कुसुमोकी आहुति। समाजद्वारा प्रज्वलित इस अवाञ्छित अग्नि-काण्डमें नवल जीवनकी आहुति दे देना ही क्या मानवताकी तपस्या है? क्या यही आत्मदानकी साधना है?—

'मत कहो कि यही सफलता
कलियोंके लघु जीवनकी,
मकरन्द भरी खिल जायें
तोड़ी जायें बेमनकी!' —'प्रसाद'

यह सामाजिक दुष्कृत्य किसीको अभिप्रेत नहीं हो सकता—न गान्धीको, न रवीन्द्रको, न शरदको। समाजमे वस्तुतः श्रेय (आत्मदान) तो है ही नहीं, जो है वह केवल धर्मभीरुता है। समाज एक ओर धर्मके रूपमे अलौकिक विडम्बना लेकर चल रहा है, दूसरी ओर कर्मके रूपमे लौकिक विडम्बना—वह प्रेयको भी ठीक तरहसे ग्रहण नही कर सका है। इस दिशामे गान्धीने श्रेयका शुद्ध रूप दिया, शरदने प्रेयका शुद्ध रूप। यो कहे, एकने श्रेयका सामाजिक कायाकल्प किया, दूसरेने प्रेयका। गान्धीसे श्रेयको और शरदसे प्रेयको व्यावहारिक आधार मिला; रवीन्द्र-नाथसे श्रेय और प्रेयको रसात्मक आधार।

बापूने जीवनको निर्वाणका रूप दिया, रवीन्द्रने निर्माल्यका रूप, महत् (श्रेय)के लिए उत्सर्ग कर जगत् (प्रेय) को उन्होने

भगवत्प्रसाद बना लिया। बापूने उत्सर्गको केवल उत्सर्ग बने रहने दिया, रवीन्द्रने उत्सर्गको निसर्ग भी बना दिया। जीवनका यही निर्माल्य-रूप शरद भी लेकर चले थे, अन्तर यह था कि रवीन्द्र प्रकृतिस्थ थे, शरद विक्षुब्ध। रवीन्द्रमे शैशवका उल्लास था, शरदमे यौवनका उच्छ्वास। रवीन्द्रने 'काबुलीवाला' कहानीमें जिस शिशु-बालिकाको अपने लाड-प्यारकी चूड़ियॉ पहनायी, जिसे दीर्घ कालके बाद उसके तारुण्यमे उसे पहिचान न सके, वह बालिका ही तो पहिले श्रेयोन्मुख होकर 'पार्वती' बनी, फिर प्रेयोन्मुख होकर 'शिवानी' हो गयी। रवीन्द्रने वस्तुजगत् (प्रेय जगत्) को जिस बाल्यकाल (भाव-युग) मे छोडा था उसके विकास-कालकी जीवन-धाराएँ शरदने दीं। 'शेष प्रश्न'के शरदने जीवनके वेदनाच्छन्न निर्माल्य (अभिशप्त भगवत्प्रसाद) को वरदान (उल्लास) बना देनेके लिए देवताको मनुष्यकी पीठके पीछे कर दिया, मनुष्यके मुखको आगे। यो कहे, वे परमात्माकी अपेक्षा आत्मापर निर्भर हो गये।

शरद्का गन्तव्य

तो 'शेष प्रश्न' मे शरद मानवताका नवीन सामाजिक दृष्टिकोण लेकर आये है। समाजके नैतिक धरातलपर छाये हुए अन्धविश्वासके कुहासेको छिन्न-भिन्न कर शरदने उसके मानवीय विवेक (अन्तर्ज्योति) को ही प्रशस्त कर दिया है, न कि उसकी पाशविक लिप्साओको उन्मुक्त। उनके तब और अबमे यह अन्तर है कि पहिले वे वैष्णव थे, अब शैव हो गये ; शैव—जिसके सृजनके मूलतत्त्व वही सत्यम् सुन्दरम् हैं जो वैष्णवोंके है किन्तु वह पुरातनको पतझड़का ध्वस देकर नवजीवनका आविर्भाव करता है। सृजन, सिञ्चन, संहार, सृष्टिके इस त्रिविध क्रममे संहार ही हमारे

जीवनका उपसहार बना हुआ था। सृजनमे था आत्मपीडन, सिञ्चनमे था रुदन, सहारमे था पीडन और रुदनका निष्कर्ष—अभिशाप। युगके नवीन साहित्यकारने इस प्रचलित जीवन-क्रमको उलटकर सृजन और सिञ्चनका नूतन श्रीगणेश किया। शरद अब भी है उसी उत्सर्गशील मानवताके कलाकार जिसे वे पुराने चित्रपट (समाज) पर विरोधी रङ्गो —श्रद्धा और विवेक—से चित्रित करते आये है, 'शेष प्रश्न' मे नये चित्रपटके लिए इनमेसे सिर्फ एक ही रङ्ग—विवेक—को गाढा कर दिया है। यह एकरङ्गा क्रान्तवर्ण चित्र शिवानीके व्यक्तित्वका है जो पिछले चित्रोके ग्रूपसे निकल कर नये चित्रपटके लिए कदम बढा रही है। केवल कदम बढा रही है, उसके लिए शरद चित्रपट (समाज) प्रस्तुत नहीं कर गये। शिवानी किधर जाती ?—समाजवादकी ओर या गान्धीवादकी ओर ? उत्तर ऊपर दिया जा चुका है।

सन्धि-युग—लोकायतनकी ओर

हम कहे कि 'शेप प्रश्न'मे शरदने नैतिक-युगके अन्तर्जगत्‌का पोस्ट-मार्टम किया है, समाजवादने राजनीतिक युगके बहिर्जगत्‌का। एक मनुष्यके मनोलोकका वैज्ञानिक है, दूसरा शरीर-लोकका। दृष्टिकोणोमे भिन्नता होते हुए भी दोनोंकी जॉचका निष्कर्प एक है—पुराने सामाजिक ढॉचेका विसर्जन। शरदकी दृष्टिसे उस ढॉचेमे मानसिक स्वतन्त्रताका अभाव हो गया है, समाजवादकी दृष्टिसे शारीरिक सुविधाओका। समाजवाद जिस वस्तुका अभाव देख रहा है उससे शरदका मतभेद नहीं है, किन्तु इसीको मनुष्यता मानकर रूढ़िवादी समाज आदर्शोंके नाम-पर जो आत्मप्रवञ्चना करता आया है, उसीको शरदने वास्तविकताके प्रकाशमे स्पष्ट कर दिया है। समाजके मूलतलमें है रोटी और सेक्स,

५

इसीको जीवन और प्रेम मानकर समाज एक ओर नैतिक छल करता आया है, दूसरी ओर इसीकी विषमता फैलाकर राजनीतिक छल। समाज मनुष्यत्व—जीवन और प्रेम—को तो पा नहीं सका, साथ ही पशुत्व —रोटी और सेक्स—को भी दुर्लभ कर बैठा। यह सृष्टिका अवरोह-काल है। आरोह-कालमें मनुष्य दैवी (आध्यात्मिक) संस्कृति तक पहुँचा था, अवरोह-कालमें पशु-कोटिसे भी नीचे चला गया है। उसका विकास-क्रम स्खलित हो गया है, उसे पुनः पशु (प्राकृत)से मनुष्य, मनुष्य (सुसंस्कृत)से साधक, साधक (तत्त्वदर्शी) से कवि (भावदर्शी) बनना है।

आजका अवरोह-काल विकासकी सभी कोटियोंका सन्धि-युग बन गया है। इस युगमें प्रकृतवाद—समाजवाद—भी है, मानववाद भी है, अध्यात्मवाद भी है, भाव-(स्वप्न)-वाद भी है। इस तरह हम देखते हैं कि अबतकका इतिहास लुप्त होनेके पहिले विश्व-विमर्श कर रहा है, लोकायतन—सन्तुलित सृष्टि—के लिए जीवनके सभी उपादानों —विभिन्न वादों—को उसने एकत्र कर दिया है। इनमेंसे किसी 'वाद'की अवहेलना नहीं होनी चाहिये, अन्यथा सङ्ग-भङ्ग हो जायगा। ये विभिन्न-वाद सृष्टि-विकासकी विभिन्न श्रेणियाँ हैं, ज्यों-ज्यों हम श्रेणियोंको पार करते जायँगे त्यों त्यों वे बिना किसी विरोध-अवरोधके हमारे लिए स्वतः समाप्त हो जायँगी। इस युगमें अशान्ति इतनी अधिक इसलिए बढ गयी है कि हममें विरोध-अवरोधका ही कोलाहल प्रबल हो गया है, एक दूसरेके प्रतिनिधित्वको समझनेकी सहयोगी वृत्तिका अभाव हो गया है। इस प्रकार तो निष्ठुर इतिहासके दिये हुए सुअवसरको हम खो देंगे।

तो, समाजवाद प्रकृतवादकी श्रेणीमें है, शरद मानववादकी श्रेणीमें, बापू अध्यात्मवादकी श्रेणीमें, रवीन्द्रनाथ भाववादकी श्रेणीमें। ये ही हैं

भावी-युगके लोकायतनके समाज द्वार (समाजवाद), संस्कृति-द्वार (मानववाद), ज्योति-द्वार (अध्यात्मवाद), कला-द्वार (भाववाद)।

समाज-द्वार

प्राणी इस समय अपने समाज-द्वारपर खडा है। वह मनुष्य है या पशु ?—

> 'स्तब्ध, मूक, जड रूप खडा वह,
> करे शिकायत क्या किससे ?
> मानव है या वृषभ-सहोदर
> उपमा इसकी दे जिससे !'

निःसन्देह मनुष्य आज पशु है। कुछ अंशोमे मनुष्यकी स्थिति पशुसे भी विकट है। आवरणके आच्छादनसे ढँककर मनुष्यकी पशुता उसके भीतर तक व्याप्त हो गयी है, वहाँ वह उसीको आहत कर रही है। जिस कृत्रिम लोकलज्जाका आवरण वह अपनी पशुतापर डाले हुए है, पशु उससे निश्चिन्त दिगम्बर है। -किन्तु मनुष्य अभी अपनी (पशु) स्थितिको ठीक ठीक न समझनेके कारण कृत्रिम आत्ममर्यादाका अभिशाप झेल रहा है। आखिर मनुष्यकी यह हालत क्यो ?—

> 'किसने यो कर दिया उसे है मृत-सा हर्ष-निराशासे ?
> व्याकुल नही शोकसे होता और प्रफुल्लित आशासे !'

आज पूँजीवादके भस्मासुरने मनुष्यताको जलाकर उसके क्षुधित कङ्कालको बाहर कर दिया है। जीवन जड-धातुओपर आमिषकी तरह तुल रहा है। इस दुर्भिक्ष-युगमे मनुष्य निःसन्देह अपनी आवश्यकताओंमे

पशुतर हो गया है, उसकी आवश्यकताएँ उसके कङ्कालकी तरह ही स्पष्ट हो गयी हैं—रोटी और सेक्स। पूँजीवादने इसीका बैलेन्स बिगाड दिया है। समाजवाद बिना किसी आडम्बरके रोटी और सेक्सकी सचाई पेश करता है। यह ठीक है कि रोटी और सेक्सकी सुविधा पा जाना ही मनुष्यका एकमात्र जीवनोद्देश्य नहीं है; किन्तु अभी तो उसमे जीवन ही नहीं है, फिर उद्देश्य कहाँसे हो! आज जहाँ कोई प्रबल पशु है, कोई निःसम्बल-पशु, वहाँ इस विषमताको मिटाकर मनुष्यको पहिले प्रकृतिस्थ प्राणी बनाना समाजवादका लक्ष्य है। मनुष्य यदि ठीक अर्थमे सन्तुलित-पशु भी बन सके तो आगेके विकासकी वर्णमाला प्रारम्भ करनेके लिए वह एक सुस्थ स्थिति प्राप्त कर सकता है, और तभी वह मानवताके उच्चतम स्तरों—संस्कृति और कला—की ओर भी अग्रसर हो सकेगा। प्रकृतवादके तीक्ष्ण प्रकाशमे समाजवाद रोटी और सेक्सके जिस नैतिक आडम्बरका उद्घाटन करता है, 'शेष प्रश्न' मे शरदने भी वही उद्घाटन अपने ढङ्गसे किया है। शरदका व्यङ्ग यह है कि समाज इसी आडम्बरको मानवीय गौरव देकर चल रहा है जब कि उसमे मानवताकी सद्वृत्तियाँ खो गयी है—स्नेह, सहानुभूति, उत्सर्ग।

जिस रोटी और सेक्सके अभाव-भरावको ही समाज सम्भ्रान्तताका मापदण्ड बनाये हुए है, शरद उस मापदण्डको खण्डित करते है। वह तो खालिस राजनीतिक—आर्थिक—प्रश्न है जिसे समाजवाद उपस्थित करता है। आजकी वास्तविकताको दोनोने चित्रित किया है किन्तु समाजवाद जब कि राजनीतिक स्वास्थ्यका प्रतिनिधि है, शरद नैतिक स्वास्थ्यके निर्देशक।

जिस प्रकार समाजवादके आगेके युग-निर्देशक शरच्चन्द्र (मानववाद) हैं उसी प्रकार शरच्चन्द्रके आगेके युग-प्रदर्शक गान्धी (अध्यात्मवाद) और रवीन्द्र (भाववाद) है। समाजवाद शरदके युगके

लिए क्षेत्र प्रस्तुत करता है, शरद गान्धीयुगके लिए, गान्धी भाव-युग-के लिए। इस विकास-क्रममे हम समाजवादकी मान्यताओपर ही नहीं रुक जायँगे, बल्कि वह हमारे पुनर्विकासकी पहिली सतह बनेगा। इस प्रकार हम न तो उसकी उपेक्षा करेंगे और न उसके आगेकी सतहोकी।

भावी युग—कविका युग

समाजवाद वस्तु-प्रवण है, गान्धीजी नीति-प्रवण, रवीन्द्रनाथ भाव-प्रवण; क्या शरदको इन सबकी समष्टि कहे? मूलतः वे भी वस्तु-प्रवण है, अतएव यथार्थवादी दृष्टिकोणमे समाजवादी अभिव्यक्तियोंसे उनका कुछ साम्य है, किन्तु समाजवाद जिस पृथ्वी (वास्तविकता) की विषमताको समतल करना चाहता है उस पृथ्वीकी उर्वरता (विकास-शीलता) को भी उन्होने अपनी आस्थाएँ दी है, इसलिए नैतिक और भावुक न होते हुए भी शरदमे गान्धी और रवीन्द्रकी अभिव्यक्तियाँ भी मिलती रही है। असलमे वे समाजवादी युग और गान्धी-रवीन्द्र-युगके बीचमे एक मीडियम है।

हाँ, 'शेष प्रश्न' मे शरदकी सुकुमार श्रद्धा भङ्ग हो गयी, केवल विद्रोह प्रमुख हो गया। शरदने देखा कि दुर्भिक्ष पीडित युगकी गोमाता (संस्कृति) केवल श्रद्धा और आदरकी फूलमाला पहनकर नहीं जी सकती, उसे भी आहार विहार चाहिये। फलतः वे समाजको समाजवादी समस्यामे छोडकर चले गये। जिस सामाजिक विद्रोहको वे सजग कर गये है वह निर्बन्ध है, परम्परासे बँध नहीं पाता। ऐसी ही मनःस्थितिमे एक बार जवाहरलालको कहना पडा था—'मेरा दिमाग आवारा है, उसमे जङ्गलीपन है, वह बाँधनेसे बँधता नहीं'। किसी स्वस्थ समाजको पानेके लिए इन शब्दोमे कितनी छटपटाहट है! समाज के कल्याणके लिए ऐसे आवारा

बराबर बने रहेंगे—उत्तरोत्तर पूर्णताकी ओर अग्रसर होते रहनेवाले समाजके नुक्सको समय-समयपर सूचित करते रहनेके लिए।

तो, शरद हैं आत्माके आवारागर्दो (निष्ठावान सामाजिक विद्रोहियो) के कलाकार, रवीन्द्र है आत्माके राजकुमारो (शिशु-हृदय प्राणियो) के गीतकार, बापू है आत्माके फकीरोके दार्शनिक।

एक और व्यक्तित्व हमारे सामने है, वह है श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुशीका। यह गुर्जर व्यक्तित्व आत्माके गृह-कुमारो (संस्कृतिके गृहस्थ-तरुणो) का प्रतिनिधि है—कोमल शुभ्रताका ऊर्जस्वी रूप। भारतके भावी युगका साहित्य और प्रजाजन गुजराती व्यक्तित्वमे भी निहित है।

अनेक वादोके समूहमे पूँजीवाद है नैतिक और राजनीतिक दस्यु, समाजवाद है सन्तरी, शरद है गृहस्थ, बापू है वानप्रस्थ, रवीन्द्र है स्वप्नदर्शी। इस तरह समाजवाद है सरक्षक, शरद है सामाजिक प्राणी, बापू है मन्त्रोपदेष्टा, रवीन्द्र है युग-द्रष्टा। रवीन्द्रका ससार पन्तकी 'ज्योत्स्ना' का ससार है—जीवनकी सभी मनोरम सुन्दर निधियोका ससार, जहाँ—

'गौर-श्याम तन, बैठ प्रभा-तम
भगिनी-भ्रात सजात;
बुनते मृदुल मसृण छायाञ्चल
तुम्हें तन्वि! दिन-रात।'

विज्ञानमे रहता है सृष्टिका कलेवर, काव्यमे रहता है सृष्टिका स्वारस्य। वैज्ञानिक सतह पार कर भावी युग कविका युग होगा, वहीं पहुँचकर विश्व-मानव कविके कण्ठसे कण्ठ मिलाकर नये युगकी पुलकावलियोंमें गायेगा—'जग मधु-छत्र विशाल।'—बापूके मन्त्र उसी युगको अभिषिक्त कर रहे है।

शरच्चन्द्र : 'शेष प्रश्न'

शरदका 'शेष प्रश्न' कल सुबह ही मैंने समाप्त किया है। मेरे पढने-की रफ्तार बहुत धीमी है, अगर दो महीनेमे भी एक पुस्तक पढ लूँ तो बहुत समझिये। यह नहीं कि पढनेकी ओर रुचि नही है, परिस्थितियोकी चञ्चलता तथा समयपर अच्छी पुस्तको अथवा सङ्गी-साथियोके अभावने जीवनको सब तरफसे वञ्चित कर दिया है। किन्तु शरद बाबूका 'शेष प्रश्न' मै दो दिनमे ही पढ गया। इसका यह मतलब नहीं कि यह इतना रोचक उपन्यास है कि इसे इतनी जल्दी समाप्त कर सका। यह तो इतना रूखा उपन्यास है कि किसी तरह एक बार पढ लेने पर दूसरी बार पढनेको जी नहीं चाहता। यह तो उपन्यास नहीं, जीवनका अङ्कगणित है।

शरद बाबू मानव-जीवनके आचार्योंमेसे एक है, वे चाहे जो दे उसे हमे पढना ही होगा। अतएव, रोचकताके लिए नहीं, जीवनके पोषक तत्त्वोको हृदयङ्गम करनेके लिए इसे मुझे पढना ही पडा।

शरद और उनके कृतित्वमे रूखापन! उनके अन्य उपन्यास तो बडे सरल-तरल है, फिर उनका यह 'शेषप्रश्न' इतना जटिल और रुक्ष क्यो है? असलमे शरदका यह उपन्यास उनके शेष वयका सामाजिक वसीयतनामा है, अतएव यह बहुत ही 'मैटर आफ फैक्ट' हो गया है। 'शेष प्रश्न'के पूर्व शरद वैष्णव (भावुक आइडियलिस्ट) और शैव (घोर यथार्थवादी) दोनो थे, किन्तु इस उपन्यासमे तो वे एकदम शैव हो गये हैं। पिछले उपन्यासोमे उनके यथार्थवादकी गाँठे खुली हुई थीं, किन्तु वे इस उप-न्यासमे इतनी उलझ गयी है कि खोले नही खुलतीं। जितना ही खोलते

हैं उतना ही उलझन बढ़ती जाती है। इसकी जटिलता साहित्यिक छात्रो-के लिए ही नही, साहित्यके अध्यापकोंके लिए भी दुर्भेद्य है। यह उपन्यास तो उच्चकोटिके कलाकारोके लिए है, रविबाबूके 'चार अध्याय' की तरह।

कलात्मक गूढ़ता

उनके पिछले उपन्यास चित्रण-प्रधान है, 'शेष प्रश्न' विश्लेषण-प्रधान। चित्रण और विश्लेषण उपन्यास-कलाके दो उपादान है—एकके द्वारा मन प्रत्यक्ष होता है, दूसरेके द्वारा मन्तव्य। यो कहें कि चित्रणमे चरित्र अन्तर्मुख रहता है, विश्लेषणमे बहिर्मुख। अपनी बहिर्मुखी सीमामे यह उपन्यास मुख्यतः गोष्ठी-सलाप बन गया है।

इसकी कथन-शैली भावात्मक है, छायावादकी तरह। किन्तु भावात्मक होते हुए भी इसका आधार बौद्धिक है। पहिले उन्होने चरित्रको कलासे ढँक दिया था, इसमे हृदयको बुद्धिसे ढँक दिया है। परमात्म-तत्त्वको सहज बनानेके लिए वैष्णवोने जैसे भावात्मक शैली अपनायी थी, वैसे ही शरदने समाज तत्त्वको सुलभ करनेके लिए यह भावात्मक शैली ली। किन्तु यह उपन्यास अपने बौद्धिक स्तरपर तो जटिल नही हो सका, पर अपनी अभिव्यक्ति (शैली) मे जटिल हो गया है, पहेली बन गया है। यो कहे कि इस उपन्यासमे शरदकी पिछली औपन्यासिक-कला अति अवगुण्ठित हो गयी है। इसमे उनकी पिछली कलाके सभी टेकनीक है—चित्रण, क्रिया-प्रतिक्रिया, रसोद्रेक। पिछले उपन्यासोमे वे इन टेक-नीकोमे मर्मको छिपाये रहते थे, इस बार मर्मको भी छिपाया है और इन टेकनीकोको भी छिपा दिया है, मानो अवगुण्ठनपर अवगुण्ठन डाल दिया है। पहिले उन्होने मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मताको छिपाया था,

इस बार कलात्मक सूक्ष्मताको भी छिपा दिया है। अतएव, मुख्य चरित्र शिवानीका अन्तर्मुख और भी निगूढ हो गया है। शरद बाबूकी शुरूसे ही यह खासियत रही है कि जिसे व्यक्त करना है उसे अव्यक्त रखकर ही व्यक्त कर देते थे। अस्फुटता ही शरदकी कलाका रहस्य है। इसलिए पाठकोको भी अनजाने अन्तर्मुख हो जाना पडता था। इस तरह पाठकों-तक पहुँचनेके लिए कला प्रधान होकर भी गौण हो जाती है। शरद-जैसे कलाकारोको कला बच्चोके लिए किण्डरगार्टनकी तरह है। समय पाकर बच्चे किण्डरगार्टनको तो भूल जाते है किन्तु उससे जो ग्रहण करते है वह जीवनव्यापी हो जाता है। किन्तु इस बार शरदने केवल कलाका माध्यम ही नही लिया है, उसके साथ लैण्टर्न लेक्चरको भी सम्मिलित कर दिया है। विचित्रता यह कि इतनी अभिव्यक्तियोमे भी अभिव्यक्त अज्ञात ही रह गया। पाठकोकी जिज्ञासा-वृत्तिको क्षुधित कर जानेमे ही शरदकी कलाविदता है। वे कलाके पीठस्थविर थे, अभि-व्यक्ति-पर-अभिव्यक्ति देकर भी अभिव्यक्तको पीठकी तरह ओझल ही छोड गये है।

नारीका रूपान्तर

यथार्थवाद (शैवत्व) की दिशामे शरद सामाजिक क्रान्तिकारी रहे है। देवदास, सतीश, श्रीकान्त, इन्द्रनाथ, सव्यसाची उनकी क्रान्तिके प्रतीक हैं। हमारी गृहदेवियोके जीवनमे जो कुछ उज्ज्वल है उसके वे उपासक भी रहे है। किन्तु हमारे समाजकी ऐसी स्थिति है कि नारी क्रान्तमुख होकर नही शान्तमुख होकर चल सकती है; समाजका सारा अन्याय-अविचार विषके घूँटकी तरह पीकर उसे ही अपनी साधनासे अमृत बनाकर वह जी सकती है। शरदने अब तक नारीको उसकी इसी साधनामे छोड़कर

सामाजिक अन्याय-अविचारके विरुद्ध पुरुष पात्रोसे विद्रोह कराया था, इससे न तो नारीका ही उद्धार हुआ, न पुरुषका। नारी अपनी साधनामे तपती रही, पुरुष विद्रोहकी आगमे झुलसता रहा।

आजीवन अपने उपन्यासोमे शरदने नारीको ही महिमामयी बनाकर उपस्थित किया है। नारी अपने सन्तापको अपनी आर्द्रतामे समुद्रके भीतर बाडवकी तरह शान्त रख सकती है, किन्तु पुरुष शान्त नहीं रह सकता, वह भीतर भीतर सुलगता है और एक दिन ज्वालामुखीकी तरह फट पडता है। पुरुषमे सहिष्णुता नही है, नारीमे अथाह सहिष्णुता है। किन्तु जिस दिन नारीकी सहिष्णुता भी भङ्ग हो जाय, उस दिन समझना चाहिये कि सामाजिक अन्याय-अविचार अपनी पराकाष्ठापर पहुँच गया है। अपने पिछले उपन्यासोमें शरदने इस पराकाष्ठाके प्रतिकूल नारीके कण्ठको भी यत्किञ्चित् मुखरित किया है—'चरित्रहीन' मे किरणमयी, 'श्रीकान्त' मे अभया द्वारा उन्होने नारीके सामाजिक विद्रोहको स्वर दिया है। किन्तु शरदकी आदर्श नारियाँ वे थीं जो विद्रोह-रहित, अपनी साधनामे सतत निरत शान्त गृहिणी है। वे मीराकी भाँति महोच्च है। शायद शरदका विश्वास था कि इन गृहिणियोकी साधनासे समाजके पाप-ताप धुल जायँगे, अतएव अपने उपन्यासोमे इन्हे ही श्रद्धापूर्वक स्थापित करके इनके व्यक्तित्वको समाजमे स्थायी बना देने तथा उसीकी ओर जीवनको एकाग्र कर देने-के लिए वे नवचेतन पुरुष-पात्रोसे विद्रोह कराते रहे। किन्तु 'शेष प्रश्न' तक पहुँचते पहुँचते शरदका मन समाजकी ओरसे पूर्ण अविश्वासी हो गया। इतने दिनों तक मरुस्थलमे 'ओएसिस' की तरह नारीके जिस तपःपूत व्यक्तित्वको सँजोये हुए वे जीवनमे चल रहे थे, उसके प्रति भी उनका मन निर्मोह हो गया, एक प्रकारसे उनका स्वप्नभङ्ग हो गया। उन्होने अपनी नयी चेतनामे यह महसूस किया कि समाजको नयी मिट्टी

और नयी खादकी आवश्यकता है। अतएव, समाजके पुराने मरुस्थलको लुप्त करनेके लिए शरदको 'शेष प्रश्न' मे भूकम्प करना पडा। उनका वैष्णव संस्कार पीछे छूट गया, उनका विद्रोही अश सर्वथा शैव होकर आगे आ गया। अब तक शरद पुरुष-पात्रोसे विद्रोह कराते रहे, इस बार 'शेष प्रश्न' मे उन्होने नारीके द्वारा भी सामाजिक विद्रोह कराया। शिवका विषपान पृथ्वीपर अमृत (जीवनकी सुख-शान्ति) को सुलभ नहीं कर सका, अतएव इस बार स्वय नारीको 'शेष प्रश्न' में 'शिवानी' होकर आना पडा। मीरा पीछे छूट गयी, शङ्करी आगे आ गयी। राज-लक्ष्मी, अन्नदा जीजी, सुरबाला, विराज बहू, सावित्री और 'श्रीकान्त'-की कमल पूजाके मन्दिरोमे ही रह गयी, समाजके प्राङ्गणमे अभया और किरणमयीने 'शेष प्रश्न' द्वारा पुनर्जन्म लेकर प्रवेश किया। 'चरित्रहीन' की किरणमयी, 'श्रीकान्त' की अभया और 'शेष प्रश्न' की शिवानी ये तीनो एक ही पात्रियॉ है, केवल भिन्न-भिन्न उपन्यासोमे इनका जन्मान्तर होता गया है, शरद बाबूके विभिन्न समयोंके मानसिक स्तरके अनुसार। हम यह भी देखते है कि 'चरित्रहीन' मे जो सुरबाला किरणमयीपर विजयिनी होती है, 'शेष प्रश्न' मे वही नीलिमा होकर शिवानीके सम्मुख सङ्कुचित हो जाती है। वह उसके व्यक्तित्वके सम्मुख सूर्यमुखी हो गयी है। अभया और किरणमयीके विद्रोहमे केवल आसक्ति है, शिवानीमें भी आसक्ति है; किन्तु उसमें जीवनकी अनाहार वृत्ति (अनासक्ति) का भी समावेश होजानेके कारण उसके विद्रोहमे निर्लिप्त आत्मबल आ गया है। एक प्रकारसे शिवानीके व्यक्तित्वमे शरदने नारीके श्रेय और प्रेयका सशक्त समन्वय कर दिया है।

यह उपन्यास शरद बाबूके जीवनकी सबसे बड़ी हाय है। इतने दिनों तक वे जिस सस्कृति और उसकी सन्ततियो (आर्यबालाओ) को हृदयसे चिपकाये हुए जी रहे थे, 'शेष प्रश्न' मे उन्हे ही मृतवत्सा मॉकी

तरह जलाञ्जलि देकर स्वयं भी इस संसारसे चले गये। मानो उन्हे खोकर वे जी नही सकते थे, साथ ही उन्हे लेकर आजके ससारमे चल भी नहीं सकते थे। आज उनके पिछले उपन्यासोकी समाधिपर शेष है 'शिवानी'—एक उद्दीप्त दीपशिखा। पारुल के लिए, सुरबालाके लिए, अन्नदा जीजीके लिए, सावित्रीके लिए शरद बाबू विकल रहे हैं किन्तु शिवानीके लिए वे विकल नहीं है, क्योकि वह सरला होते हुए भी भोली नही है। उसका नव-विवेक उसकी सुरक्षाका कवच बन गया है। पारुल जैसी कोमलताकी तपस्विनी कन्याएँ पृथ्वीकी नहीं, स्वर्गकी देवियाँ थीं, इसी-लिए शरद बाबू उन्हे अपने साथ ही लेते गये। वे थी आध्यात्मिक युगकी सुकुमार रश्मियाँ। आजके आधिभौतिक युगमे जिस आत्मजागरूक नारीकी आवश्यकता थी उसे शरद बाबू छोड गये है शिवानीके रूपमे।

मानवताकी पृष्ठभूमि

'शेष प्रश्न' को शरद बाबूने ऐसे समयमे लिखा जब समाजवादका स्वर सजग हो गया। उनके पिछले उपन्यास हिन्दू समाजके दायरेमे थे। तब तक वे एक विशेष सास्कृतिक परम्पराके क्रान्तमुख सनातनी प्रजा थे। समाजवादी युगमे जब उन्होने आजके विस्तृत ससारको देखा तब उनके सामनेसे देश, काल और समाजकी सक्षिप्त सीमाएँ लुप्त हो गयीं, समग्र मानव, समग्र विश्व, समग्र समाज और समग्र युग उनके सामने आ गया। फलतः शरदकी सास्कृतिक गङ्गा गङ्गासागरमे जा मिली। 'शेष प्रश्न' की शिवानी भारतीय माता और यूरोपियन पिताकी सन्तति है—पूर्व और पश्चिमका एकीकरण। किसी एक देश या एक जातिकी संज्ञा उसे नहीं दी जा सकती, वह अपनी इकाईमें आनेवाले युगके विश्व-समाजकी नारी हो गयी है।

'शेष प्रश्न' पढ़ने पर हमे रवि बाबूके 'गौरमोहन' का स्मरण हो आया। सन् सत्तावनके गदरमे किसी सङ्कटापन्न अंग्रेज दम्पतीने एक बङ्गाली परिवारके अस्तबलमे अज्ञात रूपसे एक रात आश्रय लिया। वहीं बालक गौरमोहनका जन्म हुआ। गदरसे सन्त्रस्त अंग्रेज दम्पती बालकको जन्म देकर अँधेरे-मुँह अन्तर्द्धान हो गया। बङ्गाली परिवारने बालकको पाला-पोसा और हिन्दू संस्कारोमे उसका विकास हुआ। अपने जन्म-वृत्तसे अज्ञात गौरमोहनका हिन्दू कट्टरपन इतना बढा कि स्वय परिवारके लोग त्रस्त हो गये। वे थे ब्राह्म समाजी, किन्तु गौरमोहनको किसी सन्यासीसे वैष्णवधर्मकी दीक्षा मिल गयी थी। उसके कट्टरपनकी अति देखकर एक दिन बङ्गाली दम्पतीने उसे उसके जन्मका रहस्य बतला दिया। रहस्य ज्ञात होते ही उसकी ऑख खुल गयी। इतने दिनो वह हिन्दू था, अब क्या वह अंग्रेज बनता! उसने अनुभव किया कि यह देश और जाति तो हमारे अभ्यास मात्र है, व्यक्ति तो असलमे है मानव। जिस नवीन बोधोदयके धरातलपर गौरमोहनका पुनर्जन्म होता है, वहीं-से 'शेष प्रश्न' की शिवानीके सस्कारोका आरम्भ होता है।

रवि बाबूने आप्त युगके महामानवको जन्म दिया, शरद बाबूने प्राप्त युगकी महामानवीको। किन्तु रवि बाबूने जिस औपन्यासिक कुशलतासे गौरमोहनका अन्तःसाक्षात् कराया, शरदबाबूने उस खूबीसे हमे शिवानी-के निकट नहीं पहुँचाया। अतएव, उसका चरित्र हमारे सामने जटिल पहेली बन गया है। असलमे 'शेष प्रश्न' उपन्यास है ही नहीं, औपन्या-सिक ढॉचेमे यह एक नवीन समाज-शास्त्र है।

जिस नयी सतहपर आकर गौरमोहन विस्तृत आध्यात्मिक सत्यको पहचानता है उसी सतहपर अवतीर्ण होकर शिवानी विस्तृत सामाजिक सत्यका परिचय देती है। एक अलौकिक साधनाका पथिक है, दूसरी

लौकिक साधनाकी सन्देश-वाहिका। अध्यात्मकी दिशामें शरद नारीकी साधना दिखला चुके थे, इस बार उसे वे क्षितिजसे उतारकर पृथ्वीपर ले चले।

जैसा कि ऊपर कहा है, शरद बाबूने यह उपन्यास समाजवादी युगमे लिखा है। किन्तु समाजवादका जो अर्थशास्त्रीय राजनीतिक रूप है, वह इस उपन्यासका लक्ष्य नही। केवल जीवनकी नैतिक दिशाके सत्-असत्का इसमे नवीन नीर-क्षीर-निरीक्षण है। हम इसे शरदका सामाजिक समाजवाद कह सकते हैं। समाजकी कट्टर रूढ़ियोमे आबद्ध मुस्लिम समाजका नवीन तुर्कीमे रूपान्तर हो गया, किन्तु हिन्दू समाज नवीन भारतका स्वरूप अभी तक ग्रहण नही कर सका है। शरदने 'शेष प्रश्न' मे उसी स्वरूपको पहचाननेका अवसर दिया है।

'बन्धनोंकी स्वामिनी'

आजके युगमे राजनीतिक समाजवाद जीवनके नैतिक पहलुओंको जो नवीन मूल्याङ्कन दे रहा है वही मूल्याङ्कन 'शेष प्रश्न' की शिवानी भी दे रही है। किन्तु वह है नारी। नारी यदि अपने विकासमे पुरुष नहीं हो गयी है तो वह परम्पराओंकी मर्यादा चाहे भले न निभाये, किन्तु सामाजिक स्वतन्त्रताका एक गम्भीर उत्तरदायित्व उसके साथ रहता है। यही उत्तरदायित्व उसका वह बन्धन है जिसमे बँधकर भी वह कह सकती है—'वन्दिनी बनकर हुई मै बन्धनोंकी स्वामिनी-सी।' 'शेष प्रश्न' की शिवानी स्वतन्त्र सामाजिक विचारोंकी नारी होकर भी बन्धनोकी स्वामिनी है। वह मुक्त है, उल्लङ्घ नहीं। बाहर मुखर होकर भी वह भीतर गम्भीर है, उच्छल नहीं। पुरुष अपने लिए कभी बन्धन स्वीकार नही करता, इसीलिए शिशुको जन्म देकर वह उसे नारीकी गृहस्थीमे सौंप जाता है। पुरुषमे अहम् है,

नारीमे ममत्व। पुरुष अपने अहम्मे व्यक्तिवादी है, नारी अपने ममत्वमें समाजवादी। पुरुष तोड़ना (क्रान्ति) जानता है, जोडना नही। केवल नारीका ममत्व ही अपने संयोजनसे व्यक्तियोके समूहको समाज बनाये हुए है। नारी सहज ही क्रान्ति नही करती, किन्तु जब क्रान्ति करती है तो क्रान्तिके बाद निर्माणका भार भी गृहस्थीकी भाँति उसीके कन्धोपर आ पड़ता है। यह वह जानती है, इसलिए बहुत समझ-बूझकर क्रान्ति करती है। जहाँ तक साधनाका प्रश्न है—नारी समाजके सौ बन्धनोमे भी अडिग है; किन्तु पुरुष है अधीर, स्वभावसे ही वह पलायनवादी है। यदि पुरुषमें भी कहीं कुछ साधना है तो नारीके कारण ही। साधना ही जिसका सर्वस्व है यदि उस श्रेणीकी नारी क्रान्तमुख हो उठे तो समझना चाहिये कि सचमुच ही क्रान्ति अनिवार्य हो गयी है। सामाजिक क्रान्तिकी दिशामे अपनी अभीष्ट नारी (शिवानी) को आगे लाकर शरदने मानो यह सङ्केत किया है कि क्रान्तिमें भी नारीके हाथो जीवनकी छन्दोबद्धता बनी रहेगी।

नारीका आधुनिक परिष्कार

अंग्रेजीमे जिसे सामाजिक दृष्टिसे 'फारवर्ड' या 'एडवास' कहते है, 'शेप प्रश्न' की शिवानी वह नही है। यदि 'फारवर्ड' या 'एड-वास' होना ही समाजवादिताका सूचक हो तो सोवियत नारी ही नही, यूरोप और अमेरिकाकी सभी स्त्रियाँ समाजवादी है। किन्तु उन्हे समाज-वादी कहना तो 'समाज' शब्दकी कदर्थना करना होगा। यूरोप और अमेरिकामे तो जीवन केवल जोड़-तोड लेकर चला आ रहा है। व्यक्तिका अहम् आत्मतृप्तिका द्वन्द्व कर रहा है। सोवियत जनसत्ता जैसे उधरके आर्थिक द्वन्द्वोके सन्तुलनका एक राजनीतिक आविष्कार लेकर

चली वैसे ही उधरके सामाजिक द्वन्द्वोके सन्तुलनके लिए भी एक बौद्धिक आविष्कार लेकर। गरीब और अमीर, स्त्री और पुरुष—इन्हींके द्वन्द्वोको लेकर वहाँके सामाजिक प्रश्नोकी समाप्ति है। उपभोगकी विषमता ही वहाँका प्रश्न है और उसीका सन्तुलन वहाँका समाधान। वहाँका सम्पूर्ण दृष्टिकोण वैज्ञानिक है, इसी दृष्टिकोणकी त्रुटियोको पूरा करनेके लिए सोवियत समाजने समाजवादके रूपमे एक नया चश्मा तैयार किया। इस प्रकार भौतिक नेत्रोके ऊपर उसने एक और भौतिक नेत्र लगा दिया। जीवनका प्रकृत प्रकाश उसके लिए अप्राप्य ही रह गया। इधर अपने देशमें महात्मा गान्धी जीवनके प्रकृत प्रकाशको ही पानेके लिए सत्यान्वेषी हो गये। दृश्य जगत्को देखनेके लिए भी प्रकाशका 'पावर-हाउस' उन्हे भीतर ही अदृश्य जान पडा। शरद अपने पिछले उपन्यासो-मे उसी प्रकृत प्रकाशकी उज्ज्वलताको सुरबाला, पार्वती, अन्नदा जीजी और सावित्रीके जीवनमे विकीर्ण करते रहे। किन्तु उनके सभी उप-न्यासोमें एक 'शेष प्रश्न' लगा हुआ था—प्रकृत प्रकाशकी साधनाके अतिरिक्त समाजमे जो अव्यवस्था और व्यतिक्रम आ गया है उसकी ओर देवदास, सतीश तथा अभया और किरणमयी चारित्रिक सङ्केत हैं। वे बुरे नहीं है, किन्तु समाजकी दृष्टिमे बुरे है। समाज जिसे अच्छा समझता है उस अच्छेके लिए वह इन बुरोको भी मार्ग क्यों नहीं देता? असलमे समाजकी अच्छाई ऐसी है कि उसमे ढोग तो है गोपूजा (संस्कृति-पूजा) का, किन्तु हो रहा है मानव-वध। समाज पार्वतीको तो सम्मान देता है, देवदासको उपेक्षा। पार्वतीका सम्मान भी वह उसका जीवन सूना करके ही करता है।

शरद बाबू अपने पिछले उपन्यासोंमें समाजकी श्रद्धा—आदर्श—के सामने यथार्थकी ओरसे शेष प्रश्न उपस्थित करके भी समाजके आदर्शों-

को ही प्रमुख बनाये हुए थे, शेष प्रश्न सामाजिक अत्याचारका चितापर देवदासकी भाँति भस्म होता गया। किन्तु इस 'शेष प्रश्न'मे आदर्शको ही उन्होने चितापर चढ़ा दिया। पिछले उपन्यासोमे जो 'शेष प्रश्न' आदर्शके सम्मुख गौण था वह इस उपन्यासमे शीर्षक होकर आ गया। नवीन समाज-विज्ञानके रूपमे उन्होने आजके बौद्धिक समाजवादको आगे कर दिया। फिर भी 'शेष प्रश्न' की शिवानी सोवियत समाजकी नारी नहीं है, उसका जन्म उसी देशमे हुआ है जिस देशमे अन्नदा जीजी, सुरबाला और सावित्रीने जन्म लिया था। अतएव उसकी सामाजिक स्वतन्त्रतामे आत्मसयमकी गम्भीरता भी है। तभी तो वह प्रीतिभोजोमे इन्द्रियोकी तृप्तिका रसास्वाद नहीं ग्रहण करती। रूखी-सूखी रोटीमे वह अपनी सामाजिक स्वतन्त्रताका रस लेती है, और अपनी सोने पिरोने-की मजदूरीमे जीवनके स्वावलम्बनकी निर्द्वन्द्वता बनाये हुए है। किन्तु यही उसका लक्ष्य नहीं है, तपस्विनियोका यह आदर्श तो उसके एकाकी जीवनका आपद्धर्म है। समाजकी आर्थिक विषमतामे भी समाजवादी नारी किस प्रकार चल सकती है, शिवानीके चरित्रका यह अश इसका दृष्टान्त है। ऐसी नारी यदि सोवियत समाजमे उत्पन्न हो जाय तो वह पार्थिव उपभोगोके लिए ही समाजवादी नहीं होगी, बल्कि मनुष्यकी आत्मचेतनाको सजग रखनेको एक ज्योति बनेगी।

तो, शिवानी सोवियत समाजकी नारी नहीं है, वह तो उस समाज-के आगे एक आदर्श है। शरद बाबूने समाजवादको स्वीकार करके भी उसके प्रति शिवानीके रूपमे एक सजेस्टिव चरित्र उपस्थित किया है। और जब कि शिवानी सोवियत समाजकी नारी नहीं है तब उस अमेरिकन और यूरोपियन समाजकी भी नारी नहीं हो सकती जिसके लिए सोवियत समाज एक आदर्श होकर उदित हुआ। इस उपन्यासकी वेला और

मालिनी यूरोपियन और अमेरिकन समाजकी एडवास लेडियाँ है। वे भी शिवानीके चरित्रके आगे एक ओर छूट जाती है।

'शेष प्रश्न' तक आकर शरदको न तो भारतकी पौराणिक नारी अभीष्ट थी, न रूसकी सोवियत नारी, न यूरोप और अमेरिकाकी फारवर्ड नारी। नवागत समाजमे वे जिस भारतीय नारीको देखना चाहते थे, वही हैं शिवानी। आधुनिक नारीको वे जिस रूपमे चाहते थे, वही है शिवानी। शरदने अबतक पौराणिक समाजके भीतरसे गृह-देवियोको उपस्थित किया था, 'शेष प्रश्न'मे आधुनिक समाजके भीतरसे नारीके नवीन मनोवाञ्छित व्यक्तित्वका दर्शन कराया है। पहिलेकी नारी देवी है, 'शेष प्रश्न'की नारी महामानवी है। आधुनिक नारीकी जो आइडियल प्रतिमा उनके मनमे थी उसीका मॉडल वे शिवानीके व्यक्तित्वमे दे गये। जहाँ स्त्री-पुरुष न केवल स्त्री-पुरुष है, बल्कि सामाजिक प्राणी है, शिवानी उसी धरातलकी मानवी है। एक रात उसके घर ठहर जानेमे पसोपेशमे पडे हुए अजितसे वह कहती है—'सूने घरमे अनात्मीय नर-नारीका सिर्फ एक ही सम्बन्ध आपको मालूम है—पुरुषके निकट औरत सिर्फ औरत ही है, उसके बारेमे इससे ज्यादा कोई खबर आपतक आजतक नहीं पहुँची।' दूसरे स्थलपर वह फिर कहती है—'मै उनकी जातिको नहीं हूँ जो पुरुषके भोगकी ही वस्तु है'।

नारीका ऐसा नवचेतन-व्यक्तित्व हमारे समाजमे अभी तक नहीं जाग्रत् हुआ है। क्या पिछले समाजकी गृहदेवियाँ, क्या नये समाजकी शिक्षिताएँ, सभी अभी तक पुरुषके भोगकी ही वस्तु बनी हुई है। इसीलिए शरद बाबूको यह नवीन मानसी सृष्टि करनी पडी। वह आप्त वाक्योके बजाय सहज स्वाभाविक अन्तःप्रेरणाओंको लेकर चलती है। इस अन्तःप्रेरणाको शरदने मानवका सहज सामान्य ज्ञान

कहा है। किसी नैतिक ढोंगका आश्रय न लेनेके कारण इस तरहका व्यक्तित्व खुला हुआ रहता है, न आत्मछल करता है न लोक-प्रपञ्च। इस दृष्टिसे शिवानी अपने प्रति निश्छल है, और इसीलिए सबके प्रति भी निश्छल है। एक शब्दमे उसके व्यक्तित्वका परिचय यह है 'सहज-सुभाव छुएउ छल नाहीं', इसीलिए उसके व्यक्तित्वमे 'निर्द्वन्द्व सयम, नीरव-मिताचार और निःशङ्क तितिक्षा' है।

हॉ, ऐसा लगता है कि शिवानीका व्यक्तित्व उपन्यासकार-द्वारा परिचालित है, स्वतःचालित नहीं। शरद बाबूने मानो उसे मेस्मेराइज्ड कर दिया है, इसीलिए उसकी बाते स्वप्न-मग्न व्यक्तिकी वक्तृता-जैसी लगती है। शरद उसे मानसिक प्राणी ही बना पाये थे, पिछली गृहदेवियोकी तरह सामाजिक प्राणी नही, फलतः शिवानी अपने जीवनमे सहज होकर भी हृदयङ्गम करनेमे जटिल रह गयी। यो कहे कि शरदने नवीन नारी-व्यक्तित्वका जो मॉडल बनाया वह मॉडल ही बना रह गया, गृहीत चरित्र-चित्र नही। किन्तु इससे शिवानीके व्यक्तित्वकी उपयुक्तता निषिद्ध नही हो जाती। भविष्यके नव-विकसित समाजमे ऐसे व्यक्तित्वको धरातल मिल जाने पर वह अन्य कलाकारोको सहज-सिद्ध हो जायगा।

इस उपन्यासके चरित्र-चित्रोके साराश है – आशु बाबू, शिवानी और अजित। एक और उल्लेखनीय चरित्र है—राजेन्द्र; शक्तिका ज्वलित-पुञ्ज। वह बन्धु हो सकता है, प्रणयी नहीं। इसीलिए नारी शिवानीने उसे उसीके अनुरूप ममता दी।

इसमे वयोवृद्ध आशु बाबू स्वय शरद बाबू है। आशु बाबूके रूपमे शरद शिवानीके मन्तव्योसे विचलित हो-हो जाते है। शिवानी मानो उन्हींकी पिछली औपन्यासिक सृष्टियोको तोड-फोडकर उन्हे नये निर्माणकी आवाज सुनाती है। शरद बाबू (आशु बाबू)

विचलित अवश्य होते है किन्तु शिवानीकी आवाजको अस्वीकार नही कर पाते। अपने परिपक्व विश्वासोपर आघात खाकर भी वे अपनी इस नयी सन्ततिको प्यार और आशीर्वाद दे जाते है।

आशु बाबू परम्परागत समाजके सीमित विकासके प्रतीक है, शिवानी है प्रगतिशील युगकी अन्तःप्रेरणा। आशु बाबू समाजके शिष्ट विकास है, शिवानी है विशिष्ट अभ्युदय। आशु बाबू जैसे अपने शरीरमें अस्वस्थ एवं पङ्गु हैं वैसे ही परम्पराओमे विकसित समाज भी। शिवानी इस अस्वस्थ एव पङ्गुल-समाजके प्रति समवेदना रखती है, किन्तु अभिन्नता नहीं। वह प्रकृतिकी तरह निर्मम-कल्याणी है। जीवनके सुख-दुःख, आचार-विचार, सयम-नियम, आत्मा-परमात्मा, नर-नारी, शादी-ब्याह, इन सबके सम्बन्धमे वह मध्ययुगीन समाजके मूलभूत-सिद्धान्तोको डगमगा देती है। उसके मनका ससार और सम्बन्ध कहीं नहीं मिलता, इसलिए वह यौवनमे ही मानो बाला-जोगिन होकर निकल पडी है—विरक्तिके लिए नहीं वल्कि आसक्तिके भीतर जीवनकी स्वस्थता-की खोजमे।

हमने कहा कि शिवानी है प्रगतिशील युगकी वेगवती प्रेरणा। किन्तु वह समाजवादी युगका राजनीतिक (आर्थिक) नहीं, बल्कि नैतिक दृष्टिकोण उपस्थित करती है। इसलिए उसकी प्रेरणा अन्तर्मुखी है। उसमे वर्ग-चेतना नहीं है, और न स्त्री-पुरुषके सङ्घर्षोंमे नारीकी जाति-चेतना; उसमें तो व्यक्ति मात्रकी नवीन आत्मजाग्रति या आत्मचेतना है। वह सबजेक्टिवकी बुनियादी सतह (आन्तरिक सतह) पर है। समाज है आवजेक्टिव, व्यक्ति है सबजेक्टिव, मनोवृत्ति है आन्तरिक सतह। शिवानीने मनोवृत्तियोकी जीर्णतापर दृष्टिपात किया है। नवीन सामाजिक जीवनके लिए मनोभूमि

प्रस्तुत करनेके लिए उसका व्यक्तित्व और वक्तृत्व है। समाजवादी युग चाहे जब आविर्भूत हो, उसके पूर्व, एयरोप्लेनके उतरनेके लिए धरातलकी तरह 'शेष प्रश्न' एक मानसिक प्लेन (मनोभूमि) है, नवीन दृश्यलोक-के लिए नवीन मनोलोक है, आधुनिकताके लिए अन्तःकरण है।

प्राच्य और प्रतीच्य

इस उपन्यासका 'शेष प्रश्न' क्या है, यह कथनोपकथनसे स्पष्ट नहीं होता। वह सङ्केतगर्भित हो गया है। अभिप्राय यह जान पडता है कि अबतककी जिन मान्यताओको लेकर हम चल रहे है उनके रहते हुए भी सामाजिक कल्याणका प्रश्न शेष रह जाता है। शिवानीकी दृष्टिसे, उन मान्यताओमे कल्याण है ही नही, है केवल लोक-छल और आत्मछल। नवीन जीवनका स्वरूप क्या होना चाहिये, यह शिवानीके व्यक्तित्वमे निहित है। उसका व्यक्तित्व ही इस उपन्यासकी विचार-धाराका गोमुख है। अन्य पात्रोको उसका व्यक्तित्व ढँक देता है। उसके व्यक्तित्वका स्वरूप इस उपन्यासके शब्दोमे यह है—'कमल (शिवानी) की आकृति तो प्राच्य है पर प्रकृति बिलकुल प्रतीच्य ; एक तो दिखाई देती है और दूसरी ऑखोके बिलकुल ओझल हो जाती है। यहीं आदमीको गलतफहमी होती है।' शिवानीकी आकृति माता (प्राच्य) की है, प्रकृति पिता (प्रतीच्य) की। उसकी अभिव्यक्ति (आकृति) मे शालीनता है, अभिव्यक्त (प्रकृति) में शक्ति। उसमे शील और शक्ति-का समन्वय है, इसीलिए उसका सौन्दर्य प्रमदाका नहीं, शुभदाका है।

यहॉ 'शेष प्रश्न'के शरद और अपनी सम्पूर्ण कृतियोंके रवीन्द्रनाथ-मे यह अन्तर है कि शरदका आपद्धर्मी श्रेय प्रेय के लिए है, रवीन्द्रनाथ-का प्रेय श्रेयके लिए। शिवानीकी आकृति प्राच्य, प्रकृति प्रतीच्य है

किन्तु रवीन्द्रनाथके व्यक्तित्वकी आकृति (बाह्य अभिव्यक्ति) प्रतीच्य है, प्रकृति प्राच्य ।

'शेष प्रश्न' मे शरदने पूर्णतः समाजवादी विद्रोह नही किया । इसमे उनकी सास्कारिक विवशता है । 'शेष प्रश्न' देकर भी उनमे अपने पिछले उपन्यासोके कुछ सामाजिक संस्कार शेष रह गये थे । फलतः शिवानीके व्यक्तित्वमे भी कुछ विवशता बनी हुई है—एक ओर वह अनाहार-वृत्ति लेकर चल रही है, दूसरी ओर वैभवकुमार अजितको अपनाकर अपने नारीत्वको नवीन दाम्पत्य देती है । हॉ, शरदकी विवशता जीवनके साधनोमे ही देख पडती है, साध्यमे नहीं । साधनोके नितान्त अभावमे उन्होने अपने अभीष्ट चरित्रोको रखकर कभी देखा नहीं ।

'पथेर दावी' को छोडकर शरद सामाजिक प्रश्नोको सामाजिक घेरेमे ही रखकर देखते आये हैं, राजनीतिक घेरेमे नही । वे प्रश्नोके मूल-रूप (सामाजिक) को ही लेते थे । 'पथेर दावी' मे तो राजनीतिकी विडम्बना दिखलायी है । लेकिन ऐसा जान पडता है कि 'शेष प्रश्न' की मानसिक सतहपर पहुँचकर शरदने अवश्यम्भावी समाजवादी युगकी राजनीतिक अनिवार्यताका अनुमान कर लिया था, अतएव उस युगके समाजके लिए शिवानीके चरित्रको एक सामाजिक प्रयोगके रूपमे रख दिया है । शरद शुरूसे ही एक सामाजिक प्रयोग-कर्त्ता हैं । उन्होने अपने पिछले प्रयोग धार्मिक दायरेमे किये थे, यह नवीन प्रयोग ('शेष प्रश्न') वैज्ञानिक दायरेमें किया है ।

लोकान्तर

इसके बाद, सुनते हैं, 'विप्रदास' से शरद फिर अपनी पुरानी आस्थाओंमे लौट गये । यदि यह सच है तो यही कहा जा सकता है

कि शरद आधुनिक युगके प्रति अभी अपने 'मूड-प्रश्न' में थे। उस हालतमे 'शेष प्रश्न' जीवनके सङ्घर्षोंमें उनके थके हुए 'मूड' का सूचक हो जाता है। रवीन्द्रकी तरह मूलतः उनकी आत्मा पौराणिक थी, दोनोमे अन्तर कवि और कहानीकारका है। अन्तर साहित्यिक है, सामाजिक नहीं। रवीन्द्रनाथने साहित्यमे जिस आर्ष आत्माकी चेतना दी, शरदने उसीकी आत्माको शरीर दिया। रवीन्द्रकी प्रच्छन्नता शरदद्वारा मूर्त्त हुई। आधुनिक युगमे मानो दोनो (शरद-रवीन्द्र) ही प्रवासी थे, अतएव साम्राज्यवादी सङ्घर्षके आते-न-आते रवीन्द्रनाथ अपने शान्तिलोकमें चले गये, और समाजवादी सङ्घर्षके आनेके पूर्व शरद अपने गोलोकमे।

प्रेमकी नीरव अभिव्यक्ति

शरद बाबू शिवानीके लोक-पक्षको तो दिखला गये हैं, किन्तु उसके आत्मपक्षको अन्धकारमे ही छोड गये जिसके कारण उसका व्यक्तिगत चरित्र रहस्यकी पहेली बन गया है। इस प्रकार इस उपन्यासमे औपन्या-सिकता न रहने पर भी औपन्योसिकताकी सबसे बडी बात आ गयी है—चारित्रिक कुतूहल। शिवनाथसे उसका साथ क्यो छूट गया, क्यो दो दिनके साधारण परिचयमे ही अजित उसका प्रेमपात्र हो गया, यह सब कुछ इस उपन्यासमे अस्फुट ही रह गया है। जैसा कि सङ्केत किया जा चुका है, शरद बाबूका सदासे यही तो औपन्यासिक वैचित्र्य रहा है कि बहुत कुछ कहकर भी जहाँ उन्हे कहनेकी सबसे अधिक आवश्यकता रहती है वहाँ वे कुछ नहीं कहते। केवल जिज्ञासा जगा जाते हैं। अपने बौद्धिक स्तरपर-जो शिवानी जन-समाजके सामने एक जटिल समस्या है, वही अपने हृदय-पक्षमे इतनी सहज है कि अनगढ़-अबोध

अजितको अपना बैठी। अजितको अपनाकर प्रेमकी फिलासफीको उसने बिना बोले ही बतला दिया है और समाजकी फिलासफीको बोलकर।

सचमुच शरदके उपन्यासोमे प्रेमकी फिलासफी मूक है। 'दत्ता' नामक उपन्यासमे शरदने सङ्केत किया है कि प्रेमके लिए अधिक बातचीत और परिचय आवश्यक नही है। वे 'कोर्टशिप' के पक्षमे नहीं, प्रेमकी नीरव अनुभूतिकी ओर है। जिस प्रेम-प्रसङ्गको लेकर रसिक लेखक रोमासका तूमार बॉध देते है उस प्रसङ्गको शरद यो ही छोड़ जाते है। अन्य उपन्यासकारोको जिससे उपन्यासका खासा मसाला मिलता है, शरदके उपन्यासोमे वह ऐसे छूट जाता है जैसे कोई साधारण बात। किन्तु वह साधारण बात नही है, वह इतनी असाधारण है कि उसे कह-सुनकर बतलानेकी अपेक्षा शरद उसे सहृदय-संवेद्य कर जाते हैं।

शरदकी कृतियोमे हम पाते है कि वे शृङ्गारिक कवियो, रोमासकार उपन्यासकारो और वास्तविकतावादी वैज्ञानिकोकी तरह प्रेमको शरीर-जन्य नहीं मानते। प्राणी स्त्री-पुरुष होनेके अतिरिक्त जिस चेतनाको लेकर मनुष्य है वह है समवेदना, हृदयका सहज स्वाभाविक धर्म। जो समवेदना समाजको एक दूसरेसे बॉधे हुए है वही स्त्री-पुरुषके बीच जब कुछ और निकटकी वस्तु बन जाती है तब उसे हम कहते है प्रेम। कुछ ऐसे ही प्रेमको सारे उपन्यासोके नेपथ्यमे छोड़कर उनका कथानक समाप्त हो जाता है।

समवेदना (चेतना) के प्रकाशके कारण प्रेम अन्धा नहीं होता, अतएव उसमें पात्रापात्रका विवेक रहता है।

शिवनाथको शिवानीकी समवेदनाकी आवश्यकता नहीं रह गयी थी; वह प्रेमका सामाजिक प्राणी नहीं, रोमासका असामाजिक प्राणी था। अतएव, प्रेम और रोमास दोनो ही दृष्टियोसे जो सर्वथा अबोध और अन-

गढ़ पात्र था उसी अजितको अपनाकर शिवानीने अपने 'नारीत्व' की समवेदना (प्रेम) को सार्थक कर लिया।

प्रेम जटिल नहीं, सहज है ; अतएव जहाँ हृदयकी सहजता होती है वहीं प्रेम स्थापित हो जाता है। जहाँ जटिलता है, वहाँ प्रेम नहीं— रोमास रङ्गीन होकर बोलता है। शिवनाथ वेश्यागामी न होने पर भी रोमासका विलासी है, देवदास वेश्यागामी होने पर भी प्रेमका पागल है। उसमें हृदयकी सहजता है। समाजकी जटिलता दो सहज हृदयोको बिछुडा देती है, किन्तु बिछुडकर भी देवदास और पार्वती एक दूसरेके उतने ही निकट हो गये थे जितनी दूर शिवनाथ और शिवानी छूट गये। यही है जीवनमे निकटकी दूरी और दूरीकी निकटता।

जवाहरलाल : एक मध्यबिन्दु

पण्डित जवाहरलाल नेहरूकी आटोबायोग्राफी ('मेरी कहानी') को हम एक तरहसे उनके 'विश्व-इतिहासकी झलक' के सिलसिलेमें भारतीय इतिहासका राष्ट्रीय खण्ड कह सकते है। आत्मकथा होनेके कारण इसमे व्यक्ति जवाहरलाल प्रधान है किन्तु व्यक्ति जवाहर स्वय कोई अलग चीज नहीं, वे अपने युगके तरुण विचारोके केन्द्रीकरण है। उनकी शिक्षा-दीक्षा जिस एकैडेमिक ढङ्गसे हुई है उसके कारण उनके विचार भी एकैडेमिकल होते है। वे तथ्यप्रधान है, भावप्रधान नही। किन्तु भारतकी जिस मिट्टीसे उनका अस्तित्व है उसकी भौगोलिक उत्कृष्टताओसे जैसे वे अपने शारीरिक निर्माणको नही रोक सकते वैसे ही उसकी अपार्थिव विशेषताओसे अपने मानसिक निर्माणको भी वञ्चित नहीं कर सकते। किन्तु उनका मूल दृष्टिकोण वैज्ञानिक होनेके कारण वे सभी बातोको वैज्ञानिक आधारपर देखते है, फलतः गान्धीवादको भी वे किसी आन्तरिक विज्ञानके रूपमे देख लेते हैं, जैसे प्लैन्चेटके सहारे परलोकका परिचय। यद्यपि लोक-परलोक-जैसी घिसी-घिसाई बातोपर गौर करना जवाहरलाल जैसे बौद्धिक प्राणीके लिए गवारा नहीं, और न वे बहुत आध्यात्मिक भाव प्रवणतामे पडते ही हैं, किन्तु किसी आत्मतत्त्वको जाननेके लिए एक उपयोगी आधार मिल जानेसे वे उस तक पहुँचनेके लिए उदार है, जैसे मानसिक उथल-पुथलकी शान्तिके लिए शीर्षासनको अपनानेमें। इसी बौद्धिक उदारताके कारण वे बुद्धके व्यक्तित्वके

प्रति मुग्ध हो जाते है और गान्धीके व्यक्तित्वके प्रति श्रद्धालु। उनके मस्तिष्ककी यह प्रणति उनमे हृदयकी जागरूकता बनाये हुए है, फलतः उनमे कोमल भावोका भी उदय होता है जो उन्हे एक कविकी तरह मनुष्येतर प्राणियो (यथा, 'जेलमे पशुपक्षी') के भी निकट कर देता है। उनमे जीवन और कलाकी एक परिष्कृत रुचि है।

उनके स्वभावमें उन्मुक्तता है। किसी भी तरहका अवरुद्ध वातावरण—चाहे वह राजनीतिक, सामाजिक या कलात्मक कोई भी हो—उन्हे तडफडा देता है। इस स्थितिमे उनमे मानसिक सङ्घर्ष छिड जाता है। सङ्घर्षकी ओर उनका स्वाभाविक झुकाव है। सङ्घर्षके रूपमे कभी कभी वे समस्याओको एक स्पोर्ट्समैनकी भॉति भी ले लेते है। ऐसे 'मूड' मे वे समस्याके रचनात्मक पार्श्वको महत्त्व नही दे पाते, यथा, चर्खे और खादीके प्रसङ्गमे।

एक तरफ उनके सामने समाजवाद आता है, दूसरी तरफ गान्धीवाद। इन दोनोके बीचमे वे अपने विचारकोके लिए एक पहेली हो जाते है। किन्तु उनकी आटोबायोग्राफीमे हम उन्हे ढूँढे तो वे पहेली न होकर कहीं न कहीं स्पष्ट हो जाते है और तब गान्धीवाद और समाजवाद बेमेल न होकर जवाहरलालके हृदय और मस्तिष्ककी युगल चेतनाएँ जान पडने लगते है। फिर भी, एक ओर गान्धीवादसे उनकी कश-म्कश चलती है, दूसरी ओर समाजवादसे। इसका कारण जान लेना जवाहरलालको जान लेना है। जवाहरलालकी स्थिति उस सैनिककी-सी है जो अपने ऊपरके आदेशोंको माननेके लिए प्रस्तुत है, किन्तु उन आदेशोके सम्बन्धमे अपनी दिलजमई भी कर लेना चाहता है। इसीलिए स्थल-विशेषपर गान्धीवादियोसे भी उनका मतभेद है और समाजवादियोंसे भी। अतएव गान्धीवादी और समाजवादी दोनो ही

उन्हें अपने समूहमे पूर्णतः सम्मिलित न पाकर दुविधामे पड जाते है।
वे अपनेको 'लिमिट' नहीं करना चाहते।

एक ओर गान्धी-विरोधी कुछ मनचले समाजवादियोको लक्ष्य कर वे कहते हैं—'ये आरामकुरसीवाले समाजवादी लोग गान्धीजीपर खास तौरपर जोरका वार करते हुए उन्हे प्रतिगामियोका सिरताज बताते है और ऐसी ऐसी दलीलें देते है जिनमे तर्ककी दृष्टिसे कोई कसर नही रहती, लेकिन सीधी-सी बात तो यह है कि यह 'प्रतिगामी' व्यक्ति हिन्दुस्तानको जानता और समझता है, और किसान-हिन्दुस्तानका करीब-करीब मूर्त्तिमान रूप बन गया है और इसने इस कदर हिन्दुस्तानमे हलचल पैदा कर दी है जैसी क्रान्तिकारी कहे जानेवाले किसी भी व्यक्ति-ने नही की है।'

दूसरी ओर कृत्रिम गान्धीवादियोकी भर्त्सनामे वे कहते हैं—'बहुतसे जो उनके (गान्धोजीके) अनुयायी होनेका दावा करते है, निकम्मे शान्तिवादी या टाल्स्टायके अप्रतिरोधी या किसी सङ्कुचित सम्प्रदायके सदस्य बन जाते है जिनका कि जीवन और वास्तविकतासे कोई सम्पर्क नहीं होता। और ये लोग अपने आस-पास ऐसे बहुतसे लोगोको इकट्ठा कर लेते हैं जिनका स्वार्थ इसीमे है कि वर्तमान व्यवस्था कायम रहे और जो इसी मतलबसे अहिंसाकी शरण लेते हैं। इस तरह अहिंसामे समय-साधकता घुस पडती है और हम प्रयत्न तो करते हैं विरोधीके हृदय-परिवर्तनका, लेकिन अहिंसाको सुरक्षित रखनेकी धुनमे हम स्वय परिवर्तित हो जाते है और विरोधीकी लाइनमें आ जाते है।'

इस रिमार्कसे तो सरसरी तौरपर यही ज्ञात होता है कि जवाहर-लालको अहिंसासे चिढ है। किन्तु बात ऐसी नहीं। वे इकबाल करते है—'मेरा विश्वास है कि अहिंसात्मक प्रतिरोधके विचार और लडाईकी

अहिंसात्मक विधि हिन्दुस्तान और बाकीकी दुनियाके लिए अत्यन्त लाभप्रद है और गान्धीजीने वर्तमान विचार-जगतको इनपर गौर करनेके लिए विवश करके बड़ी जबरदस्त सेवा की है।' इतना मानते हुए भी जवाहरलालजीका कहना यह है—'अन्तिम जोर तो लाजिमी और जरूरी तौरपर हमारे सामने जो ध्येय और मकसद हो उसीपर देना चाहिये।'

इस तरह 'ध्येय और मकसद' को लेकर जवाहरलालका गान्धी-वादियोंसे भी मतभेद होता है, और समाजवादियोंसे भी। इसी सिल-सिलेमे उनके ये शब्द भी सामने आते हैं—'हिन्दुस्तानके समाजवादी और कम्यूनिस्ट लोग अपने खयालात ज्यादातर उस साहित्यपरसे बनाते है जो औद्योगिक मजदूर वर्गकी बाबत है। कुछ खास हलकोमे, जैसे बम्बईमे या कलकत्तेके पास कारखानोके मजदूर बड़ी तादादमे है लेकिन हिन्दुस्तानका बाकी हिस्सा तो किसानोका ही है और कारखानोके मज-दूरोके दृष्टिकोणसे हिन्दुस्तानकी समस्याका कारगर हल नहीं मिल सकता। यहाँ तो राष्ट्रवाद और ग्रामीण सुव्यवस्था ही सबसे बडे सवाल है और योरपका समाजवाद इनके बारेमे शायद ही कुछ जानता हो। रूसमे महायुद्धसे पहलेकी हालत हिन्दुस्तानसे बहुत कुछ मिलती-जुलती थी, मगर वहाँ तो बहुत ही असाधारण और गैरमामूली घटनाएँ हो गयी और वैसी ही घटनाएँ फिर दूसरी जगह हो, यह उम्मीद करना बेवकूफी होगी। लेकिन इतना मै जरूर जानता हूँ कि कम्यूनिज्मके तत्त्वज्ञानसे किसी भी देशकी मौजूदा परिस्थितिको समझने और उसका विश्लेषण करनेमे सहायता मिलती है और आगे प्रगतिका रास्ता मालूम होता है; लेकिन उस तत्त्वज्ञानके साथ यह जबरदस्ती और बेइन्साफी होगी कि उसे वाकयात और हालातका मुनासिब खयाल न रखते हुए अन्धेकी तरह हर जगह लागू कर दिया जाय।'

इन उद्धरणोंमें हम देखते है कि जवाहरलाल अंशतः गान्धीवादको भी स्वीकार करते हैं और अंशतः प्रगतिवादको भी । अतएव उन्हे गान्धीवादी या प्रगतिवादी नहीं कहा जा सकता, उनका व्यक्तित्व दोनो वादोकी विचारधाराओका जल-डमरुमध्य है । दोनो धाराओंके बीचमे वे मीटरकी तरह है, दोनोकी उपयोगिताको सन्तुलन देनेके लिए ।

अपनी इस आटोबायोग्राफीमे जवाहरलाल एक कुशल आलोचक हैं । उनमे राजनीतिक डिबेटकी प्रखर प्रतिभा है । आलोचनाको वे पसन्द करते है । कहते है—'कोई भी व्यक्ति कितना ही बड़ा क्यो न हो, आलोचनासे परे नहीं होना चाहिये, लेकिन जब आलोचना निष्क्रियताका बहाना मात्र बन जाती है तो उसमे कुछ न कुछ बिगाड़ समझना चाहिये ।' इस कथनमे एक शब्द ध्यान आकर्षित करता है—'निष्क्रियता' । जवाहरलालकी आलोचना इसीके प्रतिकूल होती है । सिद्धान्तोका मूल्य वे क्रिया-शक्तिसे लगाते है । क्रियाशीलता उनके लिए सिद्धान्तोका भाष्य है । क्रियाशीलतामे वे सिद्धान्तोका मूर्त्त दृष्टान्त पाते हैं और उसीसे प्रेरित होकर वे उसकी ओर आकृष्ट होते है । गान्धीवाद केवल विचारोंके गर्भमे होता तो वे सर्वथा समाजवादी होते, किन्तु अपने मूर्त्त दृष्टान्तो (रचनात्मक कार्यों) से दोनोंने उन्हे प्रभावित किया । दोनो किसी स्थल-विशेषपर उन्हे ठीक जान पडे । ऊपरके उद्धरणोमे हम यह भी देख आये हैं कि अकर्मण्य सिद्धान्तवादियोको, चाहे वे गान्धीवादी हो चाहे समाजवादी, जवाहरलालने आडे हाथो लिया है । आकस्मिक ढङ्गसे सत्याग्रह रोक देने पर स्वयं गान्धीजीके प्रति भी वे क्षुब्ध हुए हैं । वे प्रकृतिकी तरह अनवरत क्रियमाण प्राणी हैं—शीतलता, उष्णता, विस्तीर्णता और सूक्ष्मता लेकर । वे पञ्चभूतोंकी पूर्ण अभिव्यक्ति हैं, फिर भी उनमे यौवनोचित उष्णता ही अधिक है ।

आलोचनाको जवाहरलाल शायद इसलिए भी पसन्द करते है कि उससे दृष्टिकोण परिष्कृत होता रहता है और किसी मत-विशेषकी रूढियो-की तरह एकाङ्गी कट्टरपन नही आने पाता। धार्मिक कट्टरपनकी तरह आज 'वादो' के रूपमे राजनीतिक कट्टरपन भी आ गया है, मस्तिष्कसे समुन्नत होकर भी स्वभावकी सङ्कीर्णता (कट्टरपन) दूर नही हुई। यह तो बौद्धिक नवीनता ग्रहणकर पुराना कञ्जर्वेटिव बना रहना है। हमारे सार्वजनिक क्षेत्रमे धार्मिक कट्टरपनके गान्धीजी अवरोधी है, मार्क्सवादी कट्टरपनके जवाहरलालजी। यो, जैसे गान्धीजी धर्मको मानते है, वैसे ही जवाहरलाल मार्क्सवादको। वे आत्मनिरीक्षण करते हुए स्वय ही कहते है—'फासिज्म और साम्यवाद, इन दोनोमेंसे मेरी सहानुभूति बिलकुल साम्यवादकी ओर है। इस पुस्तक ('मेरी कहानी') के इन्हीं पृष्ठोसे मालूम हो जायगा कि मै साम्यवादी होनेसे बहुत दूर हूॅ। मेरे सस्कार शायद एक हदतक अब भी उन्नीसवी सदीके है और मानववादकी उदार परम्पराका मुझपर इतना ज्यादा प्रभाव पडा है कि मै उससे बिल-कुल बचकर निकल नही सकता। यह मध्यमवर्गीय सस्कार मेरे साथ लगे रहते है और इसलिए स्वभावसे ही बहुतसे साम्यवादी मित्रोकी खिझलाहटके कारण बने हुए हैं। कट्टरपनको मै नापसन्द करता हूॅ, और कार्लमार्क्सके लेख या और किसी दूसरी पुस्तकको ईश्वरीय वाक्य समझना (जिसको कि चैलेञ्ज न किया जा सके), और सैनिक-अन्धानुकरण और स्वमत-विरोधियोके खिलाफ जिहाद (जो कि आजके साम्यवादके प्रधान लक्षण-से बन गये है) मुझे पसन्द नहीं है।'

इन वाक्योको यहॉ उद्धृत करनेकी आवश्यकता इसलिए पडी कि आज साहित्यमे भी जो राजनीतिक कट्टरपन आ गया है वह राजनीतिक क्षेत्रकी तरह ही साहित्यिक क्षेत्रमे भी अन्धड न ला दे।

हिन्दी-कविताकी पट-भूमि

खडी बोलीकी कवितामे अबतक अनेक परिवर्त्तन (विकास) हो चुके हैं, आधी सदीके पूर्व ही इसके भी कुछ युग बन गये है— द्विवेदी-युग, छायावाद-युग, प्रगतिशील-युग। वर्त्तमान युग प्रगतिशील-युग है, किन्तु जिस प्रकार द्विवेदी-युगमे, खडी बोलीकी कविताके आरम्भ-कालमे, व्रज-भाषा-युगकी रचनाएँ भी चल रही थीं उसी प्रकार प्रगतिशील-युगके इस उदय-कालमे छायावाद-युगकी रचनाओका भी क्रम अभी बना हुआ है। किसी भी नये साहित्यिक युगके साथ उससे पीछेके युगकी रचनाओका भी क्रम चलता ही है। कारण, नये युगमे नव-निर्माणकी परुषता रहती है, पिछले युगमे उसके अपने पूर्ण निर्माणकी सुचारुता और सरसता। नये युगमे भी जब सुचारुता और सरसता आ जाती है, तब पिछला युग रिटायर हो जाता है और रुचि-विशेषके व्यक्तियोमे ही सीमित रह जाता है।

राजनीति जब जीवनकी किन्ही सङ्कुचित सीमाओको तोडती है तब उसका प्रभाव साहित्यमे भी प्रतिफलित होता है। व्रजभाषामे सम्पूर्ण मुस्लिम-काल तक कोई नवीन परिवर्त्तन नहीं हुआ; कारण, उस दीर्घ अवधिमे जीवन सङ्कुचित ही रहा, उसका विस्तार नहीं हो सका। वह धार्मिक और सामाजिक परम्पराओमे बद्ध था। इसके बाद, इतिहासने जब हमे राष्ट्रीयताका बोध दिया तब उसका प्रभाव हमारे काव्य-साहित्य-पर भी पडा।

तो, राजनीति जीवनकी सङ्कुचित सीमाओंको तोड़ती है, किन्तु जीवनका निर्माण राजनीतिज्ञ नहीं, बल्कि उनसे प्रेरित होकर सामाजिक

प्राणों ही देश-कालके अनुरूप करते हैं। उनके द्वारा जब जीवनका निर्माण होने लगता है तब साहित्यमे नवीन निर्माणका नवीन रोमाण्टिसिज्म भी आ जाता है। रोमाण्टिसिज्मके कारण ही साहित्यमें हृदयकी कोमलता-मधुरता आती है। द्विवेदी-युगमे राजनीतिक परपता राष्ट्रीय कविताओ द्वारा आ गयी थी, वह नये इतिहासका प्रथम चरण था, उसके बाद जब इतिहासकी उस नयी सीमामे नये जीवनका निर्माण होने लगा तब उसका भी रोमाण्टिसिज्म छायावादमे व्यक्त हुआ। यद्यपि समाज मुस्लिम-कालका ही था, किन्तु उसका परम्परा-बद्ध दृष्टिकोण कुछ प्रशस्त हो गया, फलतः साहित्यिक चेतना भी कुछ विशद हो गयी। शृङ्गारका स्थान सौन्दर्यने लिया, भक्तिका स्थान सहानुभूतिने।

यह तो हुआ जीवन और साहित्यका अन्तरङ्ग। देश-कालके अनुसार बहिरङ्गमें भी परिवर्त्तन होता है। बहिरङ्ग है जीवन और साहित्यका आच्छादन या कला (अभिव्यक्ति)। मुस्लिमकालकी कला कुछ और थी, यथा ब्रजभाषामे, अंग्रेजी-कालकी कला कुछ और हो गयी, यथा छायावादमे। इन दोनोके बीचमे है राष्ट्रीय कला, जो द्विवेदी-युगकी खडी बोलीमे है; गान्धी-युगसे इसी कलाको प्रोत्साहन मिला, रवीन्द्रनाथसे छायावादको।

आज है प्रगतिशील-युग। मध्ययुगोके जीवनकी सङ्कुचित सीमाओंको राष्ट्रीय-युगने तोडा, राष्ट्रीय-युगमे भी जो सीमाएँ शेष रह गयी थीं उन्हे अब यह प्रगतिशील-युग तोड़ रहा है। ब्रजभाषाके शृङ्गार और भक्तिके स्थानपर छायावादने सौन्दर्य और सहानुभूतिकी स्थापना की थी; अब प्रगतिवाद सौन्दर्य और सहानुभूतिके स्थानपर अर्थशास्त्र और विज्ञानकी समाजवादी दृष्टिसे स्थापना करना चाहता है। ब्रजभाषा और छायावादमें था क्रमागत सामाजिक रोमाण्टिसिज्म; किन्तु प्रगतिवादमे

है घोर राजनीतिक रियलिज्म। वह अबतककी पृथ्वीको ही बदल देना चाहता है। युगोकी पृथ्वीकी मिट्टीमे प्रभुताके ऐसे कीटाणु समाये हुए हैं कि उनके कारण जीवन पनप नही पाता। अब तकका ऐतिहासिक जीवन अपनी स्वस्थता (नैतिकता) के ऊँचेसे ऊँचे आदर्श अपने सामने रखते हुए भी भीतरसे दलित-गलित है। अतएव प्रगतिवाद भूगर्भको (इतिहासोके रवैयोको) आमूल बदल देना चाहता है।

आज एक अग्नि बाहर लहक रही है—वर्त्तमान पूँजीवादी-महायुद्ध-के रूपमे ; एक अग्नि भीतर धधक रही है—ज्वालामुखी होकर समाजवाद (प्रगतिवाद) के रूपमे। असंख्य-निदाघोका उत्ताप आजके कराल-युगमे है। पृथ्वीकी इस अन्तर्बाह्य ज्वालाके ऊपर गान्धीवाद (अहिसावाद) चाँदनीकी तरह उदित है, भविष्यके शान्तियुगका सङ्केत होकर। फिल-हाल यह महाक्रान्तिका युग है। ऐसे समयमे साहित्यकी कोमलता-मधुरता दावानलमे वनस्पतियोकी तरह झुलस रही है। अब भी यदि कही कुछ शेष है तो मरुस्थलमें ओएसिसकी तरह।

राजनीतिक अभिव्यक्तियोको ग्रहण करनेमें साहित्य परुष हो जाता है, फिर यह तो परुष ही नही, प्रखर-युग है ; फलतः प्रगतिवादकी रचनाओमे भी परुषता और प्रखरता है, मधुरता एवं मनोहरता नहीं। किन्तु जीवनका पुनः नव-निर्माण होने पर, क्रान्ति-युगके बाद शान्ति-युग-के आने पर, साहित्यमे फिर सरसता आयेगी, जैसे पृथ्वीके रूखेपनमे हरियाली। वर्त्तमान क्रान्ति तो पृथ्वीकी मिट्टीको, जीवनके आधारभूत तत्त्वोको उर्वर बनानेके लिए है।

आजके नवयुवक साहित्यिकके सामने एक ओर अपने यौवनका व्यक्तिगत तकाजा (सौन्दर्य और प्रेम) है, दूसरी ओर राष्ट्रकी परा-धीनताका प्रश्न (सत्याग्रह-सङ्ग्राम), तीसरी ओर विश्वव्यापी महायुद्धके

प्रति अन्तर्राष्ट्रीय जिज्ञासा, चौथी ओर समाजवादके प्रति आत्मीयता। यद्यपि ये सभी दिशाएँ अलग-अलग है, किन्तु परस्पर संलग्न हैं। आजका चतुर्दिक् जाग्रत युवक, चाहे वह राजनीतिक हो या साहित्यिक, केवल अपने घरके भीतर ही नहीं—बल्कि इतने बडे ससारमे निवास कर रहा है। जो नवयुवक इसका अनुभव आज नहीं कर रहे है, वे विवश होकर कल करेगे।

आधुनिक हिन्दी कविताके मार्ग-चिह्न

आधुनिक हिन्दी कविताके मार्ग-चिह्नोको पॉच कालोमे विभक्त किया गया है। इन पॉच कालोके लिए पॉच कविता-पुस्तकोको प्रतिनिधित्व दिया गया है; ये पुस्तके है–(१) भारत-भारती, (२) कामायनी, (३) प्रिय-प्रवास, (४) पल्लव, (५) मिट्टी और फूल। *

मूल प्रश्न

यह काल-विभाजन राष्ट्रीयता, संस्कृति और कलाकी दृष्टिसे किया गया है। इस चुनावमे यह मान लिया गया है कि इन पॉच पुस्तकोमे अलग-अलग पॉच कालोंके प्रातिनिधिक प्रयत्न हैं। प्राथमिक काल अर्थात् राष्ट्रीय युगमे 'भारत-भारती' सास्कृतिक पुनर्निर्माणकी आदि-रचना है। कहा जाता है कि उसकी राष्ट्रीयता सतहपर ही थी, उसमें प्राचीन संस्कृतिकी महिमा गायी गयी थी, परन्तु इसका प्रयास नहीं किया गया कि प्राचीन और नवीन भारतका सामञ्जस्य उपलब्ध हो। ऐसा समझा जाता है कि यह काम श्री जयशङ्कर 'प्रसाद'ने अपनी 'कामायनी'मे करनेकी कोशिश की—सास्कृतिक दृष्टिकोणसे, और श्री अयोध्यासिंह उपाध्यायने 'प्रिय-प्रवास'मे कलात्मक दृष्टिकोणसे। इस प्रकार तीन कालोके ये तीन प्रतिनिधि हुए, शेष दो कालोके दो प्रतिनिधि 'पल्लव' तथा 'मिट्टी और फूल'में मनोनीत है। ये दो प्रतिनिधि शायद छायावाद और

* रेडियो द्वारा निर्दिष्ट।

प्रगतिवादके दृष्टिकोणके सूचक हैं। किन्तु 'मिट्टी और फूल' प्रगतिवादका पूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं करता।

प्रश्न यह उठता है कि सांस्कृतिक पुनर्निर्माणकी दिशामे किये गये प्रयत्न कहाँ तक सफल हो सके हैं, उनमें क्या त्रुटियाँ थीं, और इसके पहिले कि वे सफल हो सकें, छायावादी युगका प्रारम्भ कैसे हो गया?

यदि प्रगतिवादके प्रतिनिधित्वको स्वीकार करते हैं तो छायावादके सम्बन्धमे भी यह प्रश्न उठता है कि छायावादमे क्या त्रुटियाँ थी कि प्रगतिवाद आ गया? क्या वह भी सांस्कृतिक प्रयत्नोकी तरह ही अल्पायु हो गया?

इन दोनो प्रश्नोके पूर्व, मूल प्रश्न हमारे सामने यह आता है कि क्यों ब्रजभाषाके शेषप्राय शृङ्गारकाल (भारतेन्दु-युग) मे सांस्कृतिक पुनर्निर्माणका समय आ गया, जिसकी प्रथम रचना भारतेन्दुकी 'भारत-दुर्दशा' और द्विवेदी-युगकी 'भारत-भारती' बनी? इस प्रश्नमे सम्पूर्ण अर्वाचीन साहित्यका जीवन-क्रम शृङ्खलित है। इस प्रश्नमे ही उपर्युक्त दो प्रश्नोकी भी कुञ्जी छिपी है। यह मूल प्रश्न हमे इतिहासका जिज्ञासु बना देता है।

उपादान

साहित्यके निर्माणके मुख्य उपादान ये है—राजनीति, संस्कृति, व्यक्ति और कला। राजनीति अपने समयका इतिहास लेकर चलती है, संस्कृति इतिहासमे समाजकी स्थापना करती है, व्यक्ति समाजको जीवनका स्वात्म चित्र देता है, कला इन सभी उपादानोकी अभिव्यक्तिका माध्यम बनती है। राजनीतिका सम्बन्ध वस्तु-जगत्से है, वह बहिर्मुख है; संस्कृति और कलाका सम्बन्ध भाव-जगत्से है, वह अन्तर्मुख है।

भाव-जगत् जब पुरानी मिट्टी (धरातल) और पुरानी आब-हवा (वातावरण) मे मुरझाने लगता है तब उसे नवजीवन देनेके लिए वस्तु-जगत् इतिहासकी नयी मिट्टी और नयी आब-हवा ले आता है। इस प्रकार वस्तु-जगत् भाव-जगत्के लिए पुरुषार्थ करता है। चारण-काव्यने ब्रजभाषाके भाव-जगत्के लिए यही पुरुषार्थ किया था। किन्तु जब पुरुषार्थ पुराना हो जाता है, उसका ओज क्षीण होने लगता है, तब भाव-जगत् भोग-विलासकी ओर चला जाता है, जैसे सगुण-काव्यके बाद शृङ्गार-काव्यकी ओर चला गया था; और, अब रियलिज्मके नामपर छायावादके बाद नग्न-वासनाकी ओर चला गया है।

ऐसी स्थितिमे केवल भाव-जगत्को ही नहीं बल्कि वस्तु-जगत्को भी नवजीवनकी आवश्यकता पडती है। इसके लिए उसे नवीन पुरुषार्थ (इतिहास) ग्रहण करना पडता है। यह नवीन पुरुषार्थ बीते हुए समयकी सङ्कुचित सीमासे बाहर निकलकर, कूपमण्डूकता छोडकर, देशकालके नये विस्तारमे ही आकर पाया जा सकता है। फलतः चारण-काव्यके बाद वस्तु-जगत्को नवीन पुरुषार्थ राष्ट्रीय काव्यसे मिला। जो वस्तु-जगत् पहिले जातीय परिधिमे था वह राष्ट्रीय परिधिमे आ गया। इस परिधिमें केवल धरातल और वातावरणका ही अन्तर नहीं पटा, बल्कि भाषाका भी अन्तर हो गया। जातीय परिधिमे ब्रजभाषा थी, राष्ट्रीय परिधिमे खडी बोली आ गयी। नवीन वस्तु-जगत्का आधार पा जाने पर इस नयी परिधिमे भी चारण-काव्य, भक्ति-काव्य और शृङ्गार-काव्यका रूपान्तर राष्ट्रीय काव्य, छायावाद-काव्य और वासना-काव्यमे हो गया। जब खडी बोलीके इस युगका भी पुरुषार्थ (इतिहास) क्षीण हो चला अथवा भाव-जगत् निरवलम्ब हो गया, तब वस्तु-जगत्को पुनः नवीन और्वर्य देनेके लिए प्रगतिवाद आ गया। राष्ट्रीय परिधि अन्तर्राष्ट्रीय

परिधिमे विस्तीर्ण हो गयी। यह भविष्यके नये भाव-जगत्का उपक्रम है। आधुनिक हिन्दी कविताके मार्ग-चिह्नोको हम चाहे जितने कालोंमें विभाजित करें, किन्तु उनका सृष्टिजनीन शाश्वत क्रम यही रहेगा—(१) इतिहास-काव्य (सृजन), (२) भाव-काव्य (सिञ्चन), (३) विलासकाव्य (पतन या सहार)। यह क्रम जीवनकी पूर्णता पा जानेके लिए मानवताको युग-प्रयोगके नये नये अवसर देता है।

तो, अब हम आधुनिक हिन्दी कविताके मार्ग-चिह्नोपर दृष्टिपात करे।

'भारत-भारती' और उसके बाद

'भारत-भारती'ने अपने समयके इतिहासका वस्तु-जगत् दिया। वह बहिर्मुखी थी। चारण-काव्योकी तरह उसने प्राचीन संस्कृतिकी गाथा गायी। खडी बोलीको उससे वाणी मिली किन्तु प्राचीन और नवीन भारतकी भाव-चेतना (संस्कृति) का सामञ्जस्य न कर पानेके कारण उसका प्रतिनिधित्व स्थायी न हो सका। उसने प्राचीन और नवीन भारतको सांस्कृतिक श्रद्धाञ्जलिमात्र दी थी, सामाजिक अनुभूति नहीं, अतएव वह एक सामयिक पैम्फ्लेट बनकर रह गयी।

'भारत-भारती' के बहिर्जगत्के बाद खडीबोलीके अन्तर्जगत्का अभ्युदय हुआ, यो कहे कि वस्तु-जगत्के बाद भाव-जगत्का विकास हुआ। 'प्रिय-प्रवास' और 'कामायनी' प्रबन्ध-काव्यकी दिशामे इस भाव-जगत्के क्रमागत प्रतिनिधि है। इन भाव-काव्योने भी प्राचीन संस्कृतिकी ही गाथा ली, किन्तु इनकी अभिव्यक्ति अन्तर्मुखी होनेके कारण इनके द्वारा प्राचीन और नवीन भारतकी सामाजिक अनुभूतियोका सांस्कृतिक सामञ्जस्य भी सुलभ हो सका। यहाँ ध्यान देनेकी बात है कि यह सामञ्जस्य 'भारत-

भारती' के बाद वर्त्तमान सांस्कृतिक प्रयत्नोके काफी अग्रसर हो जानेसे सम्भव हो सका। 'भारत-भारती' के समय तो राष्ट्रीय भारतका केवल प्रवेश-द्वार ही खुल सका था। अतएव, इन दोनो काव्योको 'भारत-भारती'-की अपेक्षा अवसर अधिक मिला। 'भारत-भारती' के समयमे नवीन भारतका स्थूल रूप ही आ सका था, 'प्रिय-प्रवास' और 'कामायनी' के समयमे वर्त्तमान भारतका सूक्ष्म रूप भी क्रमशः स्पष्ट हो गया था। आगे चलकर 'भारत-भारती' के कविने भी अपने नये काव्योमे समयके इस विकासका लाभ उठाया—'साकेत' से लेकर 'अर्जन और विसर्जन' तक।

'भारत-भारतो' की अपेक्षा प्रिय-प्रवास' मे, 'प्रिय-प्रवास' की अपेक्षा 'कामायनी' मे इतिवृत्तका स्थूल रूप कम होनेके कारण कलात्मक सूक्ष्मता अधिक आ गयी है।

'प्रिय-प्रवास' मे कलात्मक दृष्टिकोण इसलिए अधिक उभरा हुआ मालूम पडता है कि उसमे खड़ी बोलीके आरम्भ-कालमे वस्तु-जगत् और भाव-जगत्के सामञ्जस्यका प्रथम प्रयास किया गया है। वस्तु-जगत् 'भारत-भारती' मे मूर्त्त हो चुका था, किन्तु भाव-जगत् अमूर्त्त था, उसे मूर्त्त करनेमे 'प्रिय-प्रवास' की कला वैसे ही चटकीली हो गयी जैसे किसी चित्रकारके प्रथम चित्रमे उसका रङ्ग चटकीला हो जाता है। 'प्रिय-प्रवास' मे खडी बोलीकी भावात्मक कलाका कौमार्य है, 'पल्लव' मे यौवन और 'कामायनी' मे प्रौढता। महादेवीके गीत और निरालाकी कविताएँ भी भाव-काव्यके यौवनकालमे है। प्रबन्ध-काव्यकी दिशामे जैसे चारण-काव्यके बाद सूरसागर और रामायण है, वैसे ही राष्ट्रीय काव्य 'भारत-भारती' के बाद 'प्रिय-प्रवास' और 'कामायनी' है। 'प्रिय-प्रवास' मे सूरका माधुर्य भाव है, 'कामायनी' मे तुलसीका लोक-संग्रह। 'भारत-भारती'के कविने भी अपने अन्य प्रबन्ध-काव्यो (यथा, 'साकेत', 'यशो-

धरा', 'द्वापर' इत्यादि) मे इन दोनो (माधुर्यभाव और लोकसग्रह) का सामञ्जस्य किया। इस प्रकार 'भारत-भारती'के अभावकी पूर्त्ति उसने अपने नये काव्योमे की। हॉ, शुरूसे ही इतिहासकी ओर अधिक रुझान होनेके कारण 'भारत-भारती'के कविके इन नये काव्योमे भी काव्य-कलाकी अपेक्षा कहानी-कला ही प्रधान है।

संस्कृति और कलाका रुख-मुख

सास्कृतिक दृष्टिकोण तो द्विवेदी-युगसे छायावाद-युग तकके सभी श्रेष्ठ काव्योमे निहित है; चाहे उस सस्कृतिको जो भी नाम-रूप मिल जाय। नाम-रूप तो इस बातका सूचक है कि कविकी 'आत्मा किस आराध्य व्यक्तित्वकी उज्ज्वलताको ज्योतिर्विन्दु बनाकर सृष्टिमे चली है। द्विवेदी-युगमे सास्कृतिक दृष्टिकोण 'साकेत' बन गया है, छायावाद-युगमें सङ्केत। प्रसाद, निराला और महादेवीकी कृतियोंमे वह सङ्केत स्पष्ट है, किन्तु पन्तके 'पल्लव'की 'परिवर्त्तन' शीर्षक कवितामे वह सङ्केत न होकर जिज्ञासा बन गया है। वही जिज्ञासा 'युगान्त'से 'ग्राम्या' तक अपना समाधान ले रही है। जैसे 'भारत-भारती'मे सास्कृतिक दृष्टिकोण अपने समयके स्थूलसे अधिक बॅध गया है, वैसे ही पन्तके प्रगतिशील काव्योमे अपने युगके स्थूलसे। स्थूलकी आवश्यकता सूक्ष्मको सदेह करनेके लिए है। इसीलिए सस्कृतिको सगुण रूप भी धारण करना पडा था। हॉ, स्थूलका लक्ष्य जब स्थूल ही हो जाय तब वह वर्जनीय है।

ऐसा समझा जाता है कि सास्कृतिक पुनर्निर्माणकी ओर उन्मुख काव्योको छायावादने आकर विफल कर दिया। इस धारणामे शायद छायावादको आत्मगीतके रूपमें ही ग्रहण किया गया है। और इस रूपमें छायावादके कलात्मक-'मुक्तक'को सास्कृतिक 'प्रबन्ध'-काव्योका

प्रतिरोधी समझ लिया गया है, किन्तु बात ऐसी नहीं जान पडती। छायावाद इनके अवसान-कालमे नहीं, बल्कि इनके सृजन-कालमे ही इनके नवोत्थानके लिए आया। उसने प्रबन्ध-काव्योके सामूहिक धरा-तलको व्यक्तिकी अन्तस्सज्ञा दी। स्वय 'यशोधरा'मे द्विवेदी-युगके कवित्वने छायावादका भी कवित्व ग्रहण कर लिया है। एक प्रकारसे वह द्विवेदी-युगका छायात्मक प्रबन्ध-काव्य है। उसमे भाव और शैलीकी वह पुरानी स्थूलता (इतिवृत्तात्मकता) नहीं है। हाँ, छायावादने प्रबन्ध-काव्योकी इतिवृत्तात्मक स्थूलताको निखारकर उन्हे जीवनकी अधिकाधिक सूक्ष्म अभिव्यक्तियाँ दे दीं। इसीका परिणाम है कि 'कामायनी' मे अभिव्यक्तियोकी सूक्ष्मता अधिक है।

आज भी अतीतकी कथाशोपर ही अवलम्बित सास्कृतिक पुनर्निर्माणकी ओर उन्मुख काव्य प्रचुर परिमाणमे निकल रहे हैं। सच तो यह है कि प्रबन्ध-काव्योकी रचना इसी सास्कृतिक दिशामे हो रही है और इस ओर छायावादके कवि ही विशेष रूपसे सलग्न है। जिस जातीय परिधिमे प्रत्यक्ष रूपसे चारण-काव्य और प्रच्छन्न रूपसे राष्ट्रीय काव्य सास्कृतिक सन्देश लेकर आये थे, उसी परिधिकी ओर इन प्रबन्ध-काव्योका भी रुख-सुख है। वर्तमानसे भूतकालकी ओर यह प्रत्या-वर्त्तन (या पलायन ?) कहाँतक उपयुक्त है, इसी प्रश्नको सुलझानेमे आज सस्कृति और विज्ञानका सङ्घर्ष चल रहा है। जो अतीतकी ओर नहीं लौटना चाहते वे भविष्यकी ओर बढ़ रहे है, इस दृष्टिसे प्रगतिवादी प्रभविष्णु है।

भूत और भविष्यकी ओर जानेवाले अभी नये गम्भीर कवि नहीं आ सके है, अतएव छायावादके ही प्रतिनिधि-कवि समयके दो ओर-छोरपर चल पड़े हैं—'कामायनी' द्वारा 'प्रसाद' अतीतके पथपर हैं,

'पल्लव' के बाद पन्त 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' द्वारा भविष्यके पथपर। पन्तकी प्रगतिशीलतामे सस्कृति और विज्ञानका सङ्घर्ष नहीं; बल्कि दोनोका समन्वय है, यह उनके स्वभावमे छायावादकी कोमलताका सुपरिणाम है। पन्तने प्रगतिवादको सौष्ठव दे दिया है।

अन्ततोगत्वा, छायावादी और प्रगतिवादी दोनो ही वर्त्तमानको छोड रहे हैं, दोनो ही वर्त्तमानसे ऊबकर स्वप्नदर्शी हो गये है। छायावादी भावुक स्वप्नदर्शी हैं, प्रगतिवादी वैज्ञानिक स्वप्नदर्शी। प्रगतिवाद अभी अपने निर्माणके आरम्भमे है, छायावाद अपना निर्माण पूरा कर चुका है। मुक्तक-काव्यके क्षेत्रमे छायावादने अपना पूर्ण उत्कर्ष पन्तके 'पल्लव' और महादेवीके गीतोमे किया, प्रबन्ध-काव्यके क्षेत्रमे 'कामायनी' मे। छाया-वादका मुक्तक-व्यक्तित्व 'कामायनी'के महाकाव्यत्वमे बिन्दुसे सिन्धु हो गया है।'कामायनी' का अध्ययन दो दृष्टियोसे किया जा सकता है— एक तो सस्कृतिकी दृष्टिसे, दूसरे कलाकी दृष्टिमे।

'कामायनी'

सस्कृतिकी दृष्टिसे 'कामायनी' ने कोई नया सन्देश नहीं दिया, उसने भारतके आप्त-आत्मचिन्तनको ही उपस्थित कर दिया, फलतः उसका जीवन-दर्शन श्रमिक युगका नहीं, आश्रमिक युगका है। जीवनको किसी नवीन वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे न देखनेके कारण यह काव्य प्राचीन सस्कृतिकी ही वर्त्तमान अभिव्यक्तियो (गान्धीवाद और छायावाद) का सामञ्जस्य दे सका। इसमे अन्तःकरणका आध्यात्मिक साम्यवाद है। भूत और वर्त्तमान कालकी मिलती-जुलती सामूहिक अशान्तियोको व्यक्तिगत आत्मसाधनाकी शान्ति दी गयी है। इस प्रकार लोकपरक होते हुए भी इस काव्यका अन्तर्मुख आत्मपरक है।

संस्कृतिके क्षेत्रमे प्राचीन होते हुए भी 'कामायनी'की नवीनता इसकी काव्य-कलामे है। यह चित्तवृत्तियोका रूपक-काव्य है। इसकी कला पूर्णतः साङ्केतिक है। कथानक, चरित-चित्रण, पद-योजना, शब्द-प्रयोग, सब सङ्केतबद्ध है। अति-साङ्केतिकताके कारण यह काव्य दुर्बोध है। कथानकको स्थूल-रूपके बजाय सूक्ष्म रूपमे लेनेके कारण वह भी भावात्मक हो गया है। सूक्ष्म कथानकके अनुरूप ही पात्र भी सूक्ष्म मानसिक जगत्के हैं—स्थूल सामाजिक लोकके प्रतीयमान। भावात्मक कथानक और भावात्मक चित्रण द्वारा यह काव्य प्रसादजीकी कहानी-कला, नाट्य-कला और काव्य-कलाका अंशीभूत एकत्रीकरण हो गया है। छायावादके अन्तर्गत होनेके कारण यह काव्य भी अन्तर्मुख प्रबन्ध-काव्य है। प्रसादकी 'कामायनी', निरालाका 'तुलसीदास' और अज्ञेय-की 'चिन्ता' ने हिन्दीमे प्रबन्ध-काव्यकी एक नयी शैलीको अग्रसर किया है। किन्तु इस शैलीके और आगे बढनेके पूर्व ही प्रगतिवाद आ गया, मानो अन्तर्मुख प्रबन्ध-काव्योके बजाय बहिर्मुख अभिव्यक्तियोंका नवीन प्रतिनिधि। 'चिन्ता' मे अभिव्यक्ति (कला) तो छायावादकी है, किन्तु अभिव्यक्ति (जीवन) बुद्धिवादका है। प्रगतिवादमे कला और जीवन दोनोका बाह्य-करण हो रहा है। मुक्तकके बाद छायावादको प्रबन्ध-काव्यकी जिस ऊँचाई तक उठना था 'कामायनी' मे वहाँ तक उठकर वहीं स्थिर हो गया है।

काव्य-कलामें एक विशेष व्यक्तित्व रखते हुए भी "कामायनी' का कवि भाषा और सङ्गीतका शिल्पी नहीं है। उसमे गद्यका रूखापन है। असलमे वह काव्यकी बहिरङ्ग कलाका नहीं, बल्कि अन्तरङ्ग कलाका कलाकार है। उसमें प्रकृति-निरीक्षण, सौन्दर्य-दर्शन, हृत्स्पन्दन और चरित्र-चित्रणकी बारीकी है।

यद्यपि 'कामायनी' एक आध्यात्मिक काव्य है, और इसकी परिणति भी वैसी ही हुई है, तथापि 'कामायनी' का कवि आध्यात्मिककी अपेक्षा मानुषिक अधिक जान पड़ता है। वह मानवीय मनोरागोका कुशल चित्रकार है। मनोरागोकी अभिव्यक्ति ही इस काव्यमे प्रधान हो गयी है और उन्हे ही काव्यकी रसात्मकता भी मिल सकी है। आध्यात्मिक अभिव्यक्तियॉ तो बौद्धिक चिन्तन मात्र रह गयी है; उनमे तत्त्व है, कवित्व नही। सब मिलाकर 'कामायनी' मे जीवनकी गहराई और काव्य-कलाकी गूढता है।

मध्ययुगीन विकास

जिन पॉच रचनाओको पॉच कालोमे विभक्त किया गया है, वे असलमे एक ही कालमे है—मध्ययुगमे। ये एक ही हाथकी पॉच उँगलियॉ है; पॉच उँगलियोंमे पॉच काल नही, वल्कि एक ही कालके विविध खण्ड है। सच तो यह है कि अभी तक मध्ययुग ही चल रहा है। कालका निश्चय जीवनके सामाजिक गठनसे किया जा सकता है। हमारा सामाजिक गठन अभी तक मध्यकालका है। राष्ट्रीय रचनाओसे लेकर छायावाद तकका साहित्य उसी सामाजिक गठनका वाङ्मय है। छायावादके वाद प्रगतिवाद ही ठीक अर्थमे मध्ययुगके वाहरके सामाजिक गठनके लिए उद्योगशील है, वर्त्तमानको अवसान देकर। राष्ट्रीय रचनाओंसे लेकर छायावाद तक जिस साहित्यको हम आधुनिक कहते है, वह जीवन-विकासकी दृष्टिसे ठीक अर्थमे आधुनिक नही है, उसमे तो दीर्घायुप्राप्त मध्ययुगका ही वार्द्धक्य है, जैसे रवीन्द्रनाथके व्यक्तित्वमें।

निःसन्देह चारण-कालसे चलकर बीसवीं सदीके द्वितीय चरण (छायावाद) तक पहुँचकर मध्ययुगने अपनी परिपूर्ण उन्नति की, किन्तु

उसे वही रुद्ध कर अचानक प्रगतिवादने आकर आधुनिकताका प्रतिनिधित्व ले लिया।

चारण-काव्यसे लेकर रीति-काल तक, तथा राष्ट्रीय काव्यसे लेकर छायावाद और उसके पतन-काल तक इतिहासका मूल व्यक्तित्व एक ही है,- केवल अभिव्यक्ति बदलती गयी है। या, यो कहे कि समाज और व्यक्ति मध्ययुगीन ही रहे है, केवल उनकी मुद्राएँ बदलती रही है। इस दृष्टिसे हमारे वर्त्तमान काव्य-साहित्यने सिर्फ कलाका उत्कर्ष किया है, इसी कला-उत्कर्षके कारण वह मध्यकालकी अपेक्षा आधुनिक जान पडता है। यह उत्कर्ष कलाके स्थानीय या एकदेशीय कलरमे अन्यदेशीय कलरके सामञ्जस्यसे हुआ है। मध्ययुगमे यदि फारसी और उर्दूकी तर्जेअदासे हिन्दीका मेल हुआ तो वर्त्तमानकालमे अग्रेजी कलासे। इन कलात्मक-सन्धियोमे संस्कृतकी मूल-सस्कृति बनी रही।

'पल्लव'

निःसन्देह वर्तमान काव्योका शरीर (अभिव्यक्ति या कला) नवीन है, आत्मा वृद्धा है—भावो और विचारोमे। अग्रेजीमे जिस रिवाइ-वलिज़्मको रोमैण्टिक कहा गया है, उसमे कला ही रोमैण्टिक हो गयी है, संस्कृति तो मध्ययुगीन ही है। यदि सस्कृतिमे भी कुछ रोमैण्टिकसिज्म आ सका है तो उसमे नयी पौदका नया वसन्त नहीं, बल्कि पुरानी पौदका ही नवाङ्कुर है। सत्य तो यह है कि 'संस्कृति'के क्षेत्रमे सामाजिक रिवाइवलिज्म 'प्रिय-प्रवास' और 'कामायनी' ने दिया। 'भारत-भारती'के बाद गुप्तजीके नये सास्कृतिक काव्य भी इसीके अन्तर्गत हैं। किन्तु 'कला'के क्षेत्रमे रोमैण्टिक रिवाइवलिज्म 'पल्लव'ने दिया। कुछ अशोमे 'कामायनी' मे भी कलाका यह उत्कर्ष है, किन्तु वह

पूर्णतः प्राञ्जल नहीं है, अतएव 'पल्लव' को ही इसका प्रतिनिधित्व दिया गया है।

इतिहासकी पुनरावृत्ति

सगुण-काव्यके बाद शृङ्गार-काव्यमे जैसे कलाका पतन हुआ, उसी प्रकार छायावादके बाद अब यथार्थवादकी नकलमे कलाका पतन हो रहा है। यह पतन उन विकृतियोको व्यक्त करता है जो सास्कृतिक प्रयत्नोके बावजूद हमारे जीवन और साहित्यमे युगोकी असफलताके रूपमें लुकी-छिपी रहती हैं और समय-समयपर ऐतिहासिक त्रुटियोका नमूना बनकर सामने आ जाती है। ऐसी स्थितिमे जीवनका प्रशस्त मार्ग दिखलानेके लिए साहित्यमे पुनः-पुनः ऐतिहासिक काव्योका उदय होता है। काव्यके इन ऐतिहासिक प्रयत्नोको हम चारण और राष्ट्रीय काव्यमे देखते आये हैं, अब प्रगतिवादी काव्यके रूपमे देख रहे है। चारण-काव्यकी सामाजिक त्रुटियोको राष्ट्रीय काव्यने परिष्कृत किया, राष्ट्रीय काव्यकी त्रुटियोको प्रगतिवाद परिष्कृत कर रहा है। समाजमे पुनः ऐतिहासिक शालीनता आ जाने पर साहित्यमे उसका सौन्दर्य और माधुर्य नयी दिव्य-कलासे प्रकट होता है। चारण-काव्यके बाद यही कलात्मक दिव्यता सगुण-काव्यमे और राष्ट्रीय काव्यके बाद छायावादमे प्रकट हुई। भविष्यमे प्रगतिवादके बाद भी फिर कोई कला दिव्यता किसी नवीन रोमाण्टिसिज्म-मे प्रकट होगी।

तो पिछले सास्कृतिक-काव्य कलाकी दृष्टिसे कुछ नवीन रहे है, सस्कृतिकी दृष्टिसे प्राचीन। वे नवजागरणके नहीं, बल्कि पुनर्जागरण (रेनेसॉ) के काव्य है। 'कामायनी' भी उसी पुनर्जागरणका काव्य है।

शुक्लजीका कृतित्व

[१]

अञ्जलि

आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल नश्वर शरीर छोड़कर अब अनन्त पथके यात्री हैं ; किन्तु क्षर शरीर द्वारा साहित्यको जो अक्षर दे गये हैं उसमे आज भी वे हमारे बीच हैं ।

अध्यापकके पदसे उनके सार्वजनिक जीवनका आरम्भ हुआ था, अध्यापकके पदसे ही उनके साहित्यिक जीवनका कीर्त्ति-प्रसार हुआ, और वही उनका चिरविश्राम भी बना । अपने आरम्भिक जीवनमे मिर्जा-पुरके मिशन हाईस्कूलमे वे ड्राइङ्ग-मास्टर थे । और आगे चलकर जब वे हिन्दू यूनिवर्सिटीके प्रमुख हिन्दी-साहित्याध्यापक अथवा साहित्यके आचार्य-पदपर गौरवासीन हुए तब भी वे हमें ड्राइङ्गकी ही शिक्षा देते थे । पहिले जो ड्राइङ्ग पेन्सिलकी कुछ रेखाओंमें सीमित थी वह बादमे उनकी लेखनीकी पुष्ट पक्तियो द्वारा साहित्यके विशद क्षेत्रमे चली गयी ।

शुक्लजी तन्त्रविद् और रासायनिक साहित्यकार थे । उनके साहि-त्यिक व्यक्तित्वके अनेक अङ्ग है—(१) निबन्ध-लेखक, (२) समीक्षक, (३) अनुवादक, (४) कोपकार, (५) कवि । किन्तु उनकी लोकप्रियता समीक्षकके रूपमे ही अधिक है । कविता और कहानी उनके साहित्यिक व्यक्तित्वके आशिक रूप है, किन्तु हम तो यह कहेगे कि कविता ही उनकी आत्मा थी, समीक्षा और निबन्ध-साहित्य उनका ठोस शरीर था । उनके भीतर जो रसात्मकता थी उसीने उनके गम्भीर गद्य-साहित्य-मे सुदृढ़ कलश प्राप्त किया ।

शुक्लजी मूलतः कवि थे। द्विवेदी-युगमें उन्होंने एकाध कहानी भी लिखी है, यह वह समय था जब हिन्दीमे मौलिक कहानियोका ढॉचा तैयार किया जा रहा था। उन्होने बडी ही कोमल रुचि पायी थी। किसी विछुडे हुएकी स्मृति उन्हे बडी प्यारी लगती थी। कथा-साहित्यके प्रसङ्गमे उन्होने एक स्थानपर लिखा है—'हम कोई ऐसी कहानी या उपन्यास देखनेको उत्सुक हैं जिसमे किसी पूर्वपरिचित वृक्ष या जीव-जन्तुको भी स्मरण किया गया हो।' उनकी यह कोमल भावुकता ठेठ भारतीय सस्कारोमें पली थी, गॅवई-गॉवकी वन्य प्रकृतिकी तरह, जिसमे भावुकता स्वाभाविकता वन गयी है। खपरैलोपर छाई लताओकी तरह ही उनकी स्वाभाविकता भी उनके विवेचना-साहित्यमे एक ग्रामीण भारतीयता पा गयी है।

शुक्लजी वन्य प्रकृतिके अनुरागी थे। जहॉ कहीं रहते थे, ग्रामीण शोभा-श्रीका वातावरण बना लेते थे। उद्यानोंके बीचमे 'पैलेस' नही, हरियालीके वीच भवन वनाकर रहते थे। इस प्रकारके प्रकृत जीवनमे आधुनिकता उन्हे उतना ही स्पर्श कर पायी थी जितना भवन-निर्माणमे स्थापत्यके उपकरणोका सयोग। यही बात उनके साहित्यके लिए भी कही जा सकती है।

द्विवेदी-युगने साहित्यकी विभिन्न दिशाओमे विविध प्रतिनिधि दिये है—उपन्यासोमे प्रेमचन्द, नाटकोमे जयशङ्कर प्रसाद, कविताओमे मैथिलीशरण, आलोचनामे स्वय शुक्लजी। जिस प्रकार द्विवेदी-युगके ये साहित्यिक अपनी नवोन्मेषिनी प्रतिभाके कारण नये युगमे भी समादृत हुए उसी प्रकार शुक्लजी भी।

द्विवेदी-युगका काव्य-साहित्य उन्नति करता हुआ अपने चरम उत्कर्ष (छायावाद) पर पहुँचा। किन्तु जिस गतिसे उस युगके काव्य-

साहित्यने उन्नति की, उस गतिसे गद्य-साहित्यने नही की। यद्यपि काव्यकी तरह गद्य-साहित्यके भी कुछ प्रतिनिधि-लेखकोके नाम हमारे सामने है, किन्तु वे बहुत कुछ पुराने ढर्रेके है, उनमे वार्द्धक्य है, यौवन नहीं। यद्यपि कविगुरु रवीन्द्रनाथकी भाँति चिरनूतन साहित्यकी आशा सभीसे नहीं की जा सकती तथापि साहित्यको नयी सीमाओसे दुराव रखना किसी विकाशशील साहित्यिकके लिए गौरवकी बात नही हो सकती। द्विवेदी-युगके प्रायः सभी साहित्यिक, साहित्यकी नयी सीमाओके प्रति सहानुभूतिपूर्ण नहीं थे, वे एक विशेष युगकी परिधिमे रूढ़ियोकी तरह बँध गये थे। शुक्लजी भी उसी समाजके साहित्यिक थे, किन्तु उनके भीतर जो एक सहृदय कवि बैठा हुआ था, उसमे सङ्कोच तो था किन्तु सङ्कीर्णता नही थी। हाँ, किसी नये व्यक्तिसे सम्पर्क होने पर उससे जो परिचयहीनताकी दूरी होती है, वही नये साहित्यके प्रति शुक्लजीके मनमे भी थी। कभी-कभी वे उससे घबडाते भी थे, किन्तु उसके निकट-परिचयमे आ जाने पर उसकी विशेषताओका समर्थन भी करते थे, साथ ही बुजुर्गोंकी तरह अपनी अरुचियोको भी प्रकट कर देते थे। वे अनुदार नहीं थे, किन्तु उनकी उदारता एक निजी मर्यादामें बँधी हुई थी। वह मर्यादा आँख मूँदकर न तो प्राचीनकी अभ्यर्थना करती थी और न नवीनोकी अवहेलना। उनमे एक सजग अन्वीक्षण था। इसी कारण वे प्राचीन और नवीन दोनो ही साहित्योकी आलोचना कर सके। यह जरूर है कि जिस प्रकार उन्होने देर-अबेर नवीन काव्यसाहित्यका निरीक्षण किया उसी प्रकार नवीन गद्य-साहित्यका नहीं। किन्तु जिस प्रचुर परिमाणमें नवीन काव्यसाहित्य आ चुका है, उस परिमाणमे अभी नवीन गद्य-साहित्य नहीं आ सका है। छायावादकी कविताका आरम्भ तो द्विवेदी-युगमे ही हो गया था किन्तु नवीन गद्य-साहित्यका निर्माण

अब हो रहा है। यदि आचार्य शुक्लजी हमारे सौभाग्यसे कुछ वर्षों और जीवित रहते तो नवीन गद्य-साहित्यको भी अपना स्नेह-सरक्षण दे जाते।

शुक्लजी हमारे साहित्यके चार युग देख गये हैं—भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग, छायावाद-युग और प्रारम्भिक प्रगतिशील-युग। स्वय वे मध्ययुगके सामाजिक व्यक्ति थे, किन्तु वाणीके चैतन्य-पुजारी थे। वाणीकी पूजामे नवीन उपकरणोंका चयन करनेमे वे बेसुध नही थे, हॉ, नये उपकरणोका सङ्कलन बहुत सोच-समझकर करते थे। इसमे विलम्ब अवश्य होता था, किन्तु उनका काम 'देर आयद दुरुस्त आयद' होता था। अपने धीर-गम्भीर पदोसे वे छायावाद-युगतक बढ आये थे।

अपने 'हिन्दी-साहित्यका इतिहास' के नये सस्करणके बाद ही वे लोकान्तरको चले गये है। यद्यपि वे नये सस्करणको कुछ और परिवर्तित-परिवर्द्धित करना चाहते थे, तथापि हम तो यही कहेगे कि अपनी ओरसे वे साहित्यके इतिहासको जहॉ तक छोड गये है, वह उनकी रुचिके अनुरूप है।

यूनिवर्सिटियोमे हिन्दी-साहित्यका स्टैण्डर्ड बनानेमे दो व्यक्तियोका प्रमुख हाथ है—एक श्रद्धेय बाबू श्यामसुन्दरदासका, दूसरे स्वय शुक्लजीका। बाबू साहबने हिन्दीके लिए जो क्षेत्र तैयार किया शुक्लजीने उसमे साहित्य-सिञ्चन किया।

प्रायः शुक्लजीके शिष्य-प्रशिष्य ही हाईस्कूलो, कालेजो और यूनिवर्सिटियोमे हिन्दी-साहित्यका अध्यापन कर रहे है। शुक्लजीके ही समीक्षा-साहित्यको मापदण्ड मानकर वे उनके साहित्यिक उद्योगोको सुलभ कर रहे है। हम आशा करते है कि उनके अनुयायियोकी यह गुरुभक्ति केवल रूढिगत न होकर उनकी वह मानसिक विस्तीर्णता भी प्राप्त करेगी जिसके कारण शुक्लजी प्राचीन और नवीन दोनो ही युगोके साहित्यके आचार्य थे।

[२]

पूर्वपीठिका

हिन्दीमे नियमित समालोचना इसी सदीके प्रारम्भका श्रीगणेश है। इससे पूर्व भारतेन्दु युगमे कविताके बाद गद्यका निर्माण-कार्य शुरू हो गया था। तब गद्य-साहित्य नवीन अङ्कुर-मात्र था। साहित्यमे कविता ही एकच्छत्र थी। व्रजभाषाका बोलबाला था। व्रजभाषामें प्रचुर काव्य-साहित्य होते हुए भी उसकी समालोचना प्रत्यालोचना नहीं होती थी। तब न इतनी पत्र-पत्रिकाएँ थी और न इतना जगा हुआ देश था। हमारे जीवनकी सभी दिशाओमे मुस्लिम सल्तनतका दरबारी वातावरण था। भारतेन्दु-युग तक मानो उस युगके सितारकी झनकार अपनी अन्तिम प्रतिध्वनि ले रही थी। गार्हस्थिक जीवनमे नैतिक पुरुष हमारे आदर्श होते हुए भी सार्वजनिक जीवनमे शासक लोग ही हमारे आदर्श थे। अतएव उनके जीवन-का जो रवैया था वही हमारे काव्य-साहित्यमे भी चल रहा था। भक्त कवियोका साहित्य हमारे घरोमें भजन-पूजन बना हुआ था, शृङ्गारिक कवियोका साहित्य हमारा आहार-विहार। किसी साहित्यिक दृष्टिकोणसे नहीं, बल्कि लौकिक और पारलौकिक सुविधाओकी दृष्टिसे शृङ्गारिक और आध्यात्मिक साहित्य अङ्गीकृत होते रहे। दैनिक जीवन (लौकिक जीवन) शृङ्गार-रसमे ही बहता रहा। उस समय कवियोंके अखण्ड समाज जुडते थे, फौव्वारेकी तरह उनकी वाग्धारा छूटती थी। होलीमें पिचकारी छोडने-जैसी प्रतिद्वन्द्विता चलती थी। कवि एक दूसरेके सामने बडे दम-खमसे उपस्थित होते थे। यह था उस युगका साहित्य। और उस साहित्यका माप-दण्ड था अलङ्कार-शास्त्र—वह मानो शृङ्गारिक मनोविनोदोके लिए 'चार्ट' का काम करता था। आभूषणोंकी पहिचानसे

ही जिस तरह नारीके अवयवोंकी पहिचान होती थी, उसी तरह अलङ्कारो द्वारा कविताकी। फलतः उस समयके काव्य-साहित्यमें बाहरी कारीगरी खूब हुई। कवि स्वर्णकार बन गये; रीतिशास्त्री पारखी (जौहरी) बन गये। उस समयका काव्य-साहित्य आत्माके भीतरसे नहीं, शरीरके माध्यमसे आया था। आत्माका साहित्य (भक्ति-काव्य) परमात्माको नैवेद्य देनेके लिए ठाकुरजीके मन्दिरोंमे पडा हुआ था। सार्वजनिक जीवन-मे वह कभी-कभी आरतीकी तरह घूम जाता था।

यह थी हिन्दी-काव्यकी स्थिति। दूसरी तरफ सस्कृत और उर्दूके काव्य-साहित्य भी अपने-अपने ढङ्गसे चल रहे थे। हिन्दी-काव्य अशतः इन्ही दोनोका मध्यवर्ती था। शृङ्गारिक अभिव्यक्तियोंकी प्रेरणा उसने उर्दूसे ली, जैसे जीवनकी प्रेरणा मुस्लिम सल्तनतसे; और कविताओंकी निरख-परखकी कसौटी सस्कृतसे ली; उसके आधारपर अलङ्कार-शास्त्र बनाया; यह मानो मुस्लिम आत्मा लेकर उसपर हिन्दू रङ्ग चढ़ा दिया गया। इस प्रकार हम सिर्फ अपने बाह्य-निर्माणमे लगे हुए थे। किन्तु एक ओर हिन्दीके शृङ्गारिक कवियोंने मुख्यतः उर्दूकी रसिकतासे सह-योग किया तो दूसरी ओर कुछ मुस्लिम आत्माओंने हिन्दीके भक्ति-काव्यसे। इन्हे हम सूफी कवि कहते हैं। शृङ्गारिक रचनाएँ उनके यहाँ पर्याप्त थीं अतएव इस कोटिकी हिन्दी रचनाओंमें उन्हें कोई विशेष नवीन आदानकी अपेक्षा नहीं जान पडी। हाँ, जिस प्रकार शृङ्गारिक कवियोने सस्कृत काव्य-शास्त्रका विन्यास लिया, उसी प्रकार हिन्दीमे आनेवाले सूफी कवियोने शृङ्गारिक कवियोंसे उनका शारीरिक रूपक।

मध्ययुगको पार कर, भारतेन्दु-युगको बीचमे छोडकर, हम द्विवेदी-युगमें पहुँचते हैं। मुस्लिम शासन बदल चुका था, अग्रेजी शासन उत्तराधिकारी

हो चुका था। उर्दूकी प्रधानताका स्थान अंग्रेजी लेने लगी थी। घरेलू जीवनमे अपनी अपनी जातीय परिधिमे रहते हुए भी सार्वजनिक जीवनमे हम अंग्रेजी वातावरणमे आने लगे थे। तब तक हमारे साहित्य और जीवनकी नवीन दिशा स्पष्ट होने लगी थी। किन्तु मध्ययुगके इतिहासका एक दीर्घकालीन प्रभाव हमारे मन, स्वभाव और रुचिमें बना हुआ था। एक शब्दमे, हमारे संस्कार मध्यकालीन (मुस्लिमकालीन) बने हुए थे। फलतः हमारे जीवन और साहित्यिक चिन्तनका रुख मुख उसी ओर था। नये शासनमे हम काव्यसे गद्यमे भी आ गये। बस, पिछले दायरेसे हम केवल भाषाकी नवीनता तक ही पहुँचे। एक ओर गद्यका निर्माण, दूसरी ओर पिछले काव्योंका स्पष्टीकरण—यही हमारी समालोचनाका साहित्यिक विषय रहा।

नयी भाषा (गद्यकी भाषा)के निर्माणका वाद विवाद भारतेन्दु-युगमे ही चल पड़ा था, पिछले काव्योंका विश्लेषण द्विवेदी-युगमे शुरू हुआ। खड़ी बोलीकी कविता तब जन्म ले रही थी, उसकी कला-विवेचनाका समय नहीं आ पाया था। क्या गद्य, क्या काव्य, दोनोंके ही लिए भाषा-सम्बन्धी विवाद ही प्रधान बना हुआ था। फलतः कलाकी विवेचनाकी दृष्टिसे ब्रजभाषाका प्राप्त साहित्य ही हमारी आलोचना-प्रत्यालोचनाका विषय बन गया।

इस युगके आलोचकोंमे लाला भगवानदीन, मिश्रबन्धु और पण्डित पद्मसिंहशर्मा प्रमुख है। जैसा कि पहले कहा है, हमारे संस्कार मध्यकालीन (मुस्लिमकालीन) बने हुए थे; फलतः काव्य हमारे लिए मनोरञ्जनकी कला था, वाणी-विनोद था। द्विवेदी-युगमें खड़ी बोलीके उत्कर्षके पूर्व वह इसी अर्थमे अङ्गीकृत था। अतएव, समालोचनाके नामपर जो काव्य सम्बन्धी विवाद हुए वे भी साहित्यमे 'डिबेटिङ्ग

क्लबो' का मनोरञ्जन ही सुलभ कर रहे थे। व्रजभाषाकी शृङ्गारिक रचनाओको लेकर ही ये साहित्यिक डिबेट चल रहे थे और जिस प्रकार उस युगके कवियोंमे एक काव्य-प्रतियोगिता चल रही थी, उसी प्रकार उनके अर्वाचीन हिमायतियोमे रीझ-बूझकी प्रतिद्वन्द्विता चल पड़ी—यह थी हमारे साहित्यकी तुलनात्मक समालोचना !

उन आलोचकोमे मिश्रबन्धुओने एक कदम आगे बढाया—उन्होने कवियोका परिचय ('हिन्दी-नवरत्न') और साहित्यका इतिहास ('मिश्र-बन्धु-विनोद') उपस्थित किया। इस दिशामे त्रुटियोके होते हुए भी यह पहिला व्यवस्थित प्रयत्न था, जिसका परिष्करण और गम्भीर प्रणयन उत्तरोत्तर भविष्यका कार्य था।

वे विवादात्मक और तुलनात्मक समालोचनाएँ आजके साहित्यमें कोई गम्भीर स्थान भले ही न रखती हो, किन्तु उनका भी एक विशेष साहित्यिक महत्त्व है। उन्होने गद्यकी भाषाको कलात्मक बनानेमे अच्छा सहयोग दिया है। इस कोटिके आलोचकोमे पद्मसिंह शर्मा गण्यमान्य है।

एक ओर काव्य-सम्बन्धी विवादोंमे हिन्दी-गद्य कलात्मक बन रहा था, दूसरी ओर भाषा-सम्बन्धी विवादोमे गम्भीरता भी प्राप्त कर रहा था। भाषा-सम्बन्धी विवादोमे स्वय अपने युगके निर्माता आचार्य पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी भी सम्मिलित थे। इस दिशाके अन्य महारथियोंमें पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र और बाबू बालमुकुन्द गुप्त उल्लेखनीय है।

यह सब कुछ एक तरहसे गद्यकी भाषाका निर्माणकाल था। गद्यके इसी निर्माण-कालमे खड़ी बोलीकी कविता अङ्कुरित हो रही थी। द्विवेदीजी व्रजभाषाके काव्य-सम्बन्धी विवादोंमे न पडकर केवल भाषा-सम्बन्धी विवादोंमें जो भाग ले रहे थे उसीका यह परिणाम था कि गद्यके

साथ ही वे खड़ी बोलीके काव्यकी भाषाके निर्माणमे भी लग गये थे। एक ओर ब्रजभाषासे वे विमुख हो चुके थे, दूसरी ओर खड़ीबोलीके काव्यके लिए अपने साहित्यमे कोई आदर्श नहीं पा रहे थे। फलतः जिस संस्कृतके कलादर्शपर ब्रजभाषाकी कविताका बानक बना था, उन्होने उसी सस्कृतके काव्योके गुणदोष-विवेचनका कार्य प्रारम्भ किया। 'कालिदासकी निरङ्कुशता' खडी बोलीके काव्यके लिए उनकी आदर्श-प्रियताका सूचक है। 'नैषधचरित-चर्चा' और 'कुमार सम्भव-सार' सत्काव्योके आदर्शके रूपमे उनके प्रीतिभाजन हुए। किन्तु खड़ीबोली-की कविता सस्कृत-साहित्यसे सास्कृतिक आदान तो ले रही थी, साथ ही उसे एक विपुल आदान अपने वर्त्तमान कालसे भी मिल रहा था। राष्ट्रीय जाग्रतिने उस नयी काव्य भाषा (खडी बोली) को नया जीवन दे दिया। गुप्तजीकी 'भारत-भारती' क्या निकली, खड़ी बोलीकी प्राण-प्रतिष्ठा हो गयी। इसके बाद ज्यो-ज्यो राष्ट्रीय जाग्रतिने हमारे जीवनकी सीमाका विस्तार किया त्यो-त्यो साहित्यके आदानके अन्य माध्यमोसे भी हम परिचित होते गये, संस्कृतके बाद बगलासे, बँगलाके बाद अंग्रेजीसे भी हम आदान लेने लगे। आज उस युगकी खडी बोलीकी कविता छायावादके रूपमे अपने क्लाइमेक्सपर पहुँच चुकी है।

किन्तु हम फिर पीछे मुडे। शुक्लजी द्विवेदी-युगमे ही लेखकके रूपमे प्रकाशित हुए। उनका साथ मुख्यतः भारतेन्दुकालीन साहित्यिकोसे था ; किन्तु उनके साहित्यिक सस्कार न तो भारतेन्दुकालीन थे, न द्विवेदीकालीन, न मुस्लिमकालीन। वे पूर्णतः अतीतकालीन आर्य व्यक्ति थे। सामाजिक, साहित्यिक और राजनीतिक हलचलोसे अलग वे एक निजी मनोजगत्मे अपना साहित्यिक पथ सन्धान कर रहे थे। साम-यिक हलचलोको उन्होने अपने सम्पूर्ण जीवनमे भी महत्त्व नहीं दिया

वे जैसे उनके लिए अस्तित्व-हीन हो। साहित्यपर सामयिक हलचलोका जो प्रभाव पड़ता था वे विचारके लिए उसे अपने सामने रखते तो थे किन्तु उसका विवेचन वे प्राचीन व्यवस्थाके अनुसार करते थे। ऐसे प्रसङ्गोंमे वे मुख्यतः साहित्यके कला-पक्षको अपनी स्वीकृति या अस्वीकृति देते थे।

तो, द्विवेदी-युगमें जब भाषा और काव्य-सम्बन्धी विवाद चल रहा था उस समय भी शुक्लजी तटस्थ थे, उस समय मानसिक व्यापारोको लेकर मनोवैज्ञानिक लेख लिखते थे, क्रोध, लोभ, क्षमा, इत्यादि उसी समयके लेख हैं। इस दिशामें वे अग्रेजीके उन लेखकोके साथ थे जो आरम्भिक मनःशास्त्री थे। किन्तु आगे चलकर शुक्लजीके साहित्यिक कदम भी उठे, उन्होंने साहित्यिक विचार भी दिये। असलमे शुक्लजीकी प्रवृत्ति यह रही है कि वे तटस्थ रहकर किसी निर्माण-कार्यको देखते थे और जब वह अपनेमे पूर्ण हो जाता था तब उसके मूलको ऑकते थे, इमारत बन जाने पर उसकी नींव देखते थे। जिस समय वे मनोवैज्ञानिक लेख लिख रहे थे उस समय हमारा साहित्य अपने निर्माणमे लगा हुआ था, अतएव उसमें उन्हे कुछ देखने-दिखानेकी शीघ्रता नहीं थी। फलतः सामयिक प्रसङ्गोसे अलग मनुष्यके चिरन्तन मानसिक व्यापारोके विश्ले-षणमे ही उन्होने मनोयोग दिया। जैसे उन्होने अपने मनोवैज्ञानिक लेखोमे शरीरशास्त्र न देकर मनःशास्त्र दिया, उसी प्रकार साहित्यिक लेखोमे रस-शास्त्र दिया। साथ ही जैसे उनकी आत्माके संस्कार एक विशेष सस्कृतिके दायरेमे आर्ष है, वैसे ही कलाके सस्कार भी एक विशेष-युग-की साहित्यिक रुचिमे मर्यादा-बद्ध है। और हम देखते है कि सस्कारो और रुचियोके निजी सीमा-बन्धनके बाहर शुक्लजीको अन्य प्रयत्न प्रारम्भमे असन्तोष-जनक जान पडे है, बादमे उन नये प्रयत्नोके स्थान बना लेने

पर, निर्माण-कार्य हो जाने पर, शुक्लजीको अपने ढङ्गसे उनका भी समर्थन करना पडा है कुछ असन्तोषके साथ; यथा, छायावादका। आगे चलकर यही बात समाजवादके बारेमे भी होती।

जैसा कि पहले कहा है, शुक्लजीके ऐतिहासिक सस्कार न तो भारतेन्दु-युगके थे, न द्विवेदी-युगके, न मुस्लिमकालके, उनके सस्कार आर्यावर्त्तके संस्कार थे। आस्तिक गृहस्थोकी भाँति उनकी रुचि भक्ति-काव्यकी ओर थी, भक्ति-काव्यमे भी राम-काव्यकी ओर। जब कि व्रजभाषाके काव्य-विवादोमे आनेवाले महानुभाव मुस्लिम-कालके सस्कारोंके रसिक थे, शुक्लजीने हिन्दू-जीवनके आधार-स्वरूप भक्ति-काव्योका मर्मोद्घाटन किया। समालोचना और साहित्यिक इतिहासके क्षेत्रमें शुक्लजीके आगमनसे साहित्यिक विचारोमे गम्भीरताका आरम्भ होता है। उनके पूर्वकी समालोचनाएँ नदीकी उथली सतहके क्रीडा कल्लोल-जैसी है। वे समालोचना न होकर काव्यके बजाय गद्यमे वाग्विनोद मात्र है, जब कि शुक्लजीने उसे विचार-विमर्ष बना दिया। शुक्लजीने ही साहित्यकी अतल गम्भीरतासे परिचित कराया। तुलनात्मक समालोचनाके नामपर चलनेवाले वादविवादोको छोडकर शुक्लजीने मध्ययुगके स्वस्थ साहित्यिक विकासोका दिग्दर्शन कराया। और जैसा कि कहा गया है, उनकी रुचि भक्ति-काव्यकी ओर थी, उन्होने हमारे सामने सूर, तुलसी और जायसीको विशेष रूपसे उपस्थित किया।

काव्यालोचन ही शुक्लजीका प्रमुख कार्य रहा; स्वभावतः काव्य-प्रेमी होनेके कारण उनका मन इसीमे अधिक रमा।

हिन्दीमे आधुनिक समालोचना-शैलीके जन्मदाता शुक्लजी है। वे हमारे वर्त्तमान समीक्षा-साहित्यके आदिगुरु है। उन्होंने द्विवेदी-युगसे आगे बढ़कर संस्कृत काव्य-शास्त्रको अंग्रेजीसे मिला दिया। अंग्रेजीसे

सहयोग करनेमे अपनी मर्यादामे वे उतने ही आर्ष है जितने सस्कृतके सान्निध्यमे। सस्कृतको शब्दकोष बनाकर उन्होने अग्रेजीके समीक्षात्मक शब्दोंका परिचय दिया, मानो वायुयानका बोध पुष्पक-विमानसे कराया। इस दिशामे, समालोचक ही न रहकर वे शब्दोद्भावक भी हुए। साहित्यके नये सिद्धान्तो और नये शब्दोंको अपने ढङ्गसे व्यवस्थित रूप देकर वे आचार्य हो गये हैं। खेद है कि उनके बाद अग्रेजी समालोचना-शैली तो निरन्तर चली आ रही है, किन्तु व्यवस्थापना नही हो रही है। पिछले समालोचकोंके बजाय शुक्लजी उसी प्रकार नवीन है, जिस प्रकार व्रजभाषाके बजाय खडी बोली। एक ही भाषा ('हिन्दी) जिस प्रकार अपना मूल अस्तित्व बनाये हुए खडी बोलीमे पुनर्जीवित हो गयी, उसी प्रकार सस्कृतकी समालोचना-शैली शुक्लजी द्वारा नवजीवन पा गयी। समालोचनाके माध्यमसे शब्दो और विचारोके व्यवस्थापनमे उन्होने हमे अपना जो आचार्यत्व दिया है, सम्प्रति हम उससे वञ्चित है। एक गृहस्थके जीवनमे जो गुरु-गम्भीर उत्तरदायित्व होता है, वही उत्तरदायित्व शुक्लजीके कृतित्वमे है। उसमे साद्यन्त एक सुगठित व्यक्तित्व है।

मध्ययुगकी किसी जमी हुई गृहस्थी-जैसा एक प्राचीन आभिजात्य शुक्लजीके साहित्यमे है, जब कि आजका विकराल युग सब कुछ तोड-फोडकर नये ऐतिहासिक जीवनके स्वप्नोंमे सङ्घर्ष-व्यस्त है। आशा है, इस विक्रान्त युगको पार कर किसी निकट भविष्यमे हम जीवन और साहित्यके व्यवस्थापनमे गम्भीर उत्तरदायित्वका नवीन परिचय देंगे।

अस्तु, यहाँ अब शुक्लजीकी कुछ साहित्यिक स्थापनाओ और उनकी समीक्षा-प्रणालीपर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिये।

[३]

काव्यमें प्रकृति

'शुक्लजी प्रकृति-चित्रणमे यथातथ्यता चाहते है। किन्तु छायावादका कवि प्रकृतिको भी एक व्यक्तित्व देकर देखता है, केवल प्राकृतिक अवयव देकर नही। वह प्रकृतिका सज्ञापन करता है। यथातथ्य रूपमे तो प्रकृति मनुष्यके लिए एक आवेष्टन या फ्रेम मात्र रह जाती है, जीवनसे अभिन्न नही। सश्लिष्ट-रूपमे प्रकृति क्षेपक हो जाती है, जीवनसे एकात्म नहीं। इस रूपमें तो प्रकृतिका अपना अस्तित्व वैसे ही गौण हो जाता है जैसे पुरुषके सम्मुख नारीका व्यक्तित्व। शुक्लजी सश्लिष्ट-चित्रणके रूपमे बाह्य समता देकर प्रकृति और मनुष्यमे आन्तरिक विष-मता बनाये रह जाते है। उनके प्रकृति-चित्रणमे प्रकृति उपसर्ग मात्र रह जाती है—एक स्पन्दन-शून्य अवदान। शुक्लजी प्रकृतिको रेखा-बद्ध करते है—'गाढी हरी श्यामताकी तुङ्ग राशि रेखा घनी'—किन्तु 'छाया-वादका कवि रेखाओंसे अधिक महत्त्व स्पन्दनको देता है।'

प्रकृतिके चित्रणमे शुक्लजी उसके नाना रूपोकी अभिव्यक्ति चाहते हैं—कोमलतासे लेकर प्रखरता तक (ताकि उसके साथ सभी मानव व्यापारोका सामञ्जस्य हो जाय)। अतएव, काव्यमे प्रकृतिकी सुकुमार अभिव्यक्तिसे वे सन्तुष्ट नही। एक लेखमे कहते है—'जो केवल प्रफुल्ल प्रसून-प्रसारके सौरभ-सञ्चार, मकरन्द लोलुप मधुप-गुञ्जार, कोकिल-कूजित निकुञ्ज और शीतल सुखस्पर्श-समीर इत्यादिकी ही चर्चा किया करते हैं, वे विषयी या भोगलिप्सु है। इसी प्रकार जो मुक्ताभास हिमबिन्दु-मण्डित मरकताभ शाद्वलजाल, अत्यन्त विशाल गिरि-शिखरसे गिरते हुए जलप्रपातके गम्भीर गर्त्तसे उठी हुई सीकर-नीहारिकाके बीच

विविध वर्णस्फुरणकी विशालता, भव्यता और विचित्रतामे ही अपने हृदयके लिए कुछ पाते है वे तमाशबीन हैं, सच्चे भावुक या सहृदय नहीं।'—यह आलङ्कारिक वाक्यावली स्वयं शुक्लजीके गद्य-काव्यका एक अच्छा नमूना है। किन्तु उनका आरोप छायावादके कवियोंके बजाय व्रजभाषाके कवियोके लिए अधिक ठीक हो सकता है जिन्होंने मधुचर्याके लिए प्रकृतिके कोमल उद्दीपनोंको लिया। व्रजभाषाकी शृङ्गारिक परम्पराके भीतरसे आये हुए भारतेन्दु-युगके प्रतीक किन्ही छायावादी कवियोमें (यथा, 'प्रसाद' मे) भी प्रकृतिका यह उपयोग देखा जा सकता है, किन्तु द्विवेदी-युगके बाद आये हुए अंग्रेजीके 'रोमैण्टिक रिवाइवल'के प्रतीक छायावादी कवियोने काव्यमे प्रकृतिको उसी कमनीय व्यक्तित्वका विकास दिया है जो समाजमें अवरुद्ध है। हमारा अभिप्राय नारी-व्यक्तित्वसे है। उत्तरकालीन छायावादी कवियोने (मुख्यतः पन्त और महादेवीने) नारी-व्यक्तित्वको प्रकृतिमें प्रतिष्ठापित किया है—'देवि, मा, सहचरि प्राण'की सज्ञा देकर। इस प्रकार भावात्मक होते हुए भी प्रकृति सश्लिष्ट न रहकर सामाजिक हो गयी है।

शुक्लजीके प्रकृति-अनुरागमे 'प्रकृति' नहीं, 'पुरुष' है; सीता नहीं, राम हैं—'गोदावरी या मन्दाकिनीके किनारे बैठे हुए।' प्रकृतिके उस कक्षमे क्या राम ही है, सीता नहीं ? लोकसग्रहका जो सबसे बडा माध्यम (सीता) है वह रामके व्यक्तित्वके सम्मुख वैसे ही लुप्त है जैसे पुरुषके सम्मुख प्रकृति।

शुक्लजीके सश्लिष्ट चित्रणमे प्रकृति रङ्गमञ्चकी पार्श्ववर्ती दृश्यपटी बन गयी है। उनके लिए प्रकृति 'नेचर' है, नैचरल्टीको धारण किये हुए स्वय व्यक्तित्व नहीं। प्रकृतिसे उनका सामाजिक सम्बन्ध उद्यान-सेवनका जान पड़ता है।

प्रकृतिमें नारीके प्रतिष्ठाता कवियोने प्रकृतिको जिस रूपमे लिया-उस रूपमे वह 'नेचर' नहीं, 'प्रकृति' है—एक मधुरा अभिव्यक्ति। काव्यमें प्रकृतिकी यह अभिव्यक्ति पुरुषके बजाय नारीके व्यक्तित्व-पर उनके विश्वासका सूचक है। प्रकारान्तरसे परुष-सभ्यताके प्रति यह उनका रसात्मक-प्रतिरोध भी कहा जा सकता है।

शुक्लजीकी तरह प्रकृति और जीवनको 'नेचर'के रूपमें न लेनेके कारण उन्होने 'प्रचण्डता और उग्रता'में भी 'सौन्दर्य' नही देखा। प्रचण्डता और उग्रताको तदनुरूप ही चित्रित किया। प्रचण्डताको ब्राह्मणत्वके योगसे 'सौन्दर्य' बना देने पर उसमें विश्वामित्र और परशु-रामका व्यक्तित्व आ सकता है, वशिष्ठ (विशिष्ट) का नही। ब्राह्म-णत्वके योगसे सौन्दर्य पा जाने पर भी प्रचण्डता और उग्रतामे असुन्दरता बनी रह जाती है। छायावादका कवि सौन्दर्यका विशिष्टीकरण करता है। छायावाद-रहस्यवादका प्रकृति-चित्रण साख्यके अनुकूल है। साख्यके अनुसार—'आत्मा अपने सीमित-रूपमे जड़से बँधा है अतः प्रकृतिकी उपाधियाँ उसे मिल जानेके कारण वह भी परम पुरुषके निकट प्रकृतिका परिचय लेकर उपस्थित होने लगा।......समर्पणके भावने भी आत्माको नारीकी स्थिति दे डाली। सामाजिक व्यवस्थाके कारण नारी अपना कुल-गोत्र आदि छोड़कर पतिका स्वीकार करती है और स्वभावके कारण उसके निकट अपने आपको पूर्णतः समर्पित कर उसपर अधिकार पाती है। अतः नारीके रूपकसे सीमाबद्ध आत्माका असीममें लय होकर असीम हो जाना सहज ही समझा जा सकता है।'

प्रकृतिका इस रूपमे चित्रण महादेवीकी कविताओमें मिलता है। पन्तने प्रकृतिमे नारीके व्यक्तित्वकी स्थापना कर रमणीयता ला दी है, महादेवीने उसमें 'समर्पण' लाकर मधुरता।

प्रकृतिके सश्लिष्ट चित्रणके लिए शुक्लजीने कालिदास और भवभूतिके काव्यचित्रोका उदाहरण दिया है, किन्तु उन्होंने 'प्रकृतिको उसकी यथार्थ रेखाओमे भी अङ्कित किया है और जीवनके प्रत्येक स्वरसे स्वर मिलानेवाली सङ्गिनीके रूपमे भी।······खडी बोलीके कवियोंने अपने काव्यमे जीवन और प्रकृतिको वैसे ही सजीव, स्वतन्त्र, पर जीवनकी सनातन सहगामिनीके रूपमे अङ्कित किया है जैसा सस्कृत काव्यके पूर्वार्द्धमे मिलता है।'

शुक्लजीका प्रकृतिके प्रति दृष्टिकोण अर्थ-चेतनाका है, आत्मचेतनाका नहीं। प्रकृतिसे उनका सम्बन्ध स्थूल है, सूक्ष्म सवेदनात्मक नहीं। इसीलिए प्रकृतिके सश्लिष्ट चित्रणमे उनकी दृष्टि सस्कृत-काव्योके उन्हीं स्थलोपर रमी है जहाँ वह उपकरण या अलङ्करण मात्र है। जीवनमे प्रकृतिका एक अभिन्न रूप वह भी है जहाँ सूक्ष्म सवेदन जड़-चेतनको 'एक विराट शरीरत्व' का आकार दे देता है। प्राचीनतम काव्यमे आकारसे सूक्ष्मकी प्रक्रिया महादेवीके शब्दोमे इस प्रकार हुई है—'प्रकृतिके अस्तव्यस्त सौन्दर्यमे रूप-प्रतिष्ठा, बिखरे रूपोमें गुण-प्रतिष्ठा, फिर इनकी समष्टिमें एक व्यापक चेतनकी प्रतिष्ठा और अन्तमे रहस्यानुभूति।' महादेवीके ही शब्दोमे—'जहाँ तक भारतीय प्रकृतिवादका सम्बन्ध है वह दर्शनके सर्ववादका काव्यमे भावगत अनुवाद कहा जा सकता है। यहाँ प्रकृति दिव्य शक्तियोका प्रतीक भी बनी, उसे जीवनकी सजीव सङ्गिनी बननेका अधिकार भी मिला, उसने अपने सौन्दर्य और शक्ति द्वारा अखण्ड और व्यापक परमतत्त्वका परिचय भी दिया और मानवके रूपका प्रतिबिम्ब और भावका उद्दीपन बनकर भी रही।' शुक्लजीका सश्लिष्ट चित्रण इनमेंसे किसी भी सीमामे नहीं है, उसमे प्रकृतिका प्रकृत निरीक्षण है।

रहस्यवाद

शुक्लजीने 'रहस्य'को दो श्रेणियोमें विभक्त किया है—(१) साम्प्रदायिक रहस्यवाद और (२) स्वाभाविक रहस्यभावना। इन्हें हम कहेंगे, सूक्ष्म रहस्य और स्थूल रहस्य। शुक्लजीकी स्वाभाविक रहस्य-भावनामे स्थूलता है। सूक्ष्म रहस्यको वे साम्प्रदायिक इसलिए कहते हैं कि उसे वे भारतीय काव्यमे नहीं देख सके है, अतएव उन्हे वह बाहरी सम्प्रदायसे आया हुआ जान पडता है। किन्तु जैसे प्रकृतिके संश्लिष्ट चित्रणमे उनका ध्यान भारतीय काव्यके स्थूल रूप-विधानकी ओर रहा, वैसे ही रहस्यभावनामे गोचर-रूपकी ओर।

शुरूमे ही यह स्पष्ट हो जाय कि वे काव्यको वाल्मीकिसे प्रारम्भ करते है। किन्तु वाल्मीकिके समय तक जीवनमे लौकिकता आ गयी थी, उससे पूर्व वेदो-उपनिषदोमे जीवनचिन्तनका एक विशेष सास्कृतिक युग बृहत् पृष्ठभाग वन गया है। परवर्त्ती युग प्रागैतिहासिक कालके जीवन-चिन्तनके विभिन्न अशोको सगुण या सामाजिक बनाकर चलते रहे। रहस्यवादका मूल उपनिषद्मे मिल सकता है। भूतवादकी ओर शुक्लजीका झुकाव अधिक होनेके कारण वे जीवनकी सूक्ष्म अनुभूतियोंको विस्मृत करते रहे है। सूक्ष्म ही तो आध्यात्मिक है; अपनी रुचिभिन्नताके कारण वे आध्यात्मिकताको साम्प्रदायिकतामे डाल गये हैं।

काव्यत्व प्राप्त कर रहस्यवाद साम्प्रदायिक नहीं रह जाता, क्योंकि तब उसमे 'धर्मका रूढ़िगत सूक्ष्म' नहीं, 'जीवनका सूक्ष्म' आ जाता है। अतएव, 'रहस्यका अथ वहाँसे होता है जहाँ धर्मकी इति है।'

महादेवीजीके शब्दोमे—'छायावादका कवि धर्मके अध्यात्मसे अधिक दर्शनके ब्रह्मका ऋणी है जो मूर्त्त और अमूर्त्त विश्वको मिलाकर पूर्णता पाता है। दर्शन और काव्यकी शैलियोमे अन्तर है परन्तु यह

अन्तर रूपगत है, तत्त्वगत नहीं; इसीसे एक जीवनके रहस्यका मूल और दूसरी शाखा-पल्लव-फूल खोजती रही है।'

शुक्लजीने कहा है—'अव्यक्तकी जिज्ञासाका ही कुछ अर्थ होता है, उसकी लालसा या प्रेमका नहीं।' महादेवीजी कहती है—'विश्वके रहस्यसे सम्बन्ध रखनेवाली जिज्ञासा जब केवल बुद्धिके सहारे गति-शील होती है तब वह दर्शनकी सूक्ष्म एकताको जन्म देती है और जब हृदयका आश्रय लेकर विकास करती है तब प्रकृति और जीवनकी एकता विविध प्रश्नोमे व्यक्त होती है।'

शुक्लजीका कथन है—'जिज्ञासा केवल जाननेकी इच्छा है।' किन्तु महादेवीजीके शब्दोमे—'बुद्धिका ज्ञेय ही हृदयका प्रेय हो जाता है।' यह प्रेय ज्ञानकी इतिमत्ताके वजाय काव्यकी मधुरता पाकर माधुर्य-भाव बन जाता है। किन्तु 'अनन्त रूपोकी समष्टिके पीछे छिपे चेतनका तो कोई रूप नही। अतः उसके निकट ऐसा माधुर्यभाव-मूलक आत्म-निवेदन कुछ उलझन उत्पन्न करता रहा है।' यही उलझन शुक्लजीको भी हुई है; क्योकि 'रति-भाव'के अङ्गीभूत 'लालसा या अभिलाष' द्वारा उन्होने माधुर्य-मूलक रहस्य-निवेदनको ऐन्द्रिक रूपमे परखना चाहा है। परन्तु महादेवीके ही शब्दोमे—'यह आत्मनिवेदन लालसाजन्य आत्मसमर्पणसे भिन्न है क्योकि लालसा अन्तर्जगत्के सौन्दर्यकी साकारता नही देखती; किसी स्थूल अभावकी पूर्त्तिपर केन्द्रित रहती है।'

शुक्लजी साधन (प्रत्यक्ष) को ही साध्य (परोक्ष) रूपमे ले लेते है, इसीलिए कहते हैं—'भौतिक जगत्की रूपयोजना लेकर जिस प्रेमकी व्यञ्जना होगी वह भावकी दृष्टिसे वास्तवमे भौतिक जगत्की उसी रूप-योजनाके प्रति होगा।'—किन्तु महादेवीजीके विश्लेषणमे वह रूप-योजना एक माध्यम मात्र है, वे कहती है—'जब चेतनकी व्यापकता और

जड़की विविधताकी अनुभूति हमारा हृदय करता है तब वह रूपोंके ही माध्यमसे अरूपका परिचय देता है।......उसका उद्देश्य रूपोंकी विविधताको परमतत्त्वमे एकरस कर देना है।'

शुक्लजीका दृष्टिकोण सासारिक है, रहस्यवादी दृष्टिकोण आभ्यन्तरिक है—जिसके सम्मुख संसार एक धरातल है, अन्तस्तल नही। अन्तस्तलकी अभिव्यक्तियोंके लिए लौकिक रूपक सचित्र-सङ्केत बन जाते है।

रहस्यवादके मधुर रूपकको हृदयङ्गम करनेके लिए दार्शनिक मनःस्थिति आवश्यक है, क्योकि उसका अन्तर्गठन उसीके अनुरूप है। महादेवीजीके शब्दोमे—'रहस्यभावनाके लिए द्वैतकी स्थिति भी आवश्यक है और अद्वैतका आभास भी, क्योकि एकके अभावमे विरहकी अनुभूति असम्भव हो जाती है और दूसरेके विना मिलनकी इच्छा आधार खो देती है।'

शुक्लजीको महादेवीकी काव्यानुभूतियोंके लिए यह सशय है—'कहॉ तक वे वास्तविक अनुभूतियॉ है और कहॉ तक अनुभूतियोकी रमणीय कल्पना है, यह नही कहा जा सकता।' किन्तु कल्पना भी तभी अग्रसर होती है जब उसमे अनुभूति होती है। कल्पना कला-पक्ष है, अनुभूति सज्ञा-पक्ष। विना सज्ञा-पक्षके कला-पक्ष 'अपने पङ्ख कैसे फैला सकता है! असलमे शुक्लजी कलापक्षकी रङ्गीनीसे विरत है, किन्तु कलापक्ष रामके जटाजूट और वल्कल-परिधानकी तरह सौम्य भी हो सकता है तथा कृष्णके मोरमुकुट और आलुलायित केशपटलकी तरह चपल भी।

सब मिलाकर शुक्लजी अपनी विवेचनाओमे एक आस्तिक मनोवैज्ञानिक अथवा बौद्धिक आस्तिक है। वे शङ्कराचार्यके मतानुयायी है। बौद्धिकता उन्हे रागात्मकताकी ओर ले जाती है, आस्तिकता भावाभि-

व्यक्तिकी ओर। शुक्लजीका सगुणवाद एक आस्तिक यथार्थवाद है, यदि इसके भीतरसे ईश्वरत्वको निकाल दे तो यही भौतिक यथार्थवाद हो जाता है।

अन्तराल

शुक्लजी जीवनके लोकपक्षकी ओर है। एक जगह विवश होकर उन्होने अपने दृष्टिकोणको 'लोकवाद' कहा है। वे 'मनुष्यके हृदयको व्यक्तिगत सम्बन्धके सङ्कुचित मण्डल'से ऊपर उठाकर 'लोक-सामान्य भावभूमि' पर ले गये, किन्तु शुरूमे ही, कविताकी परिभाषामें, मनुष्यके हृदयके व्यक्तिगत पक्ष (सब्जेक्टिव) को छोड़ गये। इससे उनकी काव्य-समीक्षामे एक बडा अन्तराल रह गया है। व्यक्तिगत पक्षसे शुक्लजीका अभिप्राय वैयक्तिक स्वार्थसे है। वह सर्वसाधारणका पक्ष है। किन्तु कविका व्यक्तिगत पक्ष उसका आत्मपक्ष या आन्तरिक पक्ष है। यह उसकी अनुभूतिका स्वारस्य-पक्ष है—मनोरम पक्ष, जहाँ वह अपने भीतर रमता है। इसी आत्मरमणको लेकर कहीं तो वह भावुक हो जाता है, कहीं साधक। भावुक—मधुर रतिमे, साधक—आत्मप्रणतिमे।

कविताकी परिभाषामे शुक्लजी व्यक्तिसे लोककी ओर बढकर विस्तीर्ण हो गये है किन्तु जीवनकी अन्तस्संज्ञाको अस्पृश्य कर गये है। उद्भिज्ज (प्राकृतिक) और इन्द्रियज (मानुषिक) ज्ञानसे सीमित हो जानेके कारण कविका आत्मज (मानसिक) भाव उनके लिए अपरिचित रह गया है। इसीलिए 'प्रतीति' पर ही उनका आग्रह अधिक रहा, प्रतीति अनुभूति नहीं बन सकी। अनुभूतिमे कविका आत्मपक्ष वही है जो 'रामचरित' मे 'मानस' है। मानस-पक्ष कविका ऐकान्तिक पक्ष है। रहस्यवादमे कविका मानस-पक्ष वही है जिसकी ओर शुक्लजीने

'तुलसीके भक्ति-मार्ग' मे यह निर्देश किया है—'अनुभूति-मार्ग या भक्ति-मार्ग बहुत दूर तक तो लोककल्याणकी व्यवस्था करता दिखाई देता है, पर और आगे चलकर यह निस्सङ्ग साधकको सब भेदोंसे परे ले जाता है।' जीवनकी इस सतहको स्वीकार करके भी शुक्लजी रहस्य-वादमे अनुभूति नहीं देख सके। अनुभूतिके लिए गोचर-प्रतीति चाहते है, किन्तु 'निस्सङ्ग' हो जाने पर तो गोचरता बहुत गौण हो जाती है। निस्सङ्गता शुक्लजीकी प्रतिपादित 'प्रकृत काव्य-भूमि'—'मनोमय कोश'—से परे हो जाती है। 'चॉदनी' के लिए पन्तजीने कहा है—

वह है, वह नही, अनिर्वच,
जग उसमे, वह जगमें लय,
साकार-चेतना-सी वह,
जिसमे अचेत जीवाशय !

—इसमे चॉदनीका गोचर-रूप नही रह जाता, अगोचर-रूपमे कविके स्वारस्यसे चेतनाकी साकारताका भावन करना पडता है। फिर भी वह 'वही' है, इसका अनिश्चय अनुभूतिको नीरव कर देता है। अन्तस्सज्ञा गोचर होकर प्रतीति, शब्दमय होकर अनुभूति और अनिर्वच होकर विदेह हो जाती है। कवि जब कहता है—'यह विदेह प्राणोका बन्धन'—तब वह अन्तस्सज्ञाकी सूक्ष्म प्राणप्रतिष्ठा करता है। किन्तु शुक्लजी इतनी सूक्ष्मताकी ओर जानेको तैयार नहीं, उनके लिए प्रतीति ही अलम् है।

शायद छायावादके रहस्यात्मक कवि प्राचीन निस्सङ्ग साधकोंकी भॉति परमहंस न हो, किन्तु प्रत्येक कलाकारमे जीवन और जगत्‌के प्रति एक निस्सङ्गता तो होती ही है, वहीं वह आत्मनिमग्न भी हो जाता है।

शुक्लजीका मनोविज्ञान पञ्चभूतात्मक है, अतएव उन्हे भाव-सत्य नही, वस्तुसत्य अभिप्रेत है। असलमे उनका मतभेद स्वभाव-जन्य है, भाव-जन्य नही। अपनी रुचिकी सीमाएँ बाँधकर वे एक ओर कविके ऐकान्तिक-पक्ष (भाव-सत्य) को 'जगत्‌रूपी अभिव्यक्तिसे तटस्थ, जीवनसे तटस्थ, भावभूमिसे तटस्थ कल्पनाकी झूठी कलाबाजी' करार देते है, दूसरी ओर रहस्यवादको साम्प्रदायिक निर्वासन दे देते है। देखना यह चाहिये कि रहस्यवादमे काव्यत्व है अथवा केवल प्रवचन। काव्यत्व आ जाने पर साम्प्रदायिकताका साहित्यिक शुद्धीकरण हो जाता है। कवि-रूपमे सूर और तुलसीकी भाँति रवीन्द्रनाथ भी साम्प्रदायिक नहीं रह जाते। काव्यत्व लेकर साम्प्रदायिकतासे रहस्यवादी उसी प्रकार परे हो जाता है जिस प्रकार कवि समाजमे रहकर समाजके ऊपर। इसीलिए एक देशकी काव्यानुभूतियाँ दूसरे देशकी अनुभूतियोको भी छूती है।

रवीन्द्रनाथके रहस्यवादके सम्बन्धमे शुक्लजीकी यह धारणा समुचित नहीं है कि उसमे अरब और फारसके सूफियोंकी वह अभिव्यक्ति है जो यूरोपमे गयी, इसलिए भारतीय पद्धतिसे उसका मेल नहीं बैठता। यूरोपके सम्पर्कमे रवीन्द्रनाथकी मूल आत्मा वैसे ही भारतीय है, जैसे भारतके सान्निध्यमे प्रेममार्गी सूफियोंकी अभिव्यक्ति फारसी। दोनोमे अपनी जातीयता बनी हुई है। मध्ययुगमे भारत और अरब-फारसके बीच जैसे प्रेममार्गी सूफी एक साहित्यिक सेतु थे, वैसे ही आधुनिक युगमे भारत और यूरोपके बीच रवीन्द्रनाथ। निर्गुण (अद्वैत)को लक्ष्य और सगुण (द्वैत) को उपलक्ष्य बनाकर रवीन्द्रनाथने दोनोका मनोहर रसात्मक समन्वय कर दिया है। कवि अपनी काव्योचित उदारतासे समन्वय देकर साम्प्रदायिक रूढियोसे ऊपर उठ जाता है। मध्य-

युगमे तुलसीदास और आधुनिक युगमें रवीन्द्रनाथ ऐसे ही रूढ़ि-मुक्त समन्वयशील कवि हैं। समन्वयकी ओर शुक्लजी भी हैं, किन्तु उनके 'सामञ्जस्यवाद'मे मनोरागोका सामञ्जस्य है, तुलसी और रवीन्द्रमे मनोविकासोका समन्वय। मध्यकालीन प्रेममार्गी सूफियोकी अपेक्षा रवीन्द्रनाथकी नवीनता अभिव्यक्तिकी अर्वाचीनतामे है। वंश-परम्परासे ब्राह्म समाजी (आधुनिक) होते हुए भी रवीन्द्रनाथ अपने व्यक्तित्वमे मध्यकालीन वैष्णव है। अतएव, उनकी आग्ल अभिव्यक्ति देखकर ही उन्हे तथाकथित साम्प्रदायिक रहस्यवादके घेरेमे नहीं ले जाना चाहिये। वे विशुद्ध कवि हैं—मर्मी।

'स्वाभाविक रहस्य-भावना' से शुक्लजीका अभिप्राय भावानुभूतिसे है, यह उन्होने 'साम्प्रदायिक रहस्यवाद' को 'सिद्धान्ती' कहकर स्पष्ट कर दिया है। कवीर और रवीन्द्रकी रचनाओंमें जहाँ कहीं उन्हे भावानुभूति मिली है वहाँ उसे उन्होने सराहा है। मूलतः शुक्लजीका मतभेद चिन्तना और भावनाका है। इसे इस रूपमे न रख कर साम्प्रदायिकता और स्वाभाविकताकी ओटमे धार्मिक विभेद सामने लाना उचित नहीं; इससे कलात्मक दृष्टिकोण ओझल हो जाता है, रूढ़ धार्मिक संस्कार सामने आ जाता है।

काव्यमे भावनाकी इच्छा रखते हुए भी शुक्लजी उसे अपनी बौद्धिक चिन्तनासे ही ग्रहण करते रहे है, फलतः काव्यका अनुभूति-पक्ष उनकी 'लेबोरेटरी' में ठीक नहीं उतर पाया। उनका 'टेस्टट्यूब' उसके अनुकूल नहीं।

महादेवीजीने ऊपर रहस्यात्मक माधुर्य-भावके लिए जिस द्वैत-अद्वैत (विरह-मिलन) की मनःस्थितिका सङ्केत किया है शुक्लजीने भी उस मनोभूमिको अपने ढङ्गसे स्पर्श किया है। कहते है—'हमे तो ऐसा

दिखाई पडता है कि जो ज्ञानक्षेत्रमे ज्ञाता और ज्ञेय है वही भाव-क्षेत्रमे आश्रय और आलम्बन है। ज्ञानकी जिस चरम सीमापर जाकर ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं, भावकी उसी चरम सीमापर जाकर आश्रय और आलम्बन भी एक हो जाते है।' शुक्लजीका यह विवेचन 'काव्यमे रहस्यवाद' लिखनेके पूर्वका है, उस समय तक 'अभिव्यक्तिवाद' (लोकवाद) उनमे विशेष प्रवल नहीं था। उस समय उन्होने 'परोक्ष' का भी परिचय इस प्रकार दिया है—'नियमोसे निराश होकर, परोक्ष ज्ञान और परोक्ष शक्तिसे पूरा पडता न देखकर ही मनुष्य परोक्ष 'हृदय' की खोजमे लगा और अन्तमे भक्तिमार्गमे जाकर उस परोक्ष हृदयको उसने पाया।'

इस परोक्ष भक्तिमार्गमे आश्रय और आलम्बन लोक-सग्राहक भी है, यथा रामायणमे, और आत्मसग्राहक भी, यथा 'विनयपत्रिका' और आधुनिक गीतिकाव्यमे। शुक्लजीने लोक-सग्रहको तो ले लिया किन्तु आत्मसंग्रहको छोड दिया। उनके परवर्त्ती मनोवैज्ञानिक दृष्टि-कोणमे 'अभिव्यक्तिवाद' प्रधान हो गया, आत्मवाद दब गया। सूर, तुलसी और जायसीके विवेचनमे प्रसङ्ग-वश उन्होने काव्यकी विविध भाव-भूमियाँ ली है, किन्तु आगे उनमे एक ही रुचि प्रधान हो गयी है।

व्यक्तिगत पक्षमे शुक्लजी जैसे सूक्ष्म अनुभूतिको छोड़ गये हैं वैसे ही मधुर अनुभूतिको भी। जीवन और कलामे शील और शक्तिको तो वे देख सके किन्तु माधुर्यको ओझल कर गये। हाँ, सौन्दर्यका प्रयोग उन्होने 'कर्म'मे किया है, 'सज्ञा'मे नहीं। सौन्दर्य कर्मवाचक होनेके कारण वह शील और शक्तिमे अन्तर्भूत हो गया, इस तरह सौन्दर्य भी मङ्गलका ही पर्याय हो गया, उसका निजी व्यक्तित्व

('सुन्दर') नहीं रह गया। सौन्दर्य मनुष्यका लोक-पक्ष (कर्म-पक्ष) ही नहीं, व्यक्तिगत पक्ष (भाव-पक्ष) भी है, वहीं वह माधुर्य-मूलक भी है।

सब मिलाकर कोमल और कठिन रसोके सञ्चयमे उनका झुकाव पुरुष-वृत्तिकी ओर ही है, कोमल-वृत्तिकी ओर नही। वात्सल्य, करुणा और शृङ्गारमे उनके मनका वही अश है जिसमे पुरुषका अनुग्रह या अहम् है, नारीकी सहृदयता नही। 'अर्द्धनारीश्वर'से उन्होने ईश्वर-रूप ही लिया है, नारी-रूप परिशिष्ट रह गया है। तुलसी-काव्यके बाद सूरके 'भ्रमर-गीत' पर भी उनका दृष्टिपात उनके समीक्षा-साहित्यका एक परिशिष्ट ही है। पुरुष-व्यक्तित्वको ही प्रधानता देनेके कारण उनकी समीक्षाओमे माधुर्यका अभाव हो गया है। आश्चर्य है कि लाक्षणिक दृष्टिसे उन्होने प्राचीन और नवीन जिन दो मुक्तक हिन्दी कवियोको प्रशस्ति दी है वे माधुर्यमूलक है—घनानन्द और सुमित्रानन्दन पन्त। सूरका भ्रमर गीत भी माधुर्यमूलक है ; ऐसे मधुर-काव्यको ओर शुक्लजी-का झुकाव उसके माधुर्य-भावके कारण नही, बल्कि उनकी बहिर्मुखी रुचि (वस्तुओ और व्यापारो) के कारण है। शुक्लजीने अपनी समीक्षाओ और सम्मतियोमे 'जगत् और जीवनके मार्मिक स्थल'का प्रयोग प्रायः किया है, इस प्रयोगमे 'जगत्' उनके लिए वस्तु (दृश्य) है, जीवन उनके लिए व्यापार (क्रिया)।

कविके ऐकान्तिक पक्षमे—चाहे वह आत्मप्रणतिमे हो या मधुर रतिमे—शुक्लजीका मनोयोग नहीं। तुलसीकी रामायणमे उन्हे कवित्व मिला, 'विनयपत्रिका' इत्यादि मुक्तक आत्मव्यञ्जक रचनाओमे नही। हॉ, विनयपत्रिकाकी अपेक्षा छायावादके प्रगीत-मुक्तकोमे कवित्व अधिक है। किन्तु विनयपत्रिकाके लिए आत्मप्रणतिकी ओर प्रगीत-

मुक्तकोके लिए मधुर रतिकी मनोभूमि इन काव्योके अनुकूल प्रस्तुत कर लेनी होगी, तब उनमे कविका स्वारस्य मिल सकेगा।

शुक्लजी जगत् और जीवनकी ग्रूपिङ्ग चाहते है। उनकी रुचि प्रबन्ध-काव्य-प्रधान है—जिसमे जगत् और जीवनका अनेक-रूपात्मक परिचय मिल जाता है।

यहीं यह भी स्पष्ट हो जाय कि शुक्लजी को 'आध्यात्मिकता' और 'कला' से वितृष्णा है, क्योकि स्वय उनमे इनका अभाव है। इस वितृष्णाका एक कारण यह भी है कि उन्होने इन शब्दोको एक सङ्कुचित-सीमामे लिया है—आध्यात्मिकताको साम्प्रदायिकताके अन्तर्गत, कलाको बेल-बूटे और नक्काशीके अन्तर्गत। अपने पुराने ढङ्गसे उन्होने आध्यात्मिकताको पारमार्थिकता और कलाको लाक्षणिकताका परिधान दिया है। किन्तु इस रूपमे आध्यात्मिकता और कला अपनी अर्थ-व्यापकता खो बैठते है। अध्यात्मको गान्धीसे और कलाको रवीन्द्रसे जो जीवन-ज्योति मिली है उसके कारण ये शब्द गरिमा-मण्डित हो गये है।

[४]

कलात्मक धरातल

काव्य-समीक्षामे शुक्लजी मध्यकालकी आचार्य-परम्परामे है। परम्परा-बद्ध होकर भी वे उसके अनुयायी ही नही, विकास भी है; रीतिकालीन पद्धतिके आधुनिक आचार्य है। उनकी आधुनिकता काव्यके मनोवैज्ञानिक विश्लेषणमे है। उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अग्रेजी ढङ्गका है—रीति कालकी अपेक्षा नवीन और अति-आधुनिक कालकी अपेक्षा प्राचीन। यो कहे, वे रीति-कालके नव्यतमभाष्यकार है। काव्यमे नवी-

नताको उन्होने चाहा है किन्तु समीक्षाके क्षेत्रमे वे उतने ही पुराने है जितना कि स्वयं उनका मनोविकास।

शुक्लजी हिन्दीमे आधुनिक आलोचना-पद्धतिके आद्य-प्रवर्त्तक हैं; इसीलिए उनमे परम्परा अधिक, नवीन स्पर्श स्वल्प है। शुक्लजी उन्नीसवीं सदीके भारतीय हैं, फलतः साहित्यमे भी उतने ही आधुनिक। हॉ, वे साहित्यिक लिबरल है, कट्टर रीतिशास्त्रियोकी तरह कञ्जर्वेटिव नहीं। जैसे लिबरल राजनीतिक-विधानोके पण्डित है वैसे ही शुक्लजी साहित्यिक विधानोके। वे समालोचनामे 'आधुनिक मनोविज्ञान आदिकी सहायतासे भारतीय रस-निरूपण-पद्धतिका सस्कार' चाहते थे। स्वय उन्होने 'भाव-विभाव, वक्रोक्ति, अन्योक्ति, अभिव्यञ्जना इत्यादिको नवीन अर्थोंका रुख-मुख दिया है, मानो पुराने शब्दकोषको नवीन प्रयोगोका अभिप्राय। रीति-शास्त्रको उन्होने काव्य लिखनेके लिए बन्धन नही माना है; किन्तु काव्य-समीक्षाके लिए उसे एक आवश्यक सहायक माना है। उनके शब्द—'साहित्यके शास्त्र-पक्षकी प्रतिष्ठा काव्यचर्चाकी सुगमताके लिए माननी चाहिये, रचनाके प्रतिबन्धके लिए नही।'

शुक्लजी काव्यको मुख्यतः एक विज्ञानके रूपमे और गौणतः कलाके रूपमे लेते दिखाई देते है। वे वैधानिक समीक्षक है। कहते हैं—'भिन्न भिन्न देशोकी प्रवृत्तिकी पहचान यदि हम काव्यके भाव और विभाव दो पक्ष करके करते है तो बडी सुगमता हो जाती है।' भाव, विभाव और अनुभावका स्पष्टीकरण उन्होने इस प्रकार किया है—"भावसे अभिप्राय सवेदनाके स्वरूपकी व्यञ्जनासे है; विभावसे अभिप्राय उन वस्तुओ या विषयोके वर्णनसे है जिनके प्रति किसी प्रकारका भाव या संवेदना होती है।.........विभावके समान भावपक्षका भी पूरा विधान हमारे यहॉ मिलता है। उक्ति, चेष्टा और

शरीर-धर्म तीनों प्रकारके अनुभावो द्वारा भावोकी व्यञ्जना होती आयी है।'

उपरिनिर्दिष्ट 'व्यञ्जना' और 'वर्णन'मे शुक्लजीका झुकाव वर्णनकी ओर है। कहते हैं—'हम विभाव-पक्षको कवितामे प्रधान स्थान देते है। विभावसे अभिप्राय लक्षण-ग्रन्थोंमे गिनाये हुए भिन्न भिन्न रसोके आलम्बन मात्रसे नहीं है।......जगत्की जो वस्तुएँ, जो व्यापार या जो प्रसङ्ग हमारे हृदयमे किसी भावका सञ्चार कर सके उन सबका वर्णन आलम्बनका ही वर्णन मानना चाहिये।'

तो यो कहे कि शुक्लजी व्यञ्जनात्मक काव्यकी अपेक्षा वर्णनात्मक काव्यके विशेष इच्छुक है। विभाव (आलम्बन) को प्रधानता देकर शुक्लजी काव्यवस्तुको ही मुख्य बना देते हैं, भावको व्यञ्जनाके अन्तर्गत काव्यका उपाङ्ग। वे भावकी अपेक्षा भावककी ओर है। किन्तु जहॉ काव्यमे आलम्बन स्वयं कविका हृदय ही हो जाता है वहॉ तो भाव ही प्रधान हो जायगा, वस्तु गौण, किन्तु शुक्लजीका कहना है—'भाव-प्रधान कवितामे—ऐसी कवितामे जिसमे सवेदनाकी विवृत्ति ही रहती है—आलम्बनका आक्षेप पाठकके ऊपर छाड दिया जाता है। विभाव-प्रधान कवितामे—ऐसी कवितामे जिसमे आलम्बनका ही विस्तृत रमणीय चित्रण रहता है—सवेदना पाठकके ऊपर छोड दी जाती है।'

असलमे, इस कथनमे शुक्लजीका वही मूर्त्त-अमूर्त्त मतभेद है जिसे उन्होंने स्थल स्थलपर व्यक्त-अव्यक्त एव गोचर-अगोचरके प्रसङ्गमे प्रकट किया है। वे यहॉ भी मूर्त्त-विधानकी ओर है। जीवनके मूर्त्त-विधानमे जैसे वे सगुणकी ओर है, वैसे ही काव्यके मूर्त्त-विधानमें विभावकी ओर। शुक्लजीकी मूर्त्तिमत्तामे अन्तःकरण वाह्यकरणसे प्रेरित है, भाव-प्रधान कविताओमें वाह्यकरण अन्तःकरणसे। विभाव-प्रधान कविताएँ यदि

अमूर्तको सवेदनके लिए छोड़ देती है तो भाव-प्रधान कविताएँ अमूर्त-को ही मूर्त्त कर देती हैं ; बाह्यकरणको अन्तःकरण बना देती हैं। इस तरह आलम्बन और सवेदनमे अभिन्नता (आत्मीयता) आ जाती है, क्योकि तब सवेदन समवेदन हो जाता है, रागात्मकता रसात्मक हो जाती है, अनुभूति सहानुभूति (सह-अनुभूति) बन जाती है। एक शब्दमे सवेदनको कवि-त्व मिल जाता है। पन्तकी 'चॉदनी' का उद्धरण देकर शुक्लजी कहते है—'चॉदनी अपने-आप इस प्रकारकी भावना नही जगाती।'—किन्तु अपने आप तो प्रकृतिका कोई भी उपादान मानवीय मनोरागोसे अनुरञ्जित नहीं। वह अपनेमे निरपेक्ष है, काव्य और जीवन उसे सापेक्ष दृष्टिसे अपने निकट ले आता है। शुक्लजी काव्यमें कल्पना और भावनाकी ओर विशेष रुजू नहीं, किन्तु इनके बिना तो काव्य भी गणित, इतिहास, भूगोल अथवा ड्राइङ्ग ही रह जायगा। कल्पना काव्यका भाव-शरीर है, भावना उसका व्यक्तित्व। शरीर और व्यक्तित्वके बिना काव्य केवल कङ्काल रह जायगा।

कला-पक्षमे शुक्लजीका झुकाव लाक्षणिकताकी ओर है। कहते है—'अब इस समय हिन्दी-काव्य-भाषामे मूर्त्तिमत्ताकी समास-शक्तिका, लक्षणा शक्तिका, अधिक विकास अपेक्षित है।······लाक्षणिकताके सम्यक् और स्वाभाविक विकास द्वारा भाषा भाव-क्षेत्र और विचार-क्षेत्र दोनोंमें बहुत दूर तक, बहुत ऊँचाई तक और बहुत गहराई तक प्रकाश फेंक सकती है।'

शुक्लजीकी लाक्षणिकता सवेदनकी ही ओर है। छायावादमें सवेदन ही नहीं, आलम्बन भी लाक्षणिक हो जाता है; लाक्षणिक-रूपमें आलम्बन प्रतीक हो जाता है।

वे कला-पक्षमे लाक्षणिकताकी ओर, जीवन-पक्षमें वस्तु और व्यापारकी सश्लिष्टताकी ओर है। 'छायावाद'मे संश्लिष्टताका यह रूप भी है; जैसे

पन्तके 'उच्छ्वास', 'आँसू' 'ग्रन्थि', 'नौका-विहार' और 'एकतारा' मे, 'प्रसाद'की 'कामायनी' मे, निरालाकी अधिकाश कविताओमे। सश्लिष्टता वहीं है जहाँ आलम्बन आभ्यन्तरिक न होकर बाह्य है। किन्तु संश्लिष्टताके इस रूपमे छायावादकी नवीनता नही है, उसकी नवीनता चित्तवृत्तियोकी सश्लिष्टतामे है। मध्यकालीन-परम्पराकी रचनाओमे चित्तवृत्तियोकी यह सश्लिष्टता उत्प्रेक्षा और सन्देहालङ्कारके रूपमे आयी है, किन्तु उसमे आलम्बनका व्यक्तित्व सङ्घटित नहीं हो सका है; बाह्य प्रकृति अन्तः-प्रकृति नहीं बन सकी है। छायावादकी मनोवृत्त्यात्मक सश्लिष्टतामे व्यक्तित्वकी स्थापना है, बाह्य प्रकृति कविके स्वारस्यसे अन्तःप्रकृति बन गयी है। पन्तका 'वीचिविलास' इसके लिए बहुत सुन्दर उदाहरण है।

अतएव, छायावादकी कविताओके सम्बन्धमे शुक्लजीका यह मन्तव्य एकाङ्गी है—'छायावाद समझकर लिखी जानेवाली कविताओमे प्रस्तुत व्यापारोकी बडी लम्बी लड़ीके अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। सब मिलाकर पढनेसे न कोई सुसङ्गत और नूतन भावना मिलेगी, न कोई विचारधारा और न किसी उद्भावित सूक्ष्म तथ्यके साथ भाव-सयोग, जिसका कुछ स्थायी सस्कार हृदयपर रहे। अतः ऐसी कविताओकी परीक्षा करने पर उपमान-वाक्योके ढेरके अतिरिक्त और कुछ नही बचता।'—अपनी इसी मान्यताके अनुसार शुक्लजीने छायावादके जिन मुक्तकोको 'छींटे' कहा है, उनमे एक ही आलम्बनकी अनेक सवेदनाओका गुम्फन है, यथा, पन्तकी 'छाया', 'नक्षत्र' और 'बादल'मे। शुक्लजीने स्थल-स्थलपर जिसे 'अनेक रूपात्मक जगत्' कहा है, 'उपमान वाक्योंके ढेर'मे कवि उस अनेक रूपात्मकको अनेक चित्तवृत्त्यात्मक रूपोमे परिलक्षित करता है। इसे हम मनोवृत्तियोंके विविध 'पोज़'

अथवा अनेक मुद्राओके रूपमे भी ले सकते है। इसमे वस्तु* की नही, रसकी संश्लिष्टता रहती है। महादेवीजीके शब्दोमे—'छायावाद तत्त्वतः प्रकृतिके बीचमे जीवनका उद्गीथ है, अतः कल्पनाएँ बहुरङ्गी और विविधरूपी है।'

छायावादके मुक्तकोके अनेक तर्ज है। यद्यपि सभीमे आत्मविवृत्ति ही रहती है तथापि अभिव्यक्ति और आलम्बनके प्रकारमे अन्तर है।

शुक्लजीकी काव्य-समीक्षाओसे उनके विचारोका जो रूप हमारे सामने आता है वह ड्राइङ्गकी शकलमे है। उन्होने अपने विचारोकी ड्राइङ्गकी बन्दिश खूब चुस्त की है, कानूनकी बन्दिशोंकी तरह। उनका झुकाव टेकनीकोके 'खाका'की ओर है। वे रीतिज्ञ है, मर्मी नही; यही बात उनके जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोणके लिए भी कही जा सकती है। उनके विवेचनमे चित्र-विधान है, चित्र-कला नही। ड्राइङ्ग जब अपना अस्तित्व समाप्त कर कलाका व्यक्तित्व धारण करती है शुक्लजी उस व्यक्तित्वकी परिधिमे नही जा सके है।

मानसिक निर्माण

शुक्लजीका मानसिक निर्माण बौद्धिक है। उनमे कविताकी अपेक्षा वास्तविकता अधिक है। आइडियलिज्मकी ओर उनका झुकाव नहीं, उनकी आस्तिकता तो उनका परम्परागत सस्कार है, उसे वे अपने ढङ्गसे वास्तविकताका सगुण आधार देकर ग्रहण करते है—रागात्मक बनाकर। जीवन और कलामे रागात्मकतापर जोर देते हुए शुक्लजी उसके विज्ञानकी ओर है, कवित्वकी ओर नहीं। उनमे घनत्व है, द्रवणता

* वस्तु तो आलम्बन न रहकर स्वयं भी सवेदन हो जाती है। यही कारण है कि छायावादके प्रगीत-मुक्तक प्रायः शीर्षक-रहित होते है।

या तरलता नहीं; निष्पत्ति है, परिणति नहीं; मनीषा है, अनुभूति नहीं; राग है, रस नहीं। जैसे चित्रके लिए ड्राइङ्ग, वैसे ही रसके लिए उनका राग है। राग जहाँ उद्गार हो जाता है वहीं वह अपना मूल-रूप समेटकर रस हो जाता है। शुक्लजीने जिस रोमैण्टिसिज्मको 'स्वच्छ-न्दतावाद' कहा है उसकी स्वच्छन्दतामे रागकी तीव्रता ही है, उद्गारकी गहराई नहीं। किन्तु रोमैण्टिसिज्ममे रागकी तीव्रता नहीं, रसकी गहराई है, वह फेनिल नहीं, उर्म्मिल है; उसमे आवेग नही, उन्मेष है।

कलाका स्पर्श करनेके लिए शुक्लजी जैसे ड्राइङ्गकी प्रक्रिया दिखलाते है, वैसे ही रसकी अनुभूतिके लिए रागकी प्रक्रिया। फलतः वे रासा-यनिक रह जाते है; भावुक नही, भावक हो जाते है। कला और जीवनके विवेचनमे शुक्लजी क्रियाकी ओर अधिक सक्रिय है—कलामे वस्तुओको लेकर और जीवनमे व्यापारोको लेकर, इसीलिए काव्यमे वस्तुओ और व्यापारोकी सश्लिष्टताको ही 'चित्रण' कहते है। वस्तु उनकी ड्राइङ्गका आकार है, आत्मा उसमे व्यापार है। इस प्रकार उनके लिए जगत् और जीवन बहिर्गत है, अन्तर्गत नहीं। उनका दृष्टिकोण व्यावहारिक अथच उपयोगितावादी है। शुक्लजीका रुख बहिर्मुख होनेके कारण वे सूक्ष्म सवेदनोको स्पर्श नहीं कर सके है। शीलके साथ माधुर्यके बजाय शक्ति (ओज) का सयोग करके वे अनुभूति-पक्षमे उसकी तीव्रताकी ओर है। यथार्थवादकी चरमभूमि (समाजवाद) मे जाकर भी कवि पन्तका कहना है—'अनुभूतिकी तीव्रताका बोध बहिर्मुखी (एक्स्ट्रोवर्ट) स्वभाव अधिक करा सकता है, मङ्गलका बोध अन्तर्मुखी स्वभाव (इण्ट्रोवर्ट); क्योकि दूसरा 'कारण-रूप' अन्तर्द्वन्द्वको अभिव्यक्त न कर उसके 'फल-स्वरूप' कल्याणमयी अनुभूतिको वाणी देता है।' शुक्लजीने काव्य-समीक्षामे रीतिकालीन रस-निरूपण-पद्धतिके सस्कार

और प्रसारके लिए आधुनिक मनोविज्ञानकी सहायता लेनेका सङ्केत किया है। आधुनिक मनोविज्ञानकी सहायता लेने पर शुक्लजीका शील-पक्ष वैसे ही खण्डित हो जायगा जैसे उनके रागात्मक विश्लेषण द्वारा छायावादका रहस्यपक्ष खण्डित हो गया है। फ्रायडका मनोविज्ञान वात्सल्यका और मार्क्सका मनोविज्ञान सेव्य-सेवकका प्रतिपादन नही करता, वह तो काम-विकार और अर्थ विकारकी वास्तविकताको स्पष्ट कर देता है। इस स्थितिमे शुक्लजीके रस-शास्त्रको शरीर-शास्त्र और समाज-शास्त्र बन जाना होगा। इस तरह रस नीरस हो जायगा। शुक्लजीका सास्कृतिक 'अतीत' भी सुरक्षित नही रह जायगा, उसमे सामन्तवादी युगका ऐतिहासिक विकार दृष्टिगोचर होने लगेगा। शुक्लजीने रहस्यलोकसे विमुख होकर काव्यके लिए जिस गोचर-जगत्पर जोर दिया है, आधुनिक मनोविज्ञानके 'एक्स-रे' से देखने पर वह रस-जगत् न रहकर वस्तु-जगत् हो जाता है। अपनी आस्तिक सीमामे शुक्लजी वस्तुजगत्की ओर ही है, भावजगत्की ओर नही। वस्तु-जगत्मे वे आधुनिक मनोविज्ञानके जिस प्रारम्भिक कालमे है, समाजवादमे उसीका विकास है।

समालोचना सम्मिलित पृष्ठभूमि

अपने शील-पक्षके प्रतिपादनमे शुक्लजीको आधुनिक मनोवैज्ञानिकोंसे जो कुछ कहना पडता उसके लिए उन्हे बुद्धि-पक्षसे उतरकर भाव-पक्षपर आ जाना पडता। शक्तिके लिए जैसे शील है, वैसे ही वस्तुके लिए भाव और भावके लिए रहस्य। काव्य प्राणिचेतनाका परिष्कार है, वह स्थूलको संज्ञाका सस्कार देता है, मनोविकारको मनोविकासकी ओर ले जाता है। जैसे वनस्पति-शास्त्र द्वारा वस्तु-परिचय ही मिल सकता है उसका आस्वाद नहीं, वैसे ही मनोविज्ञानसे रसाभास मिल सकता है,

रसानुभूति नहीं। अतएव काव्य-समीक्षामे भावकी परख 'अनुभूति' से, कलाकी परख 'रीति' (टेकनीक) से, सस्कारकी परख सामाजिक 'स्थिति'से करनी चाहिये। सामाजिक परख इसलिए आवश्यक है कि उससे जीवनी-शक्तिके क्षयका ऐतिहासिक निदान सामने आता है— काव्य-जगत्की सुख-समृद्धिकी वृद्धिके लिए, अपकर्षके लिए नहीं।

तो, काव्य-समीक्षाके लिए रीतिवाद (कलाका विधानवाद), छायावाद (अनुभूतिवाद), और समाजवाद (ऐतिहासिक निदानवाद) की सम्मिलित पृष्ठ-भूमि चाहिये। शुक्लजीने इनमेसे एक (कलाके विधानवाद) को ही लिया है, मनोविज्ञानका स्पर्श देकर, अनुभूति-वादको उसीके अन्तर्गत ले लिया है। अपने वैधानिक ढॉचेमे छायावाद तक वे बढ आये थे, किन्तु गान्धीवाद और समाजवादकी ओर कदम नहीं बढा सके। शायद गान्धीवादमे उन्हे गोचर जगत्की और समाजवादमे आभिजात्य ('शील') की गन्ध नहीं मिली। अतएव, ऐसी रचनाओंको उन्होने उसी प्रकार परम्परागत पारमार्थिक ढॉचा दिया जिस प्रकार अनुभूतिवादको वैधानिक ढॉचा।

प्राभाविक समालोचना

अनुभूतिवाद (छायावाद और रहस्यवाद) के लिए वैधानिक समीक्षाकी ही नहीं, प्राभाविक समालोचनाकी भी आवश्यकता है। प्राभाविक समालोचना टेकनिकल नहीं, आइडियल है, वह कविकी अनुभूतिको पाठकमें जगाती है, उसे भी कवि बनाती है। इससे उसकी काव्यरुचिको स्वावलम्बन मिलता है, कोरा अध्ययन नहीं। विद्यार्थियोमे काव्यका सस्कार जगानेके लिए इसकी बडी आवश्यकता है। हॉ, ऐसी समालोचनामे कविकी अनुभूतिसे समालोचककी अभिन्नता होनी

चाहिये, निजी आरोपण नही। प्राभाविक समालोचनाको 'प्राभाविक सहानुभूति' कहना अधिक उपयुक्त होगा। हृदयके सस्कारके लिए उसकी सार्थकता है। विधानवाद और समाजवाद दोनो अपनी समीक्षामे बहिर्मुख है—एक 'कला'के टेकनिकल साइडमे है, दूसरा 'जीवन'के टेकनिकल साइडमे; आत्माभिव्यञ्जनको दोनो ही नही छू पाते। प्राणीका व्यक्तिगत पक्ष दोनो ही छोड़ जाते है। प्राणीका व्यक्तिगत पक्ष व्यक्तिवाद नही, उसे या तो व्यक्तित्ववाद कहे या अस्तित्ववाद। विधानवाद द्वारा रागात्मक व्यक्ति ही सामने आता है, छायावाद द्वारा रसात्मक व्यक्तित्व। रसात्मक व्यक्तित्व ही कवित्व है। समाजवादमे व्यक्ति व्यक्ति नहीं रह जाता (समाज बन जाता है), किन्तु वह भी रागात्मक व्यक्तिका ही सामाजिक एनलार्जमेण्ट कर देता है, कवित्व —व्यक्तित्व—उससे भी दूर रह जाता है। दोनोंको (रीतिवाद और समाजवादको) सजीव करनेके लिए प्राभाविक सहानुभूति अपेक्षित है।

प्राभाविक आलोचना द्वारा आलोचकमे भी अनुभूतिका परिचय मिलता है। अनुभूतिके लिए रसज्ञता ही नही, रसार्द्रता भी चाहिये।

प्राभाविक आलोचनामे काव्यका हृदय-पक्ष रहता है। हृदयकी मार्मिकताके लिए सहृदयता या हृदय-तरलता अथवा आत्मद्रवणता चाहिये। मनुष्यमे हृदय-पक्ष नारीका अश है, बुद्धि-पक्ष पुरुषका अश।

प्राभाविक सहानुभूतिमे नारीत्व अपेक्षित है। अपने इन्दौर-भाषणमे शुक्लजीने मिस्टर स्पिंगर्नकी जिस अभीष्ट समीक्षा-पद्धतिको 'जनानी समालोचना' से अभिहित किया है, उसे हम कहेगे रमणीय समीक्षा। न हो, इसे रसात्मक या भावात्मक समीक्षा भी कह लें। जब बुद्धि-पक्ष जीवन और कलाको शुष्क कर देता है तब हृदय-पक्ष आता है; जीवनमें परुष-अतिशयताका वह प्रतिलोम है। इस दृष्टिसे अहिंसावाद और

छायावाद-रहस्यवादमे भी नारी-अशकी प्रतिष्ठापना है। इसके बिना समालोचना बौद्धिक जञ्जाल या बुद्धि-प्रपञ्च हो जायगी।

वैधानिक समालोचना

शुक्लजीकी स्थिति यह है कि रहस्यवादको साम्प्रदायिक कहकर उसे धर्मके 'ज्ञान-काण्ड' के भीतर छोड देते हैं,* किन्तु स्वयं वैधानिक समीक्षाके रूपमे कलाका 'ज्ञान काण्ड' उपस्थित कर देते है। इस प्रकार वे भी एक साहित्यिक सम्प्रदायमे चले जाते है। शुक्लजीने कहा है—'किसी वादके ध्यानसे, साम्प्रदायिक सिद्धान्तके ध्यानसे, जो कविता रची जायगी उसमे बहुत कुछ अस्वाभाविकता और कृत्रिमता होगी। 'वाद' की रक्षा या प्रदर्शनके ध्यानमे कभी कभी क्या, प्रायः रस सञ्चार-का प्रकृत मार्ग किनारे छूट जायगा।'—यही बात विधानवादके लिए भी कही जा सकती है। वह कविताकी इञ्जीनियरिङ्ग तो करता है किन्तु फीलिङ्गको नही जगा पाता। शुक्लजीने अपने विधानवादमे काव्यको ऐसे कानूनी तर्कों और बन्दिशोसे बॉध दिया है कि वह 'लॉ'की दृष्टिसे तो ठीक है किन्तु कला और जीवनकी दृष्टिसे मुक्ति (छूट) चाहता है। कानून ही तो जीवन नही है। शुक्लजी काव्यको रीतिवादकी बन्दिशोमे बॉधनेके पक्षमे नही, वे उसकी स्वतन्त्रताके समर्थक थे, किन्तु प्राभाविक सहानुभूतिके अभावमे उसे स्वय ही बन्दिशोमे जकड गये। शुक्लजीमे साहित्यकी वैधानिक परख अच्छी थी, किन्तु काव्यकी तरह उनका हृदय-पक्ष भी उसीमे जकड गया। फलतः उनकी आलोचनाएँ तात्त्विक हो गयीं, मार्मिक नही। शुक्लजीके काव्य-प्रेममे उनका आलोचक-रूप इतना घनीभूत रहता था कि वे साहित्यके सहज रससे वञ्चित रह जाते

* यदि उनमें प्राभाविक सहानुभूति होती तो ऐसा न करते।

थे। पहिलेसे ही आलोचक-दृष्टिकोण बना लेने पर द्रष्टाका आनन्द खो जाता है। बहुत शास्त्रीय विश्लेषण रसको विरस कर देता है।

व्यक्तिप्रधान साहित्यिक रुचि

रहस्यवाद न तो ज्ञानकाण्डके भीतर है और न साम्प्रदायिक है। शुक्लजीने उसकी उत्पत्तिकी जो पैमाइश की है वह उनके अपने साम्प्रदायिक दृष्टिकोणका सूचक है। रहस्यवाद ज्ञानपरक नही, भावपरक है; अतएव 'ज्ञानकाण्ड' से उसका सम्बन्ध नहीं। टेकनीकोमे अवश्य ही वह अग्रेजी-से प्रभावित है, उसी तरह जैसे शुक्लजी रस-निरूपण-पद्धतिको आधुनिक मनोविज्ञानके सम्पर्कमें प्रेरित करना चाहते हैं। गोचर और अगोचर (सापेक्ष-निरपेक्ष) के दृष्टिभेदको बाद देकर देखना चाहिये कि छायावाद या रहस्यवाद अपने भावोमे मूर्त्त है या नही। शुद्ध कला-दृष्टिसे तो यही अपेक्षित है। गोचर अगोचर तो विज्ञान और दर्शनका विषय है, उस दृष्टिकोणसे देखने पर इस वाद-विवादका अन्त नही हो सकता, क्योंकि जगत् और जीवन अभी अपने प्रयोगो और अनुभवोमे स्थिर नही है। एक ओर वैज्ञानिक आइन्स्टीन अपना सम्पूर्ण ज्ञान लेकर गान्धीके सामने शिशु हो जाता है, दूसरी ओर मार्क्सवाद गान्धीवादके विपरीत पड़ जाता है। एकका सापेक्ष निरपेक्षकी असीमताको भी मानता है, दूसरेका सापेक्ष अपनेमे ही सीमित हो जाता है। दोनोंमे कौन ठीक है?

जैसा कि ऊपर कहा है, शुक्लजीमें परुषा-वृत्ति प्रधान है। उनमे जीवनके कोमल स्पन्दनोका स्पर्श भी है, किन्तु उनकी कोमला-वृत्ति उनकी परुषा-वृत्तिसे वैसे ही दबी हुई है, जैसे प्रस्तरस्तूपके नीचे रसकी झिरझिरी, बुद्धिके नीचे सहृदयता। असलमे शुक्लजीकी स्थिति प्रसादजी-के 'स्कन्दगुप्त' नाटकके उस मातृगुप्त-जैसी है जो स्वभावसे तो कवि

है किन्तु कर्त्तव्यसे विचारक हो गया है, वह अपने सङ्गोपन-व्यक्तित्व (कवित्व) को वैधानिक सीमाके भीतर ही लेनेको बाध्य है।

'चिन्तामणि' के 'निवेदन' मे शुक्लजीने कहा है—'इस पुस्तकमे मेरी अन्तर्यात्रामे पड़नेवाले कुछ प्रदेश है। यात्राके लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदयको भी साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलोपर पहुँची है वहाँ हृदय थोडा बहुत रमता और अपनी प्रवृत्तिके अनुसार कुछ कहता गया है। इस प्रकार यात्राके श्रमका परिहार होता रहा है। बुद्धि-पथपर हृदय भी अपने लिए कुछ न कुछ पाता रहा है।' 'निवेदन' के अन्तमे शुक्लजी कहते हैं—'इस बातका निर्णय मैं विज्ञ पाठकोपर ही छोडता हूँ कि ये निबन्ध विषय प्रधान है या व्यक्ति-प्रधान।' हम कहेंगे—'व्यक्ति-प्रधान'। उनका शास्त्रीय विवेचन उनकी व्यक्तिगत रुचियोका प्रतिपादन बन गया है।

शुक्लजी लोकभूमिमे बाहरसे प्रसरित—विस्तृत—होकर काव्यभूमिमे भीतरसे सङ्कुचित—परिमित—हो गये है। मूर्त्त-अमूर्त्तमे वे मूर्त्तकी ओर हैं, भाव और वस्तुमे वस्तुकी ओर, अन्तर्गत-लोकगतमे लोकगतकी ओर, मुक्तक और प्रबन्धमे प्रबन्धकी ओर, हिन्दू मुस्लिममे हिन्दुत्वकी ओर, वर्तमान और अतीतमे अतीतकी ओर।

शुक्लजीकी व्यक्तिगत रुचि काव्यकी अपेक्षा कथाके अधिक अनुकूल है। उनकी काव्य-सम्बन्धी स्थापनाएँ सटीक हो जाती है यदि उन्हे कहानियो, उपन्यासो और प्रबन्ध-काव्योमे समाविष्ट कर लें। वहाँ केवल रागात्मकता और सश्लिष्टताका ही पूर्ण निर्वाह नहीं हो जाता, बल्कि 'अनेक रूपात्मक जगत् और जीवन' का सामञ्जस्य भी हो जाता है। यहाँ यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिये कि शुक्लजीकी कथोन्मुख रुचि मुख्यतः अतीत-गाथाकी ओर है—ऐतिहासिक नाटको, उपन्यासो और काव्योकी

ओर है। उनके इस अतीत-प्रेममें कुहुक है। टेकनीककी दृष्टिसे उन्हे पुराने ढॉचेके उपन्यास अधिक रुचते है।

छायावाद, रहस्यवाद और समाजवाद

शुक्लजीने 'काव्यमे रहस्यवाद' और 'हिन्दी-साहित्यका इतिहास' का प्रथम सस्करण ऐसे समयमे लिखा जब उनमे प्रतिक्रियाका जोर था। यद्यपि अपने आप्त-सस्कारोकी रक्षाके लिए उनमे प्रतिक्रिया बनी हुई थी, तथापि प्रतिक्रियाके अपेक्षाकृत शान्त हो जाने पर उन्होने नये काव्य-साहित्यकी कुछ उदार समीक्षा भी की है, वही उन्होने छायावादके टेकनीकोंकी प्रशंसा भी की। उनके शब्द—'छायावादकी शाखाके भीतर धीरे-धीरे काव्य-शैलीका बहुत अच्छा विकास हुआ, इसमे सन्देह नहीं। उसमे भावावेशकी आकुल व्यञ्जना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण, भाषाकी वक्रता, विरोध-चमत्कार, कोमल पद-विन्यास इत्यादि काव्यका स्वरूप सङ्घटित करनेवाली प्रचुर सामग्री दिखाई पड़ी।'

शुक्लजीने अपने इतिहासमे छायावादका निर्देशन इस प्रकार किया है—'छायावाद शब्दका प्रयोग दो अर्थोंमे समझना चाहिये। एक तो रहस्यवादके अर्थमे, जहॉ उसका सम्बन्ध काव्यवस्तुसे होता है अर्थात् जहॉ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतमको आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषामे प्रेमकी अनेक प्रकारसे व्यञ्जना करता है। ········छायावाद शब्दका दूसरा प्रयोग काव्यशैली या पद्धति-विशेषके व्यापक अर्थमे है।···· ··· छायावादका केवल पहला अर्थात् मूल अर्थ लेकर तो हिन्दी काव्य-क्षेत्रमे चलनेवाली श्री महादेवी वर्मा ही हैं। पन्त, प्रसाद, निराला इत्यादि और सब कवि प्रतीक-पद्धति या चित्रभाषा-शैलीकी दृष्टिसे ही छायावादी कहलाये।'

शुक्लजीके उक्त निर्देशसे इतना लाभ तो हो जाता है कि छाया-वाद-युगकी सभी रचनाओको एक ही आध्यात्मिक परिधिमे रखकर विवेचन करनेकी प्रवृत्ति दूर हो जायगी। किन्तु इसीके साथ छायावाद और रहस्यवादका स्पष्टीकरण भी हो जाना चाहिये। छायावाद रहस्यवाद-का प्रारम्भिक स्टेज है, रहस्यवाद उसका विकास। छायावादमे चेतनका आभास मिलता है, रहस्यवादमे आभास ही नही अन्तःसाक्षात् भी होता है। रहस्यवादका प्रायः प्रारम्भिक रूप ही पन्त, प्रसाद और निरालामे यत्र-तत्र मिलता है, और कही-कही उसका विकास (रहस्यवाद) भी। 'कामायनी'के अन्तमे प्रसादजी रहस्यवादी हो गये है और महादेवीजी तो शुक्लजीके कथनानुसार पूर्णतः रहस्यवादी है ही।

हाँ, नवीन काव्यके अभ्यस्त न होनेके कारण इस युगकी काव्य-सम्बन्धी भिन्नताओको शुक्लजी ग्रहण नही कर सके, फलतः पन्तके समाजवादको 'ट्रु रोमैण्टिसिज्म' ('स्वाभाविक स्वच्छन्दतावाद') मे और उनके नेचरलिज्मको कहीं-कही मिस्टिसिज्ममे डाल गये। 'लाई हूँ फूलोका हास' मे शुक्लजीको पन्तका 'पारमार्थिक ज्ञानोदय' जान पड़ा है। इसमे पारमार्थिकता नहीं, कविकी आत्मविह्वलता है, क्योकि—

'अधिक अरुण है आज सकाल,
चहक रहे जग जग खगबाल'।

मे कविकी यह आत्मव्यञ्जना है कि प्राकृतिक दृश्योमे कलरव मुख-रित अरुण प्रभातका दृश्य उसे सर्वोपरि प्रिय है। इसे वह आगे यह कहकर स्पष्ट कर देता है—

'चाहे तो सुन लो यह बोल
आज न लूँगी कुछ भी मोल।'

यथार्थवादकी समाजवादी भूमिपर पन्तने जो 'कर्मका मन' दिया है उसमे शुक्लजीने अपने अभीप्सित 'गत्यात्मक जगत्का कर्म-सौन्दर्य' देखा है। इस प्रकार हम देखते है कि शुक्लजीके 'लोकवाद'मे उसी यथार्थका 'नित्य रूप' (सामान्य रूप) है जिस यथार्थका युग-रूप पन्तके समाजवादमे है। शुक्लजी उस 'नित्य रूप'मे अपना सामाजिक सस्कार मिलाकर उसमे पुरातन सस्कृतिकी स्थापना करते है, पन्त युग-चेतना देकर नवीन सस्कृतिकी। यद्यपि युग-रूपकी अपेक्षा शुक्लजीको यथार्थका 'नित्य रूप' ही वाञ्छित है और पन्तजीको परामर्श देते हैं—'पन्तजी आन्दोलनोकी लपेटसे अलग रहकर जीवनके नित्य और प्रकृत स्वरूपको लेकर चले और उसके भीतर लोकमङ्गलकी भावनाका अवस्थान करे'; तथापि शुक्लजीको यह सन्तोष है—'अभिव्यञ्जनाके लाक्षणिक वैचित्र्य आदिके अतिशय प्रदर्शनकी जो प्रवृत्ति 'पल्लव' मे पाते हैं, उसकी अपेक्षा अब पन्तकी काव्य-शैली अधिक सङ्गत, सयत और गम्भीर हो गयी है।'

युग-निर्देशन

शुक्लजीने छायावादकी जिस काव्यकलाकी प्रशसा की है उस कलाको निकाल देने पर कविता 'मैटर आव फैक्ट' रह जाती है, जिसे शुक्लजीने द्विवेदी-युगकी कविताओमें 'इतिवृत्त' कहा है। उस युगमें वह इतिवृत्त ही है, किन्तु 'मैटर आव फैक्ट' तो अब आ रहा है—समाजवादी रचनाओमें। शुक्लजीकी शब्द-सस्थिति यह रही कि वे आगे पीछेके अंग्रेजी शब्दोको अपने प्राप्त-युगोमे समेट लेते थे, यथा इतिवृत्तके युगमे 'मैटर आव फैक्ट' को, फैक्टके युगमे 'ट्रु रोमैण्टिसिज्म' को। इससे युग-बोधमे विपर्यय हो जाता है। रोमैण्टिसिज्मके लिए उन्होंने जो

शब्द ('स्वच्छन्दतावाद') दिया है वह भी चिन्तनीय है। इसी तरह अन्यान्य अंग्रेजी शब्दोके लिए उन्होने हिन्दीके जो स्थानापन्न शब्द दिये है उनका भी पर्यवेक्षण होना चाहिये ताकि वे स्थानापन्न ही न रह कर पूर्ण अर्थव्यञ्जक हो जायँ, इससे भाषाकी अभिव्यक्ति-शक्ति बढेगी।

शुक्लजीने नयी काव्यधारा (छायावाद) का उद्गम मैथिलीशरण, मुकुटधर और बदरीनाथ भट्टमे माना है। यह भी एक चिन्तनीय विषय है। असलमे हिन्दीकी नयी काव्यधारा रविबाबूकी विष्णुपदी है, इसे इस रूपमें स्वीकार कर लेने पर केवल यह विचारणीय रह जाता है कि हिन्दीमे उसे विकास और प्रभाव किन कवियोंसे मिला, इस तरह वे प्रवर्त्तककी अपेक्षा रचना-क्रमसे क्रमागत प्रतिनिधिके रूपमे यो अङ्गीकृत होगे— प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी। इनमेंसे पन्त और महादेवीका काव्य-प्रभाव अधिक पडा है। माखनलालजी इस धाराके अन्तर्गत नहीं, उनमे वीरकाव्य (वर्तमान रूपमे राष्ट्रीय काव्य), कृष्णकाव्य और उर्दू-काव्यकी मुक्तक-समष्टि है, उनमे द्विवेदी-युगके दो व्यक्तित्वो (मैथिली-शरण और 'सनेही') का मौलिक संयोजन है। नवीन, दिनकर, सुभद्राकुमारी इत्यादि इसी दिशामे है।

हिन्दी-साहित्यका इतिहास

शुक्लजी मुख्यतः काव्य-समीक्षक है, विशेषतः मध्यकालीन हिन्दी-काव्य-साहित्यके समीक्षक, तथापि 'हिन्दी-साहित्यका इतिहास' मे वे गद्य साहित्यके भी एक गम्भीर समीक्षक है। इस दिशामें भी उनकी काव्य और जीवन-सम्बन्धी पूर्वपरिचित रुचि ही तत्पर है। रुचि-जन्य होनेके कारण उनका इतिहास जन्त्री भी हो गया है; इसीलिए ऐति-हासिक कोटिमें न आनेवाली रचनाओ और रचयिताओका भी उसमे

सग्रथन हो गया है। उनके इतिहासको बहुत कुछ कवियोके इतिवृत्तका भी रूप धारण करना पड़ा है। शुक्लजीकी विशेषता यह है कि उन्होने ही हिन्दी-साहित्यका इतिहास लिखनेकी वैज्ञानिक पद्धतिका श्रीगणेश किया। प्रारम्भ वे कर गये है, विकास नये इतिहासकारोका काम है। किन्तु अभी तक साहित्यके इतिहास-लेखनमे व्यावसायिक अनुकरण ही अधिक चल रहा है, पाठ्यपुस्तकोकी तरह। नवीनता नही आ रही है। भाषा-विज्ञानकी तरह ही साहित्यिक इतिहास भी भौगोलिक, राजनीतिक और सामाजिक छानबीनकी चीज है, क्योकि इन्हीं प्रवृत्तियोसे भाषा और साहित्य दोनो बनते है। साहित्य जीवनकी किन किन प्रतिपत्तियों (व्यक्ति, समाज और राजनीति) की निष्पत्ति है, इसके निदर्शनसे ही साहित्यका इतिहास ऐतिहासिक स्वरूप पा सकता है। आज जैसे हम राष्ट्रका इतिहास लिखनेका ढङ्ग बदल रहे है वैसे ही साहित्यके इतिहासका ढङ्ग भी बदलेंगे। नये ढङ्गका इतिहास लिखनेमे मनोवैज्ञानिक समीक्षाकी बडी जरूरत पडेगी। जीवनके सङ्घर्षमे लगी पीढ़ियाँ ही कभी स्वस्थ होकर यह काम करेगी। आजका प्रज्वलित युग अब तकके जीवन और साहित्यको अथवा सामाजिक और राजनीतिक इतिहासको जिस तेज आँचसे पिघला पिघलाकर परख रहा है उस ज्वालाके स्पर्शका अनुभव न कर पिछले इतिहास साहित्यको एक रूढ कला और रूढ जीवनके अस्तमित प्रकाशमे ही देख सके है। इस सङ्क्रान्ति-कालका इतिहास जब अपने सङ्घर्षोसे थका हुआ नये युगके द्वारपर खडा होगा तब उसे आगेकी ओर देखना अधिक आवश्यक हो जायगा, पीछेकी ओर वह सक्षिप्त दृष्टिपात ही कर सकेगा। वह पिछले युगोका साराश ही देख सकेगा कि शोषण या परिपोषणकी किन किन प्रणालियोसे गुजरकर आगे जा रहा है। शुक्लजीने अपने इतिहासका नया संस्करण ऐसे समयमे लिखा जब वे जरा-क्रान्त हो चुके थे;

ऐसी स्थितिमे भी उन्होंने भगीरथ-पुरुषार्थ किया है। उनके पुरुषार्थको नवीन तारुण्य मिलना चाहिये।

शुक्लजीने अपने 'इतिहास' के नये सस्करणमे प्रसङ्ग-वश पहिली बार वर्त्तमान सामूहिक आन्दोलनोपर किञ्चित् दृष्टिपात किया है। इन आन्दोलनोंके सम्बन्धमे उनका कहना है कि 'हमारे निपुण उपन्यासकारोको केवल राजनीतिक दलो द्वारा प्रचारित बाते ही लेकर न चलना चाहिये, वस्तुस्थितिपर अपनी व्यापक दृष्टि भी डालनी चाहिये।'

किसान-आन्दोलन और मजदूर-आन्दोलनके बजाय उन्होने शोषक साम्राज्यवाद और पूँजीवादको हटानेका सङ्केत किया है। दूसरे शब्दोमे वे विदेशी स्थापित स्वार्थोंका उच्छेद चाहते थे जिसके बिना ये आन्दोलन देशकी वस्तुस्थितिसे दूर जा पडते है। साथ ही साहित्यमे 'जगत् और जीवनके' उस 'नित्य रूप' की अभिव्यक्ति भी बनाये रखनेका उन्होने परामर्श दिया है 'जिसकी व्यञ्जना काव्यको दीर्घायु प्रदान करती है'। तथास्तु।

पिछली परम्पराके आलोचकोमे शुक्लजी ही सर्वप्रथम आलोचक है जिन्होने साहित्यको जीवनके सान्निध्यमे रखकर देखा है। अवश्य ही जीवनके सम्बन्धमें उनका दृष्टिकोण मध्यम-वर्गीय है। हमारे साहित्यमे वे इस वर्गके उत्तरदायित्वपूर्ण प्रकाण्ड प्रतिनिधि थे।

उनकी समीक्षाओंसे दो लाभ हुए—एक तो प्राचीन काव्योके समुचित अध्ययनका अवसर मिला, दूसरे विधानवादको मनोविज्ञानका आलोक भी मिला। हिन्दी-काव्य-समीक्षाको उन्होंने पिछली समीक्षा-सम्बन्धी अस्वस्थताओसे उबारा है। उनके जैसा नियामक और निर्मायक-समीक्षक दुर्लभ है।

शुक्लजीको शब्दोद्भावनाका श्रेय भी प्राप्त है। अग्रेजीके पारिभाषिक साहित्यिक शब्दोंको उन्होने हिन्दीके शब्द दिये है। ये स्थानापन्न शब्द

चाहे मूल-शब्दके पूर्ण अर्थव्यञ्जक न होकर उनके निजी अभिप्रायके ही द्योतक हो गये हो, किन्तु शब्द-निर्माणकी दिशामे उन्होने नवीनताकी प्रेरणा दी है। उनके पहिले इतना भी नहीं हो सका था।

शुक्लजीकी लेखन-शैली विवेचनात्मक है। उनके नैबन्धिक गठनमें परिपुष्टता और विचारोमे समास-शक्ति है, साथ ही प्राञ्जल सुस्पष्टता भी। इस गम्भीर शैलीमे उनके व्यङ्ग, आक्रोश और बीभत्स दृष्टान्त अशोभन लगते हैं। उनके गम्भीर विवेचनात्मक वातावरणके बीच ये बहुत हलके पड़ जाते है, किन्तु इन्हे क्षेपककी तरह निकाल देने पर उनके विचार अपनी गरिमामे गुरु-गम्भीर है। कही कही उनके शुद्ध हास्यके छींटे हृदयको तरावट दे जाते है, यथा—'विहारीकी नायिका जब साँस लेती है तब उसके साथ चार कदम आगे बढ़ जाती है। घडीके पेण्डुलमकी-सी दशा उसकी रहती है।' साथही मधुर-रतिकी ओर उनका झुकाव न होनेके कारण इस परिहासमे उनकी लाक्षणिकता चूक गयी है—

'एक कवि जीने कहा है—

काजर दे नहिं एरी सुहागिन !
आँगुरि तेरी कटैगी कटाछन।

यदि कटाक्षसे उँगली कटनेका डर है तब तो तरकारी चीरने या फल काटनेके लिए छुरी, हँसिया आदिकी कोई जरूरत न होनी चाहिये।'

———

प्रगतिवादी दृष्टिकोण

आत्मविवृत्ति

मेरी खिडकीके सामने मंसूरीकी शैल-श्रेणियाँ अभिसारिकाकी तरह ठिठकी खडी है। छोटी-बडी इमारते ऐश्वर्यकी कन्या-कुमारियोकी तरह इस अभिसारसे रोमास सीख रही है। दूर क्षितिजमे विलीन देहरादूनकी उपत्यका धूलिके मटमैले कुहरेमे ओझल हो गयी है—किसी लज्जाशीला वधूकी तरह। मानो भारतीय जीवनकी मर्यादा देहरादूनमें ही समाप्त हो गयी है, मसूरी तो साफ-साफ इग्लिश-रूपसीकी तरह ऐश्वर्यसे मानवताको जाँच रही है। स्वय कलात्मक होते हुए भी इसने कलासे सौतिया-डाह कर ली है—न इसे सुरूपसे एतराज है, न कुरूपसे, यह तो विलासिनी है, इसका विलास वैभवसे चलता है, सौन्दर्य तो एक छद्मावरण-मात्र है।

मेरे त्रिकोणमे, अस्सी मील दूर बदरीनाथका निवास है। युगकी परिस्थितियोंकी तरह छाये हुए कुहासेके प्राचीरके कारण मै उसे देख नहीं पाता; मन ही मन प्रणाम करके रह जाता हूँ।

तर्कशील जिज्ञासु पूछेंगे—आस्तिक होते हुए भी मै बदरीनाथ-धाम न जाकर मंसूरी क्यो चला आया?

प्रभुके अन्तःस्वरूपपर मेरा विश्वास है; सृष्टिमे एकमात्र प्रेय और सत्य वही है। किन्तु जहाँ तक प्रभुके भौतिक अस्तित्वका प्रश्न है, वे भी आज ऐश्वर्यके लिए ही पूजित हो रहे है। ऐश्वर्य ही सौन्दर्यकी

मर्यादा पाकर कभी ईश्वर हो गया था, या यो कहे, सौन्दर्यसे सरल सुषम होकर ऐश्वर्यका ही अपभ्रंश 'ईश्वर' हो गया था। ईश्वरका सौन्दर्य साधना-मूलक था, इसीलिए वह ज्योतिर्मय था। किन्तु आज वह कामना-मूलक है, अतएव निष्प्रभ और मलिन है अपने स्वार्थी भक्तोकी तरह। आजकी पूँजीवादी आस्तिकता और पूँजीवादी नास्तिकतामे माध्यमका अन्तर नहीं है, दोनोका ही माध्यम ऐश्वर्य है। अन्तर दोनो-की अभिव्यक्तियोमे है—पूँजीवादी आस्तिकता अस्वच्छताकी कुरूपता लेकर चल रही है, पूँजीवादी नास्तिकता विलासिताकी छलना लेकर। निःसन्देह इस विलासिताकी कला वेश्यात्मक है। उसने ऐश्वर्यके साथ कला (सौन्दर्य) को तो मिला दिया है, किन्तु हृदयको अपने शरीरमे ही दफना दिया है। पूँजीवादी आस्तिकता (धर्म)मे साधना रूढि मात्र रह गयी है, पूँजीवादी नास्तिकता (विज्ञान)मे कामना दिग्भ्रान्त हो गयी है। बदरीनाथ और मसूरीमे इसी यथार्थका परिचय मिलता है।

मैं सौन्दर्योपासक या कलाजीवी हूँ। कला (सौन्दर्य)के साथ जब तक मुझे अन्तःकरणकी स्वच्छता नही मिलती, मै बाहरी स्वच्छता (बाह्य सौन्दर्य) को उसे छलना समझते हुए भी, अपनी मृगतृष्णाकी मोहिनी मायाके रूपमे ग्रहण कर लेना चाहता हूँ, क्योकि मै अभिशाप-पीडित युगका अतृप्त मानव हूँ। मृग जानता है मृगतृष्णाकी मायाको, फिर भी श्वासरुद्ध जीवकी तरह जीवन्मृत हो जाने के बजाय वह जीवनका कुछ अभिनय कर लेता है—अपनी कलात्मक गतिभङ्गीके कारण। किन्तु मृगतृष्णा मेरा आपद्धर्म है, आन्तरिक धर्म नहीं। मेरे आन्तरिक धर्मके तीर्थ-धाम है बदरीनाथ, मेरे आपद्धर्मकी लीलाभूमि है मसूरी। युगकी भाषामे मेरा आन्तरिक धर्म है गान्धीवाद, मेरा आपद्धर्म है सौन्दर्यमण्डित ऐश्वर्यवाद; उसीका शोधित रूप है प्रगतिवाद। बदरी-

नाथको साधनाकी स्वच्छता मिलेगी गान्धीवादसे, मसूरीको मानवताकी कला मिलेगी प्रगतिवाद (समाजवाद) से । कलात्मक ऐश्वर्यवाद (सौन्दर्यवाद)से प्रगतिवाद (नव-मानववाद), प्रगतिवादसे गान्धीवाद (अध्यात्मवाद) मेरा गन्तव्य है। मै श्रान्त-क्लान्त बटोहीकी तरह बीच-बीचमे अपनी मजिले बनाते हुए चलता हूँ, यह मेरे थके-हारे जीवनकी दुर्बलता हो सकती है, किन्तु मै अपने लक्ष्यके प्रति आत्मनिष्ठ हूँ। मृग हूँ, कनक-मृग नही।

दो अध्याय

सामाजिक-अभिव्यक्तिके दो महत्त्वपूर्ण अध्याय मेरे सामने हैं—एक-मे है पौराणिक सस्कृति, दूसरेमे है ऐतिहासिक सभ्यता। पौराणिक सभ्यता ब्राह्मण-सभ्यता है, वह उत्सर्गशील है; ऐतिहासिक सभ्यता वणिक्-सभ्यता है, वह आत्मलिप्सु है। आज पौराणिक सभ्यता रूढियो (अज्ञान) के घोर अन्धकारमे तमस्-मूढ है, ऐतिहासिक सभ्यता विज्ञानकी चकाचौंधमे मदान्ध है। इस तामसिक स्थितिसे मानव-समाजका उद्धार करनेके लिए युग-सन्देशके रूपमे हमारे सामने अवतीर्ण हुए है—गान्धीवाद और प्रगति-वाद। गान्धीवादका लक्ष्य है—ब्राह्मण-सभ्यताका उन्नयन; प्रगतिवादका लक्ष्य है—वणिक् सभ्यताका परिशोधन।

ब्राह्मण वह है जो ब्रह्मलीन है। ब्राह्मण-सभ्यता अपने विकासमे महर्षि या देव-कोटि तक पहुँची थी, अपने अधःपतनमे आज वह न तो देवत्वकी ओर है, न मानवत्वकी ओर, वह है घोर पशुत्वकी ओर। अपनी प्रगतिमे वह देवत्वकी ओर बढी थी, अपनी अधोगतिमे वह पशुत्वकी ओर है; यह कैसी विडम्बना है! आज यह सामाजिक पशुत्व एक ओर धार्मिक है, दूसरी ओर आर्थिक। बाहरसे देखने पर आजकी

जटिल समस्या दुहरी जान पड़ती है, किन्तु इसके मूलमे है आर्थिक पशुत्व या वणिक् सभ्यता। प्रगतिवाद इस आर्थिक पशुत्वका मानवीकरण कर रहा है; उसकी सीमा यही समाप्त हो जाती है। इसके आगे गान्धीवाद धार्मिक पशुत्वका दैवीकरण कर रहा है। जीवनके विकास-क्रमकी दृष्टिसे दोनो ही गत्यात्मक हैं—अन्तर यह है कि समाजवाद पूँजीवाद (पाशवबाद) के आगे है, गान्धीवाद समाजवाद (नव-मानववाद) के आगे। गान्धीवाद समाजवादके सीमान्तमे है, अतएव वह उससे परिचित है, किन्तु समाजवाद गान्धीवादसे पीछे है, अतएव उससे अपरिचित है। धार्मिक सम्प्रदायवादियोकी तरह गान्धीवादके रूढ़िवादी भक्तगण समाजवादको दुरावकी दृष्टिसे देखते है और कट्टर समाजवादी (कम्यूनिस्ट) गान्धीवादको पुरोगामी समझते है। दोनो ही गलतीपर जान पडते है। समाजवाद गान्धीवादका बाधक नही, बल्कि उसके लिए मानवताकी एक सतह तैयार करनेमे सहायक है। दूसरी ओर गान्धीवाद भी समाजवादका प्रतिरोधी नही, बल्कि उसके प्रयत्नोको आन्तरिक (हार्दिक) बुनियादका स्थायित्व देनेवाला है। जीवनके सत्य, शिव, सुन्दरमे गान्धीवाद सत्य (सृजन-सिञ्चन) की ओर है, समाजवाद शिव (विध्वस) की ओर। गान्धीवाद और समाजवादमे मनोभेद यह है कि समाजवाद गान्धीवादको अपनी श्रद्धा नही देता, किन्तु गान्धीवाद समाजवाद (शैवत्व) को अपनी सहानुभूति देता है, जैसे स्वय गान्धी जवाहरलालको।

प्रगति और मूलनीति

ऊपर हमने सङ्केत किया है कि गान्धीवाद और समाजवाद दोनो गत्यात्मक है, किन्तु एक पुरोगामी समझा जाता है, दूसरा प्रगतिवादी।

प्रगतिवाद क्या है ?—इसका स्पष्टीकरण पन्तजीने यों किया है—'प्रगतिवाद उपयोगितावादका ही दूसरा नाम है। वैसे सभी युगोका लक्ष्य सदैव प्रगतिकी हो ओर रहा है, पर आधुनिक प्रगतिवाद ऐतिहासिक विज्ञानके आधारपर जन-समाजकी सामूहिक प्रगतिका पक्षपाती है।' इस स्पष्टीकरणके बाद 'प्रगतिवाद' का अर्थ ग्रहण करनेमे कोई दुविधा नहीं रह जाती। वह एक विशेष-अर्थ-द्योतक रूढ राजनीतिक शब्द बन गया है। प्रगतिवाद कलाके क्षेत्रमे उपयोगिताको, जीवनके क्षेत्रमें यथार्थताको लेकर चल रहा है। इस प्रकार वह एक ओर ललित-कलासे भिन्न हो जाता है, दूसरी ओर आदर्शवादसे। कलका यथार्थवाद आजके समाजवाद अथवा प्रगतिवादके रूपमे हमारे सामने है, कलका आदर्शवाद गान्धीवादके रूपमे।

बॅगलामे प्रगति का अर्थ अब भी पुराना ही बना हुआ है। वहॉ सास्कृतिक परिणतिको 'प्रगति' समझा जाता है और ऐतिहासिक अर्थात् सासारिक परिणतिको 'उन्नति'। श्री बुद्धदेववसुके निर्देशानुसार, सास्कृतिक परिणति ही जीवनकी 'मूलनीति' है। इसी मूलनीतिको गुजरातीमे जीवनकी 'रचना-शक्ति' कहते है। इस दृष्टिसे युगकी सास्कृतिक परिणति (गान्धीवाद) 'प्रगतिशील' है और युगकी ऐतिहासिक परिणति (समाजवाद) 'उन्नतिशील'। किन्तु गान्धीवादको प्रगति-'शील' मानकर भी उसे प्रगतिवाद नही कहा जा सकता क्योंकि 'वाद' शब्द गान्धीवादमे आकर जितना कोमल हो जाता है, 'प्रगतिवाद' मे उतना ही तीव्र। अतएव जीवनकी तीव्र परिणति (ऐतिहासिक परिणति) को ही प्रगतिवाद कहा जा सकता है।

गान्धीवाद और समाजवादमे मूलगत अन्तर यह है कि गान्धीवाद धर्मनीति (ब्राह्मण-सभ्यता) को प्रधानता देता है, समाजवाद अर्थनीति

(वणिक् सभ्यता) को। दोनो अपने-अपने दायरेमे प्रचलित नियम-नीतियोसे ऊपर उठकर (एक ओर गान्धीवाद ब्राह्मण-सभ्यताको, दूसरी ओर समाजवाद वणिक्-सभ्यताको) स्वस्थ सस्कार देना चाहते है। अपनी समाजवादी सहानुभूतिकी दिशामे गान्धीवाद अर्थनीतिको अस्वीकार नही करता, किन्तु वह अर्थ-नीतिको धर्म-नीतिकी ओर मोड़ देना चाहता है, उसे नियमसे ही नही, हृदयसे बॉध देना चाहता है। वह अर्थनीतिका सच्चे अर्थमे मानवीकरण करना चाहता है, यन्त्रीकरण नही। देवत्वकी अपेक्षा मानवता समाजवादका लक्ष्य है, किन्तु वह यन्त्रोकी विषमताको समता देकर ही मानवताको सुलभ करना चाहता है। यन्त्रोके रहते मानवता शुद्ध कैसे रह सकती है?—उस स्थितिमे तो जैसे पूँजीवादका भार मनुष्यपर है, वैसे ही मनुष्यका भार यन्त्रोपर बना रहेगा। अतएव गान्धीवाद अर्थनीति (वणिक्-सभ्यता) का शुद्ध मानवीकरण करके ही उसे धर्मनीतिमे अन्तर्भूत कर लेता है। समाजवाद अपने दृष्टिकोणमे आद्यन्त शिव (विध्वस) की प्रखरता बनाये रखता है, किन्तु गान्धीवाद शिवके असन्तोषको स्वीकार कर उसे विष्णु (सत्य) की सरलतासे ही निश्चिन्त कर देना चाहता है। स्थिति यह है कि गान्धीवाद समाजवादके मानवपक्षको स्वीकार करता है, उसके दानव-पक्ष (पार्थिव भोगवाद) को अस्वीकार; किन्तु समाजवाद न तो उसके मानव-पक्षको स्वीकार करता है, न दैवी पक्षको ही।

कलाका प्रतिनिधि—छायावाद

इन दोनोके बीचमे एक और पक्ष लुप्त है—वह है कला या सौन्दर्य-का पक्ष। काव्यकी भाषामे यह पक्ष छायावादका है। इस प्रकार हमारे सामने आते है—गान्धी, लेनिन, रवीन्द्रनाथ। यह युग एकाक्ष नही,

त्रिनयन है। त्रिनयन-युगके इन प्रकाशस्तम्भोको इस प्रकार सम्बोधित किया जा सकता है—

'ऐ त्रिनयनकी नयन-वह्निके
तप्त-स्वर्ण! ऋषियोके गान!
नव-जीवन! षड्ऋतु-परिवर्त्तन!
नवरसमय! जगतीके प्राण!'

प्रगतिवादमे है 'तप्तस्वर्ण', गान्धीवादमे 'ऋषियोके गान', रवीन्द्र-वाद (छायावाद) मे 'ऋषियोके गान' के अतिरिक्त 'नवरसमय'-'षड्-ऋतु-परिवर्त्तन' भी। सब मिलकर 'नव-जीवन' और 'जगतीके प्राण'-प्रतिष्ठाता है। युगके त्रिनयनमे एक नेत्र क्रान्तिका है—मार्क्सवाद, एक नेत्र शान्तिका है—गान्धीवाद, एक नेत्र कान्ति या सुषमाका है—रवीन्द्रवाद (छायावाद)। एक ओर 'गीताञ्जलि', दूसरी ओर 'रूसकी चिट्ठी' लेकर रवीन्द्रनाथ गान्धीवाद और समाजवादके बीच छायावादको मानो एक माध्यमके रूपमे विचारणीय कर देते हैं।

यदि यह माध्यम स्वीकार हो तो सत्य और शिवके साथ सुन्दरकी शृङ्खला भी जुड जाय। गान्धीवादकी धर्मनीति और समाजवादकी अर्थनीतिकी तुला (कला) सौन्दर्यकी मर्यादा ही बन सकती है। भक्ति (गान्धीवाद) और राजनीति (समाजवाद) के बीच अनुरक्ति (छायावाद) के व्यक्तित्वका समावेश ही जीवनको गरिष्ठ होनेसे बचा सकेगा। गान्धीवादकी अनासक्ति और समाजवादकी आसक्तिसे भिन्न है छायावादकी अनुरक्ति। अनासक्तिकी शुष्कता छायावाद (अनुरक्ति) से तरल और समाजवादकी सरसता छायावादसे सरल बन सकती है; उस स्थितिमे गान्धीवादके पार्श्वमे छायावाद कण्वके तपोवनमे शकुन्तला-की सृष्टि करेगा और समाजवादके पार्श्वमे कामायनीकी। प्रकारान्तरसे,

गान्धीवादके सामने छायावादकी ओरसे काव्यकी रसात्मकताका तकाजा है, और समाजवादके सामने जीवनकी आन्तरिकताका—आन्तरिकता अर्थात् अन्तर्लीनता (आत्मनिमग्नता)। इसी अन्तर्लीनताके कारण कला स्वान्तःसुखाय भी हो जाती है। किन्तु प्रगतिवादमे 'कला स्वान्तः सुखाय नहीं है, वह आक्रमण करनेका एक तरीका है।' छायावाद और गान्धीवाद दोनोंमे अन्तर्लीनता है अतएव दोनो सचेतन (व्यक्तित्वपूर्ण) हैं। अन्तर यह है कि गान्धीवाद ब्रह्मलीन है, छायावाद सौन्दर्यलीन, समाजवाद शरीर-लीन। गान्धीवाद तत्त्व लेकर चलता है, समाजवाद तथ्य लेकर, छायावाद कवित्व लेकर।

माध्यमका चुनाव

गान्धीवादके आदर्श हैं—सीताराम। किन्तु कविने सीतारामके रसात्मकरूपकी भी सृष्टि की है। कृष्णकाव्य और शाकुन्तलम्मे भी वही रसात्मक रूप है। हाँ, इन सभी रस-रूपोके ऊपर जीवन एक साधना भी है। गान्धीवाद और समाजवादकी अपूर्णता यह जान पड़ती है कि गान्धीवाद साधनाके लिए रूप-जगत्को छोड देता है, समाजवाद रूप-जगत्के लिए साधनाको। कवि कलाकार है, उसकी कलाकारिता रूप और साधनाको एकमे मिला देनेमे है। पूर्व-युगमे गोस्वामी तुलसीदास और आधुनिक युगमे गुरुदेव रवीन्द्रनाथने जीवनका यही एकीकरण किया था। इस एकीकरणका माध्यम कला है। धर्म (अध्यात्म) और अर्थ (लोकात्म) वाञ्छनीय होते हुए भी कलाके माध्यम बिना दुर्मिल ही बने रहेंगे। आजकी समस्याओका सुलझाव माध्यमका ठीक चुनाव कर लेनेमे है। धर्म और अर्थ माध्यम नहीं हो सकते, वे जीवनके लक्ष्य-उपलक्ष्य हो सकते हैं; माध्यम कला ही हो सकती है।

जीवनका स्वरूप

गान्धीवाद चाहे जितना शुष्क हो किन्तु उसकी शुष्कता उसी सैकत-तटवाहिनी सरिताका अतल-रूप है जिसकी कलाभङ्गीको कवि जीवनका कवित्व बना देता है। इस प्रकार हम देखते है गान्धीवादमें उसी कवित्वका घनत्व है, जिस कवित्वका छायावादमे तारल्य। दोनोंमे व्यक्तित्व कविका है; अन्तर यह है कि गान्धीवादमे कविका कवीर्मनीषी-रूप है, छायावादमे कवीर्मनोषीका कलाकार-रूप (रवीन्द्रनाथ) भी।

आज समाजवादमे भी एक कवि-व्यक्तित्व मुखरित हो रहा है; समाजवादमें कविका चारण-रूप है। अपने नवीन चारण-रूपमे समाजवाद मध्ययुगके चारणरूपसे भिन्न है, इसीलिए गान्धीवाद और छायावादसे भी भिन्न है, क्योंकि समाजवादका प्रयत्न मध्ययुगके इतिहासके बाहर है, छायावाद और गान्धीवादका लक्ष्य उसी युगके इतिहासके भीतर है। आज प्रश्न जीवनका माध्यम (कला) ही निश्चित करनेका नहीं है, बल्कि जीवनका स्वरूप (सस्कृति) निर्धारित करनेका भी है। छायावाद, गान्धी-वाद और समाजवाद क्रमशः इस प्रश्नके त्रिभुज हैं—कला, संस्कृति, और राजनीति। जीवनका लक्ष्य निश्चित करनेमे कला संस्कृतिकी ओर जायगी, क्योंकि कलाकी शुभ्रता उसीमें है, फलतः मतभेद छायावाद और गान्धीवादमे उतना नहीं है जितना समाजवाद और गान्धीवादमे।

संस्कृति और विज्ञान

गान्धीवाद और समाजवादमें अन्तर सस्कृति और विज्ञानका है। गान्धी और मार्क्स दोनों समाजवादी है, किन्तु गान्धीवादमे सास्कृतिक समाजवाद है, मार्क्सवादमे वैज्ञानिक समाजवाद। मार्क्सवाद भी कला और सस्कृतिको स्वीकार करता है किन्तु विज्ञान-द्वारा परिचालित होनेके

कारण उसकी कला और संस्कृति मशीनी है; मानवीय नही। ज्ञान-द्वारा परिचालित होनेके कारण गान्धीवादमें कला और सस्कृति मशीनी नहीं, मानवीय है। इस क्रममे छायावाद ज्ञानसे भावका और गान्धीवाद विज्ञानसे ज्ञानका तकाजा कर सकता है। अब प्रश्न यह हो जाता है कि जीवनके स्वरूप-निर्माणके लिए ज्ञानमूलक सस्कृति अपेक्षित है, अथवा विज्ञान-मूलक? ज्ञानमूलक सस्कृति सन्तोकी देन है, विज्ञान-मूलक सस्कृति राजनीतिज्ञोकी। वैज्ञानिक अथवा राजनीतिक संस्कृति सन्त-संस्कृतिको युग-निर्माणके लिए अनुपयुक्त समझती है, क्योकि वह मठो, मन्दिरो और चर्चोके रूपमे उस सस्कृतिका दुरुपयोग देख चुकी है। किन्तु दुरुपयोगके कारण वह सस्कृति तो दूपित नही हो सकती। उस युगमे तो सामन्तवादने जैसे आर्थिक दुरुपयोग किया, वैसे ही सास्कृतिक दुरुपयोग भी। जनसाधारण तो जैसे अर्थ-वञ्चित था, वैसे ही धर्म-वञ्चित भी। एक बँधी-बँधायी आर्थिक और धार्मिक प्रणालीके रूपमे रूढियाँ ही उसके हाथ लगीं। आज वह रूढि-जर्जर है, सामन्त-वाद तथा पूँजीवादसे उसका उद्धार होना ही चाहिये।

शिल्प-स्वावलम्बन

किन्तु उसका उद्धार इस तरह नहीं होगा कि सामन्तवादके बाद अब वह यन्त्रवादपर अवलम्बित हो। हमें तो जन-साधारणका उद्धार उसीके दैनिक स्वावलम्बनसे करना है, न कि किसी पूँजीवादी शक्तिको 'सार्वजनिक' बनाकर। यन्त्रवाद पूँजीवादकी शक्ति है। पूँजीवादमे धार्मिक शोपण अपने पुराने ही रूपमे (मन्दिरो, मठो और चर्चोंमे) बना हुआ है, किन्तु आर्थिक शोषण एक नयी प्रणाली पा गया है यान्त्रिक रूपमे। अवश्य ही समाजवाद यन्त्रोको जनसाधारणके

आर्थिक शोषणके बजाय आर्थिक पोषणकी [illegible] बना देना चाहता है। उसका उद्देश्य शुभ है किन्तु साधन शुभ न होनेसे उद्देश्य भी अशुभ हो जाता है। जीवनका जैसा साधन होता है, मनुष्यका व्यक्तित्व भी वैसा ही हो जाता है। यन्त्रोके साथ मनुष्य भी यन्त्र ही हो जायगा, वह चाहे सम्पत्तिवादी युगमे हो चाहे प्रगतिवादी युगमे। साम्राज्यवादी-युगमे तो मनुष्य आज नकली फेफडोसे साँस लेनेका अभ्यास करने जा रहा है। यह यान्त्रिक कृत्रिमताका चरम-निदर्शन है।

प्रश्न यह उठता है कि मध्ययुगमे यन्त्र नहीं थे, फिर मनुष्य, मनुष्य क्यो नही बना रह सका ?—इसका उत्तर यह है कि यन्त्रवाद न होते हुए भी उस युगमे पूँजीवादका पुराना रूप सामन्तवाद तो था, जो अब भी पूँजीवादी युगमे सरक्षित है। पूँजीवाद और सामन्तवादको हटाकर यदि मनुष्यको मध्ययुगका शिल्प-स्वावलम्बन मिल सके तो नूतन मानव प्राचीन और नवीन दोनो युगोका एक समुचित प्रतीक बन सकता है। इस तरह मनुष्यके शोषणको रोकनेके लिए समाजवाद और मनुष्यके स्वावलम्बनको रोपनेके लिए गान्धीवादकी आवश्यकता है। कर्तव्यकी इस दिशामे गान्धीवाद रचनात्मक है, समाजवाद रक्षात्मक। काग्रेस द्वारा ग्रामोद्योगोका प्रचार होने पर, सरकारको भी इस तरफ झुकते देखकर गान्धीजीने कहा था कि सरकार यदि मुझे सहयोग दे तो मै चमत्कार कर दिखाऊँ। भावी युगमे गान्धीवादको यही सहयोग समाजवादसे अपेक्षित होगा। उस समय जनता बनेगी गान्धीवादसे, सरकार बनेगी समाजवादसे। जनता सरकारपर उसी प्रकार हावी होगी जिस प्रकार पुराकालमें धर्म, राज्यपर हावी था। नये तन्त्रमे राजा (सरकार) ईश्वर नही, बल्कि जनता ही जनार्दन हो जायगी। अन्यथा, सामन्तवादमे धर्म-तन्त्रकी जो स्थिति हुई वही प्रगतिवादमे जन-तन्त्रकी हो जायगी।

प्रगतिशील युगके सामने सस्कृतिका प्रश्न मध्ययुग (गान्धीवाद) की ओरसे आया है ! सस्कृतिमे मनुष्यकी सजीवता है, यन्त्रोकी निस्पन्दता नही। सस्कृतिको शिल्प-स्वावलम्बन देकर गान्धीवाद एक ओर समाजवादको सहूलियत पहुँचाता है, दूसरी ओर उसे आध्यात्मिक बनाकर छायावादको। अपने शिल्प स्वावलम्बनमे गान्धीवाद मानववादी जान पड़ता है, किन्तु मानववाद उसका लौकिक प्रतीक है, अहिंसा द्वारा वह इसके भी ऊपर प्राणिवादी हो जाता है—वही वह ब्रह्मलीन है। इसी प्रकार छायावाद भी अपने कुछ लौकिक प्रतीको (मनुष्य और प्रकृति) को लेकर वहीं पहुँचता है जहाँ गान्धीवाद; जब कि समाजवाद हँसिया-हथौडेको प्रतीक बनाकर मानववाद तक ही पहुँचता है।

जन-संख्याका आतङ्क

प्रगतिशील युग ससारकी बढती हुई आबादीको देखकर कहेगा—मध्ययुगमे इतनी जन-सख्या नही थी, इसलिए उसका काम बिना यन्त्रोके भी चल जाता था। तो, आजकी जीवन-समस्या सास्कृतिक समस्या नही, बल्कि उत्पादनके रूपमे राजनीतिक समस्या है ! अपने राजनीतिक रूपमे यह समस्या भौगोलिक और वैज्ञानिक बन गयी है। किन्तु वास्तवमे आजकी समस्या उत्पादनकी नही है और इसीलिए भौगोलिक, वैज्ञानिक या राजनीतिक भी नही है। आज समस्या आत्म-नियमनकी है; इस रूपमे यह सास्कृतिक समस्या है। सामग्रियोका उत्पादन जनसख्याके लिए नहीं, आत्मलिप्साके लिए हो रहा है। सामग्रियाँ तो आवश्यकता-पूर्त्तिके लिए पर्याप्त है, किन्तु भोगवादके कारण आवश्यकतासे अधिक अपव्यय, तथा पूँजीवादके कारण आवश्यक वस्तुओका सीमित वर्ग (सम्पन्न वर्ग)मे घिराव, जनसख्याका बहाना

बन गया है। यदि स्थिति ऐसी ही भ्रमात्मक बनी रही तो यन्त्रोकी अपार उन्नति होने पर भी उत्पादनकी समस्या ज्योकी त्यो बनी रहेगी। पृथ्वीपर यन्त्रोका अधिक भार पडनेसे वह बञ्जर हो जायगी। इस तरह तो समस्या हल नही होगी। समस्या हल होगी मिताचारसे। मिताचार ही भोगवादको साधनाकी ओर ले जायगा। बिना मिताचारके समाजवादमे भी वस्तुओका आवश्यकतासे अधिक अपव्यय होता रहेगा। यदि आत्मनियमन नहीं है तो विधान-द्वारा भी यह अपव्यय नहीं रुक सकता। आत्मनियमन एव मिताचारको अपनाकर गान्धीवाद युगकी जीवन-समस्याको सास्कृतिक समस्या बना देता है। सास्कृतिक रूपमें यह समस्या मनुष्यसे अन्तर्विवेकका तकाजा करती है।

क्षुधा-कामके बाद

यदि यन्त्रो-द्वारा प्रचुर उत्पादन देकर मनुष्यको जीवनकी आवश्यकताओसे चिन्ता-मुक्त कर उसे जीवन-चिन्तनके लिए पर्याप्त अवसर देना अभीष्ट है, तो भी जिज्ञासा यह है कि उसके चिन्तनका लक्ष्य क्या होगा ?—अर्थ ?— वह तो चिन्तनके लिए एक निश्चित साधनके रूपमे पहिले ही अङ्गीकृत हो जायगा। फिर ?—क्षुधा-कामके बाद, जरा-व्याधिके जगत्में आत्मशान्तिके लिए आत्मदर्शन ही हमारा साध्य बनेगा। इस साध्यको चाहे धर्म कहे, चाहे अध्यात्म कहे अथवा कोई नवीन वैज्ञानिक नाम दे दे, किसी भी रूपमे गान्धीवाद उसके लिए एक चन्दनबिन्दु (सङ्केत-बिन्दु) रहेगा। इस प्रकार युगव्यापी प्रश्नका उक्त त्रिभुज (कला, राजनीति और संस्कृति) जीवनका यह समन्वय पा सकेगा—कला होगी माध्यम, अर्थ होगा उद्यम (राजनीतिक साधन), गान्धीवाद होगा संयम (आन्तरिक साध्य)।

धर्म-प्रवण जनता गान्धीवाद (आत्मनियमन एव मिताचार)को तो ग्रहण कर लेगी, किन्तु जिनके पाशविक लोभ प्रबल है, सामन्तवादी और पूँजीवादी प्रणालीमे जो आवश्यकतासे अधिक अर्थ-प्रवण है, वे अपने स्वार्थको बनाये रखनेके लिए जनताको आत्मजागरूक नहीं होने देगे; फलतः मध्यकालीन सामन्तवादमे जैसे जनता धार्मिक रूढ़ियोमे ही समाप्त हो गयी वैसे ही वर्तमान पूँजीवादमे भी वह गान्धीवादी रूढियो-मे ही विलीन हो जायगी। यहींपर समाजवादकी आवश्यकता है। उसे एक ओर जनताको रूढि-ग्रस्त होनेसे बचाना है, दूसरी ओर सामन्तवाद एव पूँजीवादको पङ्गु बना देना है। उसका काम स्वयंसेवक और सैनिकका है। सामाजिक दायरेमे स्वधर्म और परधर्मके-बीच जो स्थान आर्यसमाजका है, उससे भी बृहत् रूपमे राजनीतिक दायरेमे समाजवादका स्थान धार्मिक रूढ़ियो और राजनीतिक रूढ़ियोके बीचमे होगा—जनता जनार्दन (गान्धीवाद) के लिए।

सौन्दर्य-पक्ष और वेदना-पक्ष

कोई भी जीवन-तत्त्व ऊर्ध्वमूल होकर ही जनताको ऊपर उठाता है। जनता यदि उस ऊँचाई तक नही पहुँच पाती, तो वह उसे केवल प्रणति देकर रूढिवादी हो जाती है। गान्धीवाद भी बहुत ऊँचाईपर है, वहाँ तक पहुँचनेके लिए कुछ सोपान होने चाहिये। छायावाद और समाजवाद वही सोपान हो सकते है।

गान्धीवाद, छायावाद और समाजवाद—ये एक दूसरेके युग-प्रेरक केन्द्र हो सकते हैं। विना किन्हीं अन्य केन्द्रोके भी गान्धीवाद अपनेमे पूर्ण बना रह सकता था, किन्तु मुख्य समस्या सांस्कृतिक होते हुए भी जीवनकी कुछ उप-समस्याएँ भी हैं, क्षुधा-कामके रूपमे; जिनकी

ओरसे गान्धीवाद अनासक्त है। आसक्तिको महत्त्व न देते हुए भी, यदि हमें मनुष्यको ही देवोपम बनाना है तो इसके पूर्व उसे क्षुधा-कामकी पशु-स्थितिसे उबारना आवश्यक है। वैष्णव-काव्यकी अतृप्ति-मूलक जीवन-दृष्टिसे साधक-वर्गको चाहे जो सिद्धि मिली हो, किन्तु विषम सामाजिक व्यवस्थाने जनसाधारणको अभावकी अतृप्ति और सम्पन्नवर्ग को विलासकी परितृप्ति दी, इस तरह लोक-जीवन एक विडम्बनाके सिवा और क्या रह गया? समाजवाद इस यथार्थकी ओर ध्यान दिला रहा है, किन्तु छायावाद वैष्णव-काव्यका नवीन रूपान्तर-मात्र रह गया है। छायावादके युग-द्रष्टा ऋषि रवीन्द्रनाथका ध्यान इस लोक-विडम्बनाकी ओर गया, उन्होंने वैष्णव-काव्यकी आत्मा (साधना) को अपनाकर भी जीवनके आनन्दका गान गाया। उन्होंने कहा—'वैराग्य-साधने मुक्तिसे आमार नय'; उन्होंने जीवनको अनुरागके रससे रूप-रङ्ग और गन्ध दे दिया।

वर्त्तमान छायावादकी कविताकी दो दिशाएँ है—एक अश्रुपूर्ण, दूसरी आनन्द पूर्ण। इन दिशाओंको वेदना और सौन्दर्यकी दिशा भी कह सकते हैं। अश्रुपूर्ण दिशाके कवि समाजवादके साथ नहीं। आनन्द-पूर्ण-दिशाके कवि समाजवादके साथ है, रवीन्द्रनाथ ही नहीं, हिन्दीके सुकुमार शिल्पी पन्त भी। वेदनाके कवि वैष्णव-काव्यकी आत्मा लेकर ही सन्तुष्ट है, सौन्दर्यके कवि उस आत्माको युग-दृष्टि भी देते हैं। अन्यत्र हमने सौन्दर्यको ही कला माना है, किन्तु इसके यह मानी नहीं कि वेदना कला-रहित है। अभिप्राय यह है कि बिना सौन्दर्यके कलाकी सृष्टि नहीं हो सकती, सस्कृतिकी भी नही। सौन्दर्यके बिना संस्कृतिको वह परिष्कृति नहीं मिल सकती जिसके कारण वह विकृतिसे भिन्न हो जाती है। वेदना भी अपनी चित्रकारीमें सौन्दर्यको ही लेकर चलती है, किन्तु उसका लक्ष्य भिन्न हो जाता है जब कि सौन्दर्यका लक्ष्य सौन्दर्य ही रह जाता है—वहाँ

कला (सौन्दर्य) कलाके लिए ही है। हॉ, यह चिन्तनीय है कि छायावादके सौन्दर्यवादी कवि अपेक्षाकृत सम्पन्नवर्गके ही है, किन्तु यही बात छाया-वादके वेदनावादी कवियोके लिए भी कही जा सकती है। जनसाधारण तो न अभी छायावादको जानता है, न समाजवादको; वह थोडा बहुत गान्धीवादको जानता है, अपनी रूढियोके माध्यमसे। उसे तो अभी पूर्णतः जगाना है।

सौन्दर्यवाद और समाजवादकी ओरसे गान्धीवादके प्रति प्रतिक्रिया होना अनिवार्य था। गान्धीवादकी अनासक्तिमे अतीन्द्रियवाद (आत्म-वाद) है, उसका आत्मनियमन सीमातीत है, निराकारके लिए वह विश्व-प्रजननकी बलि देकर उसे भी सृष्टि-शून्य बना देना चाहेगा, वह आध्या-त्मिक प्रलयवादी है।

जीवनकी ललक

विश्वमे आध्यात्मिक प्रलय तो कभी न कभी होना ही है, अन्यथा, यह मल-मूल-मलिन सृष्टि मनुष्यके साथ स्रष्टाके एक वीभत्स मजाकके सिवा और क्या रह जायगी। आध्यात्मिक प्रलय विश्वका आभ्यन्तरिक 'ओवरहॉल' है। छायावादकी आत्मा (साधना) उसे स्वीकार करके भी कहेगी—'शून्य मन्दिरमे बनूँगी आज मै प्रतिमा तुम्हारी।' जहॉ तक पुरुष-पुरातनका प्रश्न है वहॉ तक गान्धीवाद (आध्यात्मिक प्रलयवाद) का पक्ष ठीक है, किन्तु जहॉ सृष्टिकी आद्या-शक्तिका अस्तित्व है वहॉ नारीके कारण ही सृष्टि अपनी सुषमामे प्रकृति भी बन गयी है। उसी प्रकृतिपर मुग्ध होकर सौन्दर्यका कवि जिज्ञासा करता है—

'क्या यह जीवन ?—सागर में जल-भार-मुखर भर देना ?
कुसुमित पुलिनोकी क्रीडा-व्रीडासे तनिक न लेना ?'

सौन्दर्यका कवि भी आध्यात्मिक प्रलयसे परिचित है, फिर भी वह प्रश्नोन्मुख है। उसके प्रश्नके उत्तरमे ही गान्धीवादके सामने समाजवाद है। गान्धीवाद जितना ही लोकातीत है, समाजवाद उतना ही लौकिक है—एक यदि आध्यात्मिक-प्रलय करता है तो दूसरा भौतिक प्रलय। समाजवादकी उपयुक्तता यह है कि वह असीम (गान्धीवाद) तक सीमा (लोक) का स्वर पहुँचा सकता है।

हाँ, गान्धीवाद और समाजवाद दोनो अपने आतिशय्य पर हैं—एक यदि अतीन्द्रियवादी है तो दूसरा अति इन्द्रियवादी। एकमे योग है, दूसरेमे भोग। समाजवादका अति-इन्द्रियवाद उस ऐतिहासिक (आर्थिक) विषमताकी प्रतिक्रिया है जहाँ मनुष्य अपने क्षुधा-काममे नैतिक और राजनीतिक मुहताज हो गया है—वह अप्राकृतिक प्राणी हो गया है, ठीक तरहसे प्राकृतिक जीवन भी नहीं बिता सकता। इतिहास उसमे कितना विवर्ण हो गया है!—मूर्च्छित, लुण्ठित एवं जीवन्मृत प्राणी कराहकर कह रहा है—

'मेरा तन भूखा, मेरा मन भूखा,
मेरी फैली युग-बाँहोंमे
मेरा सारा जीवन भूखा।'

समाजवादने इस पीडित स्वरको सुना है, वह मानवके तन-वदन-की सुध लेनेको बेताब हो गया है। वह बहिरा हो गया है अतीन्द्रिय-वादकी ओरसे, मानो कहता है—पहिले यह, तब फिर कुछ और। वह सत्याग्रही नहीं, तथ्याग्रही है; अति-इन्द्रियवाद द्वारा मानो ऐतिहासिक तथ्यकी तीक्ष्णताको स्पष्ट करता है।

लोकयात्राके युग-चिह्न

गान्धीवाद और समाजवादके बीचमे है छायावाद। वह सेन्द्रिय है, अर्थात् साधनाके पथपर इन्द्रियोके साथ है। उसमे अतीन्द्रियवादकी आराधना और इन्द्रियवादकी कामना है। उसमे योग और भोगका संयोग है। उसे हम सगुणवाद कह सकते हैं। राम-कृष्णके रूपमे पुराकालका सगुणवाद अपने समयका युग-दर्शन (ऐतिहासिक परिचय) भी देता है। सगुणवादमे भारतकी कृषि-सस्कृति और गोप सस्कृतिका अभ्युदय है। पन्तजी-केशब्दोमे—'सभ्यताके इतिहासमे और भी कई युग बदले है और उन्हीके अनुरूप मनुष्यकी आध्यात्मिक धारणा अपने अन्तर और बहिर्जगत्के सम्बन्धमे बदली है।... ..मर्यादा-पुरुषोत्तमके स्वरूपमे, कृषि-जीवनके आचार-विचार, रीति-नीति सम्बन्धी सात्विक चॉदीके तारोसे बुने हुए भारतीय संस्कृतिके वहुमूल्य-पटमे विभवमूर्त्ति कृष्णने सोनेका सुन्दर काम कर उसे रत्नजडित राजसी वेलबूटोसे अलङ्कृत कर दिया। कृष्ण-युगकी नारी भी हमारी विभव-युगकी नारी है। वह 'मनसा-वाचा-कर्मणा जो मेरे मन राम' वाली एकनिष्ठ पत्नी नहीं,—लाख प्रयत्न करने पर भी उसका मन वंशी-ध्वनिपर मुग्ध हो जाता है, वह विह्वल है, उच्छ्वसित है। सामन्त-युगकी नैतिकताके तङ्ग अहातेके भीतर श्रीकृष्णने विभव-युगके नरनारियोके सदाचारमे भी क्रान्ति उपस्थित की है। श्रीकृष्णकी गोपियॉ अभ्युदयके युगमे फिरसे गोप-सस्कृतिका लिवास पहनती दिखाई देती हैं।'

नवीन-सगुणवाद (छायावाद) यदि सजीव है तो वह भी नये आलम्बनो और नये प्रतीकोको लेकर अपने समयका युग-दर्शन दे सकता है। राम-युगमें कृषि-सस्कृति, कृष्ण-युगमे गोप सस्कृतिके बाद वर्तमान-युगमे सर्वहारा-संस्कृति छायावादको शक्ति दे सकती है। यो तो प्रगति-

वाद सर्वहारा-संस्कृतिके लिए प्रयत्नशील है ही, किन्तु सस्कृतिकी सीमा वहीं नहीं समाप्त हो जायगी, उसे वह चेतना भी मान्य होगी जो देश, काल और वर्गसे ऊपर सार्वकालिक और सार्वजनीन है। वह चेतना अतीन्द्रियवाद (गान्धीवाद) मे है। ऐन्द्रिकवाद (समाजवाद) के बाद सेन्द्रियवाद (छायावाद) उस चेतनाको समाजवादी युगकी प्रजा तक पहुँचा सकेगा, क्योंकि कामनाकी दिशामे वह उसीके गोचर-जगत्के भीतरका होकर भी अपनी ही तरह उसे भी ऊपर उठा देगा। छायावाद अपनी ऐन्द्रिक सीमामे एक ओर समाजवादका सहयोगी है, दूसरी ओर अपनी अतीन्द्रिय-सीमामे गान्धीवादका सहचर। अतएव, छायावाद गान्धीवादको समाजवाद (प्रगतिवाद) के लिए सदय कर सकता है, समाजवादको गान्धीवादके लिए। इतिहासके द्वन्द्वमान भौतिक विकासका निष्कर्ष समाजवाद ही हो सकता है, किन्तु प्रगतिकी इति उसीमे नहीं हो जायगी। समाजवादकी स्थापना हो जाने पर भौतिक इतिहासके बाद मनुष्यके मनोविकासका क्रम इस प्रकार चलेगा—(१) समाजवाद (बहिर्गति), (२) छायावाद (बहिरन्तर-गति), (३) गान्धीवाद (अन्तर्गति)। इस विकास-क्रममे अन्तिम प्रगति गान्धीवादमे ही होगी, उसीमे सारी गतियोका विराम है। यह विकास-क्रम राजनीतिक प्रगतिके बाद सांस्कृतिक प्रगतिका सूचक होगा। समाजवाद, छायावाद, गान्धीवाद—ये लोक-यात्राके युग-चिह्न है; इनके द्वारा सूचित होगा कि हम विकासकी किस सीमा तक पहुँच सके है।

प्रगतिवादके प्रतिनिधि—पन्त और यशपाल

तो, गान्धीवाद और समाजवादमे संस्कृति (नीति) और विज्ञान (राजनीति) का अन्तर है। हमारे साहित्यमे प्रगतिवाद (समाजवाद)

के दो प्रकारके रचनाकार हैं—एक विज्ञान और संस्कृतिका समन्वय लेकर चल रहा है, दूसरा केवल विज्ञानको लेकर। काव्य-साहित्यमे पन्त, कथा-साहित्यमे यशपाल प्रगतिवादके प्रतिनिधि-कलाकार है। पन्त समन्वयकी ओर है, यशपाल विज्ञानके अन्वयकी ओर। पन्त समाजवादी हैं, यशपाल मार्क्सवादी (कम्यूनिस्ट)।

यो तो प्रगतिशील दायरेमे हिन्दीके लेखको और कवियोकी एक अच्छी सख्या मौजूद है, किन्तु उनकी रचनाओमे चञ्चलता अधिक है, व्यक्तित्वकी गहराई कम; उनके मनन-चिन्तनमे उत्तरदायित्वका अभाव जान पड़ता है। उन जैसोके कारण ही *प्रगतिशील-साहित्य अश्लीलताके* लिए बदनाम है।

डाक्टर रामविलासने सर्वदानन्दकी समीक्षा करते हुए लिखा है—'यह स्पष्टरूपसे कहनेकी आवश्यकता है कि वासनाके दमनके कारण या उसकी स्वाभाविक अभिव्यक्तिके अभावके कारण किसी तरहके असन्तोषको लेकर जिस साहित्यकी सृष्टि होती है, वह प्रगतिशील नहीं है।' कम-बेश यही बात अञ्चल और नरेन्द्रकी रचनाओके लिए भी कही जा सकती है। अपने ही शब्दोमे ये दोनो कवि क्षय-ग्रस्त है। केवल प्रगतिवादसे ये कवि क्षय-मुक्त नहीं हो सकेंगे, इन्हे संस्कृति भी चाहिये।

प्रगतिवादके प्रगल्भ कवि साहित्यमे जिस तेजीसे प्रगतिशील है उसे देखते यशपालके एक यात्रा-वर्णन ('सेवाग्रामके दर्शन') का यह मनो-रञ्जक अंश सामने आ जाता है—

'धूपकी गर्मीका प्रभाव श्री देशपाण्डेके सूक्ष्म शरीरपर भी पड़ रहा था। वे गाड़ी (मोटर) की रफ्तार बढाते जाते थे। ४० से ४५, ४५ से ५०, और आगे भी। भय था, हलके शरीरकी गाडी कहीं कलाबाजी न खा जाय। हिंसाकी सम्भावनाकी ओर ध्यान दिला उन्हे

रफ्तार कम करनेके लिए कहा। उत्तर मिला— स्पीडसे उन्हें कुछ इमोशनल अटैचमेण्ट है—(प्रगतिसे कुछ भावानुरक्ति है)—इसीलिए गान्धीवाद, जो समाजको पीछेकी ओर खींच रहा है, उन्हे सहन नहीं हो सकता। उन्हे समझाया—'गान्धीवाद अपनेको भी मजूर नहीं, परन्तु उसका विरोध करनेके लिए गाडी उलटकर प्राण दे देनेके त्यागकी भावना भी स्वीकार नहीं।'—इन सवादोमे है तो गान्धीवादके प्रति विद्रूप, किन्तु प्रगतिवादके लिए एक सजेशन भी मिलता है, वह यह कि 'इमोशनल अटैचमेण्ट'के कारण प्रगतिवाद कहीं राजनीतिक आत्महत्या न कर ले। जीवनको प्रगतिशीलता ही नहीं, कुछ गतिधीरता भी चाहिये; यही सस्कृतिका तकाजा है।

इस समय प्रगतिकी स्पीडमे जो तेजीसे दौड रहे हैं वे समयके प्रवाह-मे हवाके रुखकी तरह है, स्थितप्रज्ञ दिग्दर्शककी भाँति नहीं। पन्त और यशपाल प्रगतिवादके दिग्दर्शक-प्रतिनिधि हैं। वे केवल एक विचारधारा-का ही नहीं, बल्कि साहित्यके कलात्मक शिल्पका भी गम्भीर प्रतिनिधित्व करते है। यशपालजीने उपन्यास साहित्यको तथा पन्तजीने काव्य-साहित्यका जीवन और कलाका अन्तर्राष्ट्रीय धरातल दिया है।

यशपाल और पन्तमे अन्तर यह है कि यशपाल मार्क्सवादको उसके आमूल वैज्ञानिक रूपमे ही ग्रहण करते है, पन्त मार्क्सवादके साथ अन्त-र्दर्शनको मिलाकर उसे सूक्ष्मका गोचर प्रतीक बना देते हैं—

'अन्तर्मुख अद्वैत पडा था
युग-युगसे निष्क्रिय, निष्प्राण ;
जगमें उसे प्रतिष्ठित करने
दिया साम्यने वस्तु-विधान।'

इस प्रकार पन्तके लिए मार्क्सवादमे अद्वैतके मनोलोकका मनोहर कर्मलोक है। पन्तके चिन्तनमे प्रतीक और प्रतीयमान है ; यशपालके भौतिक दर्शनमे न प्रतीक है न प्रतीयमान, है केवल वस्तु-विधान। अन्तर्दर्शनके कारण पन्तमे एक हार्दिक कोमलता है, अतएव, वे अपने विचारोमे शान्तमुख है; बहिर्दर्शनके कारण यशपालमे एक ऐतिहासिक तीक्ष्णता है, अतएव वे अपने विचारोमे क्रान्तमुख है। पन्त काव्यकी ओर है, यशपाल काम्यकी ओर। मार्क्सवादके रूपमे पन्त काम्यको काव्यका सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् देना चाहते हैं सस्कृतिकी स्थापना करके; यशपाल काम्यको विज्ञानका वरदान देना चाहते है राजनीतिकी स्थापना करके। शुरूसे ही एक कवि है, दूसरा क्रान्तिकारी ; फलतः एकमे आदर्शोन्मुख समाजवाद है, दूसरेमे यथार्थोन्मुख समाजवाद।

कवि होनेके कारण पन्त जीवनके प्रयोगोमे मुक्त-हृदय है, क्रान्तिकारी होनेके कारण यशपाल नियम-बद्ध। अपने प्रयोगोमे मुक्त होनेके कारण पन्त जीवन-दर्शनकी प्राचीन और नवीन परम्पराओसे भी आंशिक मुक्ति ले लेते है। वे कहते है—'मै अध्यात्म और भौतिक, दोनों दर्शनोके सिद्धान्तोसे प्रभावित हुआ हूँ। पर, भारतीय दर्शनकी—सामन्तकालीन परिस्थितियोके कारण—जो एकान्त-परिणति व्यक्तिकी प्राकृतिक मुक्तिमे हुई है (दृश्यजगत् एवं ऐहिक जीवनके माया होनेके कारण उसके प्रति विराग आदिकी भावना जिसके उपसंहार-मात्र है), और मार्क्सके दर्शनकी—पूँजीवादी परिस्थितियोंके कारण—जो वर्गयुद्ध और रक्तक्रान्तिमे परिणति हुई है, ये दोनो परिणाम मुझे सास्कृतिक दृष्टिसे उपयोगी नहीं जान पड़े।' इस कथन-द्वारा पन्त अध्यात्मवादके भीतरसे सामन्तकालीन व्यक्तिवादको निकालकर उसे समाजवादकी ओर प्रेरित करते है और मार्क्सवादके भीतरसे हिंसावादको निकालकर उसे

अध्यात्मवादकी ओर। यो कहे कि, पन्त वैज्ञानिक-गान्धीवाद अथवा आध्यात्मिक-मार्क्सवाद चाहते है। अध्यात्म लेकर मार्क्सवाद वैज्ञानिक-गान्धीवाद हो जायगा और विज्ञान लेकर गान्धीवाद आध्यात्मिक-मार्क्सवाद हो जायगा। दोनो 'वादो'के स्वस्थ सामूहिक तत्त्वोके समन्वयमे पन्तके जीवन-दर्शनको मनोवाञ्छित पूर्णता मिलती है। समन्वयपूर्ण जीवन-दर्शन पन्तकी नवीन काव्य-प्रगतिकी यूटोपिया है। वह युग अभी आगे है। दार्शनिक निष्क्रियताके मध्ययुग और वैज्ञानिक क्रियाशीलताके वर्त्तमान सङ्घर्ष-युगके समाप्त होने पर कविका मनोकल्पित युग प्रत्यक्ष होगा। पन्तका कवि उसी युगमे बैठकर कहता है—

> दर्शन-युगका अन्त, अन्त विज्ञानोंका सङ्घर्षण;
> अब दर्शन-विज्ञान सत्यका करता नव्य निरूपण।

इस प्रकार पन्त वर्त्तमानसे अधिक भावीके कवि हैं। अपने समन्वय (दर्शन-विज्ञान) मे वे मानो छायावादका नवीन सगुण-चित्र ऑक रहे है।

सांस्कृतिक और राजनीतिक विभेद रखते हुए भी पन्त और यशपाल दोनो ही वैज्ञानिक द्रष्टा हैं; अन्तर यह कि यशपालके दृष्टिकोणमे जीव-विज्ञान है, पन्तके दृष्टिकोणमे जीवन-विज्ञान। यशपालका दृष्टिकोण बहिर्द्वन्द्वोपर ही आरोपित होनेके कारण वे गान्धीवादके प्रति समीक्षा-पूर्ण हैं, पन्तके दृष्टिकोणमे अन्तर्द्वन्द्व भी सम्मिलित होनेके कारण वे गान्धीवादके प्रति सहानुभूतिपूर्ण है।

यशपाल अपनी मार्क्सवादी व्याख्याओमे क्रान्तिकारी होते हुए भी अपनी कथा-कृतियोंमें एक कोमल-कवि-हृदय छिपाये हुए हैं। हम कह सकते है कि मार्क्सवाद उनके बहिर्मनमे है; भाववाद उनके अन्त-

मनमे। क्रान्तिकारी न होनेके कारण पन्त अपने अन्तर्मनके प्रति निर्मम नहीं हो सके, जब कि यशपाल निर्मम हो गये। किन्तु कभी न कभी यशपालका अन्तर्मन उनके बहिर्मनको भी कोमल-कलित कर देगा। प्रगतिवादमे 'इमोशनल अटैचमेण्ट' को नापसन्द करना सूचित करता है कि उनमे वह गम्भीरता है जो उन्हे गान्धीवाद (गतिधीरता) के प्रति सहिष्णु बना देगी।

अपने अन्तर्मनमे पन्त और यशपाल, दोनो कलाकार है। कलाकार होनेके कारण वे भविष्यके स्वप्नदर्शी भी हैं, वर्त्तमान सङ्घर्ष-युग उनके लिए केवल दृश्यपट है। पन्तने अपनी 'पॉच कहानियॉ' मे और यशपाल-ने अपनी 'वो दुनिया' मे भावी समाजका आभास दिया है। यशपालने अपनी पुस्तकोका समर्पण अपने स्वप्नोको ही किया है, यथा 'देश-द्रोही', 'कल्पनाके चॉद' को।

कवि होनेके कारण पन्तजी व्यक्तिके स्वगत-क्षणोके अस्तित्वसे भी सुपरिचित है। स्वगत-क्षणोसे ही भाव-जगत्की सृष्टि होती है। व्यक्तिकी उपयोगिता समूहके लिए है, भावकी उपयोगिता व्यक्तिके लिए। व्यक्ति-वादके विरोधी होते हुए भी पन्तकी काव्योचित-सहानुभूति व्यक्तिकी इस भावात्मक-वैयक्तिकता (जीवनके कलात्मक पहलू)को भुला नहीं सकी। उसे ध्यानमे रखते हुए वे कहते है—'इसमे सन्देह नहीं कि मनुष्यका सामू-हिक व्यक्तित्व उसके वैयक्तिक जीवनके सत्यकी सम्पूर्ण अगोमे पूर्त्ति नहीं करता। उसके व्यक्तिगत सुख-दुःख, नैराश्य, विछोह, आदिकी भावनाओं तथा उसके स्वभाव और रुचिके वैचित्र्य, उसकी गुण-विशेषता, प्रतिभा आदि-का किसी भी सामाजिक जीवनके भीतर अपना पृथक् और विशिष्ट स्थान रहेगा। किन्तु इसमे भी सन्देह नहीं कि एक विकसित सामाजिक प्रथा-का, परस्परके सौहार्द और सद्भावनाकी वृद्धिके कारण, व्यक्तिके निजी

सुख-दुःखोपर भी अनुकूल ही प्रभाव पड सकता है। और उसकी प्रतिभा एव विशिष्टताके विकासके लिए उसमे कहीं अधिक सुविधाएँ मिल सकती है।'

हाँ, जहाँ तक साधनका प्रश्न है वहाँ तक सुविधाएँ अवश्य मिल सकती है, किन्तु साधनकी सुविधाओका उपयोग शासन अपने अनुरूप करा सकता है; जैसे सामन्तवादी युगमे। और अभी कल तक सोवियट रूसमे भी कलापर शासनका नियन्त्रण था जिससे मुक्ति मिली गोर्कीके प्रयत्नसे। भारतीय दर्शनमे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य समूहके अङ्ग-भङ्गके लिए नही, बल्कि व्यक्तिके आत्मप्रस्फुटनके लिए उसका जन्मसिद्ध-अधिकार रहा है। सामन्तवादी युगमे व्यक्ति और समाजका चाहे जो दुरुपयोग हुआ हो, किन्तु समाजवादी युगमे समाजकी तरह व्यक्तिकी स्वगत-स्थितिपर भी प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिये। अन्यथा, सामन्तयुगकी तरह समाजवादी युगमें भी एक ऐतिहासिक 'मानोटोनी' आ जायगी। अतएव, प्रत्येक युगमे कला और कलाकारोको कुछ कन्सेशन मिलना ही चाहिये, क्योकि कलाकार राजनीतिक प्रजा ही नहीं, सामाजिक स्रष्टा भी है।

महादेवीके विचार

प्रगतिवादमे पन्तजी जिस समन्वय (दर्शन-विज्ञान) की ओर हैं, छायावाद-शैलीकी अद्यावधि प्रतिनिधि-कवि श्री महादेवी वर्मा भी उस समन्वयकी ओर है। पन्तने अपनी विचार-धारा 'युगवाणी' द्वारा दी है, महादेवीने अपनी विचार-धारा अपने विविध लेखो और भूमिकाओ द्वारा। पन्तका समन्वय विज्ञान-प्रधान है, महादेवीका समन्वय अध्यात्म-प्रधान। आजके विविध वादोके समूहमे महादेवीका समन्वय अपने

'सर्ववाद' द्वारा जीवनका आन्तरिक स्वरैक्य लेकर चला है, पन्तका समन्वय अपने साम्यवाद द्वारा 'व्यावहारिक अद्वैत । एक जीवनके मूलकी ओर है, दूसरा उसके मूल्यकी ओर। एकमे जीवनकी चिरकालिक परिणति है, दूसरेमे तात्कालिक (ऐतिहासिक) परिणति । किन्तु एक ओर यदि पन्त विज्ञानके लिए दर्शनकी उपेक्षा नही करते तो दूसरी ओर महादेवी अध्यात्मके लिए विज्ञानकी भी उपेक्षा नहीं करतीं । कहती है—'स्थूलकी अतल गहराईका अनुभव करनेवाला देहात्मवादी मार्क्स भी अकेला ही है और अध्यात्मकी स्थूलगत व्यापकताकी अनुभूति रखनेवाला अध्यात्मवादी गान्धी भी । ·········'परन्तु हम हृदयसे जानते है कि अध्यात्मके सूक्ष्म और विज्ञानके स्थूलका समन्वय जीवनको स्वस्थ और सुन्दर बनानेमें भी प्रयुक्त हो सकता है ।'

समन्वयके लिए जिस मनोभूमिकी आवश्यकता है उसके सम्बन्धमे महादेवीका कहना है—'पिछले युगकी कविता अपनी ऐश्वर्यराशिमे निश्चल है और आजकी, प्रतिक्रियात्मक विरोधमे गतिवती। समयका प्रवाह जब इस प्रतिक्रियाको स्निग्ध और विरोधको कोमल बना देगा तब हम इनका उचित समन्वय कर सकेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है ।'

पन्त और महादेवी दोनोका ही प्रारम्भ एक विशेष सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमिको लेकर हुआ था, अतएव, इस सङ्घर्षकालीन युगकी वैज्ञानिक वास्तविकताको अङ्गीकार करते हुए भी उनके समन्वयमे विज्ञानका स्थूल सत्य ही नही, ज्ञानका सूक्ष्म सत्य भी है । अन्तर यह कि पन्तमें दार्शनिकता है, महादेवीमे रहस्यवादिता। अन्ततः दोनो जीवनकी सात्विकताकी ओर है, तामसिकता (हिंसा) उन्हे अभिप्रेत नहीं ।

प्रगतिवादके नामपर जिस कुत्सित यथार्थको जीवनका सत्य कहकर उद्घोषित किया जाता है, महादेवीने लेनिनके उदात्त उद्गारोंके

सङ्केतसे उसका परिहार कर प्रगतिवादका परिमार्जित दृष्टिकोण उपस्थित किया है।

महादेवीके समन्वयका आधार सृजनात्मक है। इसीलिए प्रगतिवादसे भी सृजनात्मक अंश ही लेकर उन्होने उसे अध्यात्मसे सिञ्चित कर दिया है। वे सृजन-सिञ्चनकी ओर है, अतएव चाहती है कि ध्वसके आवेशमे सृजनका मूलोच्छेदन न हो जाय। वे प्रतिक्रियाकी ओर नहीं, जीवनकी प्रक्रियाकी ओर हैं। प्रतिक्रियामे क्रान्तिका आधार 'जड़ भौतिक' रहता है, प्रक्रियामे आभ्यन्तरिक या मौलिक। इसीलिए प्रति-क्रियाको लेकर चलने पर 'नींव-शेष ताजमहल गिरकर खँडहर मात्र रह जायगा', किन्तु जीवनकी प्रक्रिया द्वारा 'टूटा हुआ पर मूल शेष वृक्ष असख्य शाखा-उपशाखाओमे लहलहा उठेगा।' महादेवीका अभिप्राय यह है कि केवल शान्तिके मूलमे ही नहीं, बल्कि क्रान्तिके मूलमे भी चेतनकी उर्वरता होनी चाहिये, तभी वह विकासोन्मुख होगी, अन्यथा ध्वसोन्मुख ही रह जायगी। वे जीवनकी मूल नीतिकी ओर है।

छायावादी दृष्टिकोण

पावसमे 'पहलगाम' (काश्मीर) का प्रवास । सैलानी नही, यात्री हूँ । यूनिवर्सिटीका स्टुडेण्ट नहीं, 'विश्व'-विद्यालयका जिज्ञासु हूँ । मेरे लिए यहाँ भी एक जीवित पाठ्यक्रम है, स्वभावतः मै यहाँ भी चला आया, उस निःसम्बल छात्रकी तरह जो न तो शुल्क दे सकता है, न अपने अशन-वसनकी सुविधा जुटा सकता है । फिर भी मै प्रकृति और संस्कृतिका छात्र हूँ, छात्र छत्रप न होते हुए भी अपने मनोरथपर आरूढ हो ही जाता है ।

इधर-उधर फुदककर इस समय जब मै अपने बसेरेमे बैठा हुआ चतुर्दिक् प्रकृतिकी झलक-पलक ले रहा हूँ तो देखता हूँ—ऊपर तारोसे जटित आकाश, नीचे शस्य-श्यामला पृथ्वी, दाहिने-बाएँ पर्वतमालाओका प्राचीर, नीचे अहरह गुञ्जित निर्झरिणी ।

किन्तु मै प्रकृतिका ही नहीं, सस्कृतिका भी उपासक हूँ । प्रकृतिकी छावनीमे प्लेगके कीटाणुओंकी तरह ये मैले-कुचैले मानव-प्राणी, और उन्हींकी तरह फूहड ये घर (कुघर) आकर्षणमे विकर्षण और सौन्दर्यमे वीभत्सताकी जुगुप्सा ला देते हैं । काश्मीरकी भी क्या विचित्र सस्थिति है—प्रकृतिका रम्य लोक, दरिद्र मानव-समाज, म्लेच्छताका प्रसार, और भगवानका तीर्थ धाम (अमरनाथ), सब मिलकर काश्मीरको श्री, विश्री और ऋद्धि-सिद्धिका विचित्र संयोग बना देते हैं ।

न जाने कबसे सुनता रहा हूँ, काश्मीर भू-स्वर्ग है । देखने पर ज्ञात हुआ, निःसन्देह काश्मीर प्राकृतिक सुषमाका स्वर्ग है—हिमाच्छा-

दित पर्वत-शृङ्ग, हरी भरी वृक्षावलियाँ, द्रवित चाँदनीकी तरह उछलते हुए झरने, ये सभी मानो वहाँ स्वर्गका अभिषेक करते हैं—'प्रकृति यहाँ एकान्त बैठि निज छटा सँवारत ;' किन्तु—'भव अभावसे जर्ज्जर, प्रकृति उसे देगी सुख ?'

वैभव-विलास और भाव-विलास

कारमीरको देखकर अनुभव यह हुआ कि प्रकृतिने तो भूगोलसे वरदान पा लिया, बेचारा मनुष्य इतिहाससे वरदान नहीं पा सका। ग्राम्य पथपर दोनो ओर धानके लहराते खेतोमे मिट्टी और कीचड़से सने कृषि-जीवियोको देखकर उनके जीवनमे कोई नवीनता नही मिली, इस भूस्वर्गके श्रमिक निवासियोको इतिहासने वैसा ही मलिन-पङ्किल और अकिञ्चन बना दिया है जैसा वहाँके श्रमजीवियोको जहाँ प्रकृतिका स्वर्ग नहीं है। ऐतिहासिक निष्कर्षकी उपेक्षा कर जिस प्रकार एक ओर समाजमे हम वैभव-विलास करते आये हैं, उसी प्रकार दूसरी ओर साहित्यमे भाव-विलास। समाजवाद वैभव-विलासके प्रतिरोधमे उठ खड़ा हुआ, प्रगतिवाद भाव-विलासके प्रतिरोधमे। वैभव और भाव दोनो अपने अपने स्थानपर ठीक है, किन्तु उनका विलास बन जाना विडम्बनाका कारण हो गया—वैभव-विलासके कारण दारिद्र्यका, भाव-विलासके कारण अभावका परिचय मिला। ऐश्वर्य और सौन्दर्यके छद्मवेशमे छिपे हुए इतिहासको नग्न कर प्रगतिशील-युगने उसके राजनीति-शुष्क कलेवरका पोस्टमार्टम शुरू कर दिया। परिणाम-स्वरूप हम यह जानने लगे है कि हमारा सामाजिक और साहित्यिक सस्कार इतिहासके दोषोसे दूषित है, उसने हमे खुदगरज बना दिया है—हम जीते और गाते है अपने लिए, तुलसीकी तरह स्वान्तःसुखाय

अथवा अन्तःकरणके परिमार्जनके लिए नही, बल्कि आत्मलिप्साकी तृप्तिके लिए ।

हमारी यही आत्मलिप्सा काश्मीरको भी भू-स्वर्ग कहती है। इस दृष्टिसे तो जहाँ कही हमारी आत्मलिप्साका क्षेत्र मिलेगा, वही स्वर्ग बिछा मिलेगा।

इतिहासकी इस सङ्कीर्ण मनोवृत्ति (आत्मलिप्सा) के विरुद्ध जब समाजवाद एव प्रगतिवादने विद्रोह किया, तब समाजकी ओरसे गान्धी-वाद और साहित्यकी ओरसे छायावादने उधर ध्यान दिया। विलासको हटाकर गान्धीवादने वैभवकी और छायावादने भावकी सार्थ-कता दिखलायी। वैभव और भाव ये तो जीवनके स्थूल और सूक्ष्म साधन मात्र हैं ; ये विलास-मूलक भी हो सकते है और विकास मूलक भी। साधन-रूपमे वैभव और भाव (स्थूल और सूक्ष्म) समाजवाद अथवा प्रगतिवादको भी अभीष्ट हो सकते है, किन्तु उसका मतभेद ऐतिहासिक है, उसका सङ्घर्ष उस विपमतासे है जिसके द्वारा निर्धनता और अभावका जन्म होता है। निर्धनता और अभावका अस्तित्व ही वैभव और भावकी सदोषता (विलासिता) सूचित करता है।

आज छायावाद और प्रगतिवादमे वही अन्तर पड गया है जो 'हिम-हास' और 'ग्राम्या'में। 'हिम-हास'की रचना काश्मीरके भू-स्वर्गमे हुई है, 'ग्राम्या'की रचना कालाकॉकरके ग्रामीण जीवनमे। 'हिम-हास'की रचना काश्मीर गये बिना भी हो सकती थी, किन्तु 'ग्राम्या'की रचना जन-जीवनके सम्पर्कके बिना नहीं हो सकती थी। यदि 'हिम-हास'का लेखक काश्मीरको पर्वत-प्रदेश ही नहीं, मानव-प्रदेश भी समझता तो वह अपने भावोमे इतना आत्मसेवी न होता। उसे भी तो एक दिन कहना पडा था—

'मेरे दुखमें प्रकृति न देती मेरा क्षण भर साथ
उठा शून्यमे रह जाता है मेरा भिक्षुक हाथ।'

छायावाद और प्रगतिवाद

तो, साहित्यमे छायावाद और प्रगतिवादका अन्तर कलात्मक रेखाओका ही नहीं, बल्कि ऐतिहासिक सीमाओका भी है। इस समय युग-विपर्यय हो रहा है। ऐतिहासिक कारण-वश जिस प्रकार द्विवेदी-युगमे व्रजभाषाकी रसिकताके बावजूद खडीबोलीकी राष्ट्रीय रचनाओकी आवश्यकता आ पडी उसी प्रकार छायावादके बाद प्रगतिवादकी आवश्यकता भी आ गयी। राष्ट्रीयकाव्य कवियोको व्रजभाषाकी ऐन्द्रिक सीमासे देशकी सीमामे उठा ले गया। इस प्रकार राष्ट्रीय-युगमे जीवनकी बाह्य-सीमा कुछ कुछ बदली, किन्तु भीतरी सीमा सङ्कीर्ण ही बनी रही—हमारे दैनिक सुख-दुःख वैयक्तिक हो बने रहे। मध्ययुगसे राष्ट्रीययुगमे आकर भी हमारा सामाजिक दृष्टिकोण व्यक्तिवादी (मध्ययुगीन) ही बना रहा। छायावादके हर्ष-विषादमे भी इतिहास व्यक्तिवादी ही है। इसके बाद, प्रगतिवाद जीवनकी अन्तर्बाह्य दोनो ही सीमाओको विश्व-परिधिमें खींच ले गया—राष्ट्रको अन्तर्राष्ट्रमे, व्यक्तिवादको समाजवादमे।

आज छायावाद और प्रगतिवादमें उसी तरह मतभेद आ गया है जिस तरह किसी दिन व्रजभाषा-काव्य और खडीबोली-काव्यमे मतभेद उत्पन्न हो गया था। व्रजभाषा-काव्यका खडीबोलीसे विरोध कलाकी दृष्टिसे था, खडीबोलीका व्रजभाषासे विरोध जीवनकी दृष्टिसे था। कलाकी दृष्टिसे व्रजभाषा खडीबोलीको खुरदुरी समझती थी और जीवनकी दृष्टिसे खडीबोली व्रजभाषाको स्त्रैण। किन्तु काल-क्रमसे राष्ट्रीय-काव्यने खडीबोलीको ओज और छायावादने माधुर्य देकर उसे सुन्दर सशक्त बना दिया।

आज ब्रजभाषा और खडीबोलीका मतभेद बहुत पीछे छूट गया हैं। अब कला और जीवनकी दृष्टिसे छायावाद और प्रगतिवादका मतभेद साहित्यिक गति-विधिका फिर नया प्रश्न बन गया है।

एक दिन ब्रजभाषाका खडीबोलीपर कलाहीनता (शुष्कता) का जो आरोप था आज वही आरोप छायावादका प्रगतिवादपर है। कला-पक्षमे छायावादका प्रगतिवादसे मतभेद भाषा और भावको लेकर है। निःसन्देह प्रगतिवाद 'भाव'को नही, 'अभाव'को लेकर चला है, फलतः वह भावुक नही, विचारक है। विचार-प्रधान भाषा कवित्व-हीन 'गद्य' बन ही जाती है।

गद्य-युग अथवा विचारक-युग भविष्यके जीवन और साहित्यके लिए स्थापत्यका काम करता है। अपने समयमे द्विवेदी-युगने भी साहित्यको एक स्थापत्य दिया था, आज प्रगतिवाद अपना स्थापत्य दे रहा है। स्थापत्यका प्रयत्न सफल हो जाने पर जीवन और साहित्यमे तदनुकूल ललित कला फिर आ जाती है; जैसे द्विवेदी-युगके गद्यके बाद छायावाद आया वैसे ही प्रगतिवादके स्थापित (सुस्थिर) हो जाने पर फिर कोई ललितवाद आ सकता है। अभी तो यह युग अपने 'क्रूड फार्म' मे चल रहा है, अर्थात् जीवनमे मूर्त्त होनेके पूर्व विचारोमे सङ्क्रमण कर रहा है। पन्तजीके शब्दोमे—'जिस युगमे विचार (आइडिया)का स्वरूप परिपक्व और स्पष्ट हो जाता है उस युगमे कलाका अधिक प्रयोग किया जा सकता है। उन्नीसवीं सदीमे कलाका कलाके लिए भी प्रयोग होने लगा था, वह साहित्यमे विचार-क्रान्तिका युग नही था। किन्तु क्या चित्र-कलामे, क्या साहित्यमे, इस युगके कलाकार केवल नवीन टेकनीकोंका प्रयोग मात्र कर रहे है, जिनका उपयोग भविष्यमे अधिक सङ्गति-पूर्ण ढङ्गसे किया जा सकेगा।'

इस प्रकार प्रगतिवादके मानस-पटलपर जीवनका ही नहीं, कलाका भी अस्तित्व है। प्रगतिवादकी परिधिमे राजनीतिके बजाय साहित्यके माध्यमसे आनेके कारण पन्तजी इस विचार-क्रान्तिके युगमे भी अभिव्यक्तियोको कलाका कन्सेशन देते है। उनके शब्द—'मै स्वीकार करता हूँ कि इस विश्लेषण-युगके अशान्त, सन्दिग्ध, पराजित एव असिद्ध कलाकारको विचारो और भावनाओकी अभिव्यक्तिके अनुकूल कलाका यथोचित एव यथासम्भव प्रयोग करना चाहिये। अपनी युग परिस्थितियो-से प्रभावित होकर मै साहित्यमे उपयोगितावादको ही प्रमुख स्थान देता हूँ। लेकिन सोनेको सुगन्धित करनेकी चेष्टा स्वप्नकारको अवश्य करनी चाहिये।'—यही चेष्टा पन्तने भी 'युगवाणी' के बाद 'ग्राम्या' मे की है। 'ग्राम्या' मे प्रगतिवादकी ठेठ कला है। उसकी भूमिकामे पन्तजीने अपनी जिस बौद्धिक सहानुभूतिका निर्देश किया है उसका यह अभिप्राय नहीं है कि 'ग्राम्या' की चित्रकला भी बौद्धिक है। पन्तने ग्राम-जीवनको तो देखा है किन्तु स्वय ग्रामीण नहीं हो गये हैं, क्योकि उनका अभीष्ट वह जीवन नहीं है। क्या उस प्रकारका जीवन किसीको भी वाञ्छनीय हो सकता है? जिसे हम हृदयसे अङ्गीकार नहीं कर सकते उसके प्रति सहानुभूति बौद्धिक ही हो सकती है। सहानुभूति बौद्धिक होते हुए भी 'ग्राम्या' के चित्रणमे कलाकी आन्तरिकता (गहराई) है।

कला-पक्षके बाद, जीवन-पक्षमे छायावादका प्रगतिवादसे मतभेद नैतिक है। द्विवेदी-युगमे खडीबोलीकी ओरसे व्रजभाषाकी रसिकतापर असयमका आरोप किया गया था, आज यही आरोप छायावाद प्रगतिवादपर कर रहा है। दूसरी ओर जीवनकी दृष्टिसे ही प्रगतिवादका छायावादसे मतभेद राजनीतिक है। वह छायावादपर वही आरोप कर रहा है जो द्विवेदी-युगकी खड़ी-बोलीने व्रजभाषापर किया था,—अर्थात् उसमे निष्क्रियता है।

तो, हमारे सामने है छायावादका नैतिक मतभेद और प्रगतिवादका राजनीतिक मतभेद। एक आदर्शवादकी ओर है, दूसरा यथार्थवादकी ओर। असलमे यह मतभेद दो भिन्न युगो (मध्ययुग और प्रगतिशील युग) के समाज अथवा इतिहासका द्वन्द्व है।

वातावरण

जिस मध्ययुगमे व्रजभाषा थी उसी युगमे छायावाद भी है—व्रजभाषाके समयमे यदि सामन्तवादी सामाजिक वातावरण था तो छायावाद-कालमे पूँजीवादी सामाजिक वातावरण। दोनोमे अन्तर केवल अतीत और वर्त्तमान साम्राज्यवादका है। मूलतः दोनोकी विषम सामाजिक व्यवस्था एक-सी है। इस व्यवस्थाके वर्त्तमान रहते केवल आदर्शका आदेश देकर ही व्यक्तियोको सयमित नही बनाया जा सकता। फलतः, मध्ययुगमे सन्तोकी वाणी गूँजते हुए भी व्रजभाषामे शृङ्गारकी रसिकता फूट पडी, और आज छायावादका स्वर मुखरित होते हुए भी यथार्थवादकी नग्नता अगोचर नहीं रही। दोना युगोकी परिणतियाँ एक-सी ही हुईं—अन्तर यह रहा कि व्रजभाषाके शृङ्गार काव्यमे जो कुछ भावात्मक था वह अब अभावात्मक हो गया; जीवनका जो दैन्य पहिले कलासे ढँका हुआ था वह अब उघर रहा है। आज छायावाद जब कि प्रगतिवादको संयमका निर्देश करता है तब वह भी मानो व्रजभाषाकी तरह कलासे ही अभाव-को ढँक देना चाहता है। असयमके बुनियादी कारणोको हृदयङ्गम करनेमे वह असमर्थ है, क्योकि उसका नैतिक दृष्टिकोण रूढिगत है, ऐतिहासिक (राजनीतिक) नही। इस प्रकार व्रजभाषासे लेकर छायावादतक केवल कला ही नवीन होती गयी है, जीवन वही मध्ययुगीन है, सामन्तकालीन। इस दृष्टिसे देखने पर पन्तका यह कथन ठीक जान पड़ता है कि 'इस युगके कलाकार केवल नवीन टेकनीकोका प्रयोग मात्र कर रहे है।'

हाँ, प्रगतिवाद भी अभी जीवनको नये रूपमे पा नहीं सका है, उसके वातावरणमे भी समाज अभी मध्ययुगका ही है। फिर भी नवीनता यह है कि उसमे पिछले जीवनकी प्रतिक्रिया और नये जीवनकी चेतना आ गयी है। फलतः उसके चिन्तन और आलम्बनका क्षेत्र बदल गया है, इसी कारण उसकी कलाके उपकरण भी बदल गये है। कलाकी दृष्टिसे उसका न तो विकास हुआ है, न ह्रास हुआ है, क्योकि उसके लिए तो अभी मनोभूमि बनायी जा रही है; मनोभूमि प्रस्तुत हो जाने पर युगाविर्भावके रूपमे नये जीवन और नयी कलाका बीजारोपण होगा। इस प्रकार प्रगतिवादका निर्माण भावीके अन्तर्गर्भमे है। अभी तो प्रगतिवादको वे ही प्रेरित कर रहे है जो कलतक छायावादमे थे। आनेवाले युगमे प्रगतिवादको सर्वथा उसीके अनुरूप रूप रङ्ग वे देगे जो उस युगकी प्रजा होकर उत्पन्न होगे।

प्रवृत्ति और निवृत्ति

सम्प्रति छायावाद और प्रगतिवाद, दोनोमे जीवन वेदना-प्रधान है। यह वेदना अतृप्तिकी है। छायावादकी अतृप्तिमे आध्यात्मिक वेदना है, प्रगतिवादकी अतृप्तिमे भौतिक वेदना। यो कहे, छायावादकी अतृप्ति निवृत्तिकी ओर है, प्रगतिवादकी अतृप्ति प्रवृत्तिकी ओर।

छायावादकी निवृत्तिमे उस युगका मनोविकास है जिस युगमे जीवनका उपभोग महार्घतामे नहीं पड़ गया था, उस समय वस्तुलोक धन-धान्यसे पूर्ण था। तब आयात-निर्यात अपनी ही भौगोलिक सीमामे परिमित होनेके कारण, प्रवृत्तियोको शान्त कर निवृत्तिकी ओर उन्मुख होना सम्भव था। कौमार्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास, जीवनकी इतनी अवस्थाओकी निष्पत्ति थी—निवृत्ति। काल-क्रमसे जब जीवनका

यह आश्रमिक ढाँचा अतीतका कथा-चित्र मात्र रह गया तब पौराणिक युगोकी भाँति ऐतिहासिक युगोमे भी वह जीवनका रूढ आदर्श बना रहा, यद्यपि ऐतिहासिक परिस्थितियाँ उसके अनुकूल नही थी। फिर भी मध्ययुगो तक वह रूढ़ आदर्श इतिहासका सम्बन्ध अतीतसे बनाये रहा, क्योकि तब भी देश अपनेमे ही सीमित था। किन्तु आज जब कि ससारकी भौगोलिक सीमाएँ अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्रके कारण एक दूसरेसे आ मिली तब निवृत्तिकी बात तो दूर, प्रवृत्ति भी विशृङ्खल एव अव्यवस्थित हो गयी है। आज-जब कि गार्हस्थ्य ही सङ्कटमे पड गया है तब वानप्रस्थ और सन्यास वैसे ही विडम्बनापूर्ण हो गये है जैसे जीवनके बिना जीव। आज आश्रमोका स्थान वर्गोंने ले लिया है—निम्नवर्ग, मध्यवर्ग, उच्चवर्ग। आज न प्रवृत्ति है, न निवृत्ति; है केवल विकृति। आर्थिक विषमता अथवा दैनिक जीवनके साधनोकी विशृङ्खलताके कारण इस समय सभी वर्ग अतृप्त, असन्तुष्ट और आत्महारा है। प्रगतिवादकी अतृप्तिमे उसी दुःसह स्थितिका युगोच्छ्वास है। आजके अशान्त वातावरणमे निर्बल निराशा अध्यात्मवादका सम्बल ले रही है, क्रुद्ध निराशा पदार्थवादका सम्बल। पदार्थवाद अर्थात् सोशलिज्म, कम्यूनिज्म, नात्सीज्म, फासीज्म; अध्यात्मवाद अर्थात् छायावाद, रहस्यवाद, गान्धीवाद। पदार्थवादमे जैसे सोशलिज्म और कम्यूनिज्म लोकवेदनाको लेकर चल रहा है, वैसे ही अध्यात्मवादमे गान्धीवाद। एकका दृष्टिकोण राजनीतिक है, दूसरेका सास्कृतिक। इन दोनोका समन्वय अपेक्षित है।

रूप और अरूप

प्रगतिवादकी भौतिक अतृप्ति उसकी सामयिक विपत्ति है, छायावादकी आध्यात्मिक अतृप्ति उसकी शाश्वत सम्पत्ति (दैवी सम्पदा)।

दोनो मिलकर जीवनमे एक क्रम-बद्धता ला सकते है। प्रगतिवादका लक्ष्य है अतृप्तिको परितृप्ति (प्रवृत्ति) बना देना, छायावादका लक्ष्य है परितृप्तिको निवृत्ति बना देना। इस प्रकार दोनो एक दूसरेकी श्रेणी बन जाते है। अपनी सीमित परिधिमे हमारा देश जो सुख-समृद्धि पा सका था, वही सुख-समृद्धि विस्तृत परिधिमे यदि सम्पूर्ण विश्व कभी पा सका तो उसके लिए निवृत्ति (आध्यात्मिक अतृप्ति) को हृदयङ्गम करना भी सम्भव हो सकेगा। उसी मानसिक स्थितिमे छायावाद, रहस्यवाद और गान्धीवाद मान्य होगा। कविकी भाषामे जो छायावाद है, सन्तकी भाषामे वही रहस्यवाद, कर्मयोगीकी भाषामे गान्धीवाद।

प्रगतिवादके दृष्टिकोणको अपना लेने पर रूप (वस्तुजगत्) के लिए अरूप (साधना-जगत्)की आवश्यकता भी सामने आयेगी। महादेवीकी परिभाषाके अनुसार तो रूप-जगत् और अरूप-जगत् छायावादमे ही सन्निविष्ट है। उनका मन्तव्य यह है, 'छायावादका कवि धर्म्मके अध्यात्मसे अधिक दर्शनके ब्रह्मका ऋणी है जो मूर्त्त और अमूर्त्त विश्वको मिलाकर पूर्णता पाता है।' यह परिभाषा खड़ीबोलीके छायावादके लिए ही नहीं, गान्धी-वादके लिए भी उपयुक्त है। गान्धीवाद छायावादकी व्यावहारिक मर्य्यादा है। छायावादका लक्ष्य चाहे मूर्त्त-अमूर्त्त-जगत्का एकीकरण रहा हो (व्यक्तिगत सतहपर उसने यह एकीकरण किया भी है), किन्तु उसकी सार्वजनिक परिणति नही हुई। छायावादने साहित्यमे मुख्यतः अन्तर्जगत्की ललित अभिव्यक्ति दी है, किन्तु जो कवि छायावादमे भाव-विलास करते रहे, वे इतना भी नही दे सके, वे तो छायावादका अभिनयमात्र करते रहे।

फिर भी प्रगतिशील-युगमे, 'रूपके' लिए अरूपके निर्देशन-स्वरूप मीरा और महादेवीके आत्मगीतोकी सार्थकता बनी रहेगी; क्योकि जीवनमें केवल

जड़-वास्तविकता ही नहीं, चेतनवती अनुभूति भी है। आज चाहे हम छायावादकी उपेक्षा कर दे, किन्तु प्रगतिवादी युगमे अशन-वसनकी चिन्तासे निश्चिन्त हो जाने पर, मनकी रागात्मक समस्याओंमे फिर कभी किसी छायावादका उदय होगा। किन्तु वह वर्त्तमान छायावादसे उसी प्रकार भिन्न होगा जैसे कबीरके रहस्यवादसे तुलसीदासका सगुणवाद, तुलसीदासके सगुणवादसे खडीबोलीका छायावाद। यह भिन्नता आलम्बनके बदल जानेके कारण है। कबीरके निर्गुण (=रहस्यवाद) मे आलम्बन परमात्मा था, किन्तु वह मनुष्येतर था ; तुलसीके सगुण (=छायावाद) मे भी आलम्बन परमात्मा ही था, किन्तु वह नर-रूप नारायण था; इसके बाद खडीबोलीके नवीन आलम्बनमे सगुण (छायावाद) का आलम्बन प्रकृति हो गयी। वर्तमान छायावाद और मध्ययुगके सगुण-छायावादमे यह अन्तर है कि सगुणमे सौन्दर्य्य-सृजन और शक्ति-सञ्चालन (दुष्ट-दलन) है, छायावादमे केवल सौन्दर्य्य-सृजन। प्रकृतिकी अनुरक्तिका रूप छायावादने लिया, प्रकृतिकी शक्तिका रूप विज्ञानने। गान्धीवादकी विशेषता यह है कि उसने शक्तिको भी विज्ञानके बजाय छायावादमे ही समाविष्ट कर दिया है। इस प्रकार गान्धीवाद केवल भावात्मक-छायावाद न होकर सकर्मक-छायावाद हो गया है।

समन्वय

सगुणमे प्रकृति मनुष्यके लिए है, मनुष्य ईश्वरके लिए, गान्धीवादमे मनुष्य प्रकृतिके लिए है, प्रकृति परमात्माके लिए। छायावादमे भी जीवनका क्रम गान्धीवाद जैसा ही है, किन्तु छायावादने सगुणकी आसक्ति नहीं छोड़ी, गान्धीवादने सगुणकी आसक्ति छोड़कर निर्गुणकी अनासक्ति ले ली। इस प्रकार गान्धीवादने ईश्वरको प्रधानता दी, छायावादने

प्रकृतिको , मनुष्य दोनोमे गौण है। मानववादमे गौण मनुष्य ही प्रधान हो गया। मानववाद समाजवादका परिष्कार है, वह जीवनकी स्थूलतासे बँधकर भी पशु-शरीरके भीतर मानवताको सूचित करता है। गान्धी-वाद 'देह' के भीतर 'देही' को ईश्वरके रूपमे देखता है, मानववाद मानव-रूपमे। दोनो स्थूलतासे जीवनकी सूक्ष्मताकी ओर उन्मुख है, किन्तु गान्धीवाद अपार्थिव सूक्ष्मताकी ओर है, मानववाद पार्थिव सूक्ष्मताकी ओर। इस क्रम-विकासमे मानववाद यदि समाजवादका परिष्कार है तो छायावाद सगुणका, गान्धीवाद निर्गुणका। इस युगमें सूफीवादकी तरह फिर किसी नये समन्वयवादकी जरूरत है जो इन सभी परिष्कारोका समीकरण कर सके।

सूफीवादमे समन्वयके दो प्रकार हैं—एक सत्यके माध्यमसे (यथा, कबीर-वाणीमे), दूसरा सौन्दर्यके माध्यमसे (यथा, जायसी-काव्यमे)। यो कहे, एक समन्वय ज्ञानयोगियोने दिया, दूसरा समन्वय भावयोगि-योने। कबीरका समन्वय धार्मिक है, भावयोगियोका समन्वय रसात्मक। धार्मिक समन्वयमे कलाकी भौतिक चेतना (प्रवृत्ति) को विशेष स्थान नही, किन्तु रसात्मक समन्वय (सूफीवाद) मे धार्मिक चेतना (निवृत्ति) और भौतिक चेतना (प्रवृत्ति) दोनोका सयुक्त स्थान है। माधुर्य-मूलक होनेके कारण रसात्मक सूफीवादका साम्य कृष्ण-काव्य तथा वर्तमान छायावादसे है।

गान्धीवाद भी समन्वयात्मक है। गान्धीके समन्वयमे भी कबीरकी भाँति धार्मिकता है, किन्तु उसके समन्वयका साम्य कबीरकी अपेक्षा तुलसीसे अधिक है। थोडा-सा अन्तर यह है कि गान्धीवादमे सगुण एक रूपक मात्र है, किन्तु तुलसीके मानसमे वह रूपक ही नहीं, रूपात्मक भी है। सगुणको रूपकवत् ग्रहण कर लेनेके कारण गान्धीवाद

स्वय सगुणोपासक बना रहकर ससारकी अन्य धार्मिक शाखाओका भी समन्वय अपनेमे कर सका। इस दृष्टिसे गान्धीका समन्वय-क्षेत्र तुलसीसे विस्तृत है—तुलसीने आर्य्यसस्कृतिकी विविध शाखाओका ही समन्वय किया था, गान्धीने आर्य्येतर सस्कृतियो (यथा, मुस्लिम और क्रिश्चियन सस्कृतियो) का भी समन्वय किया। सगुणमे तुलसीके रामके साथ रहकर गान्धीवाद अपने सास्कृतिक समन्वयमे न केवल तुलसीसे बल्कि विश्व-विस्तारमे निर्गुण कबीरसे भी आगे बढा।

गान्धीवाद और बुद्धवाद

एक प्रकारसे गान्धीवादमे पिछले युगके भक्त और सन्त कवियो तथा धर्मप्रवर्त्तकोके जीवनका सार-अश है। उसमे सूर, तुलसी और मीराका सगुण भी है, कबीरका निर्गुण भी, मुहम्मदका महत्त्व भी, बुद्ध और ईसाकी अहिंसा भी। अहिंसाके कारण गान्धीवाद बुद्धवाद-जैसा लगता है, किन्तु बुद्धवाद और गान्धीवादके धरातलमे अन्तर है—बुद्धने जीवनको आधिव्याधि और मृत्युके बीच रखकर देखा था, गान्धीने जीवनको जीवनके ही बीचमे रखकर देखा है। बुद्धके सामने वस्तुजगत्की दैनिक समस्याएँ वे नहीं थीं जो गान्धीके सामने हैं। बुद्धके सामने जीवन्मुक्तिकी समस्या थी, गान्धीके सामने जीवन्मृतकी समस्या है। गान्धीवाद आदर्शोंके ऊर्ध्वतल-पर स्थित होकर भी वर्तमान वस्तुजगत्के सम्पर्कमे है, पिछली आध्यात्मिक परम्पराओकी अपेक्षा यह उसकी बहुत बड़ी विशेषता है। पिछली परम्पराओ-के तत्त्व और नवीन भौतिक समस्याओंके सत्त्व, इन दोनोके सम्मिश्रणका नाम गान्धीवाद है। बुद्धकी तरह यह ससारको असार कहकर छोडता नहीं, बल्कि ससारको ही मथकर सारको निकाल लेता है। बुद्धवादमे जो अहिंसा और निवृत्ति अपने समयकी युग-सस्कृति थी वही गान्धीवादमे भी

है—अन्तर यह कि बुद्धमे विरक्ति थी, गान्धीमे अनासक्ति है। अनासक्त रहकर गान्धी वस्तुजगत् (आसक्तिलोक) मे है, विरक्त होकर बुद्ध वस्तु-जगत्से बाहर थे। बुद्धमे निर्गुण (निवृत्ति) का आत्मदर्शन है, गान्धीमे सगुण (प्रवृत्ति) का लोक-सग्रह भी। निवृत्ति और अहिसाकी परिभाषा भी गान्धीवादमे बुद्धवादसे भिन्न है—बुद्धवादमे निवृत्ति और अहिंसाका अर्थ है वैराग्य और करुणा; गान्धीवादमे सयम और आत्मनिर्भयता। बुद्धकी करुणाका स्थान गान्धीवादमे सेवा और समवेदनाको मिल गया है। करुणामे प्राणी दयनीय है, सेवा और समवेदनामे परस्पर सामाजिक सह-योगी। सेवा और समवेदना प्राणीका लोक-साधन है, संयम और अहिंसा आत्मसाधन। आत्मसाधन ही लोक-साधनको आन्तरिक सम्बल देता है।

गान्धी और बुद्धकी अभिव्यक्तियोमे अन्तर होते हुए भी दोनोका जीवन-दर्शन मूलतः एक ही है, प्रकारान्तरसे गान्धीवाद बुद्धवादका ही युग-विकास है। बुद्धवाद अपने युगमे ठीक था, किन्तु स्वय छायावाद (जिसमे बुद्धवाद भी सश्लिष्ट है) अपने वर्तमान रूपमे अकर्मक है। गान्धीवादने उसे सकर्मक बनाकर मानो बुद्धवादको उसकी आत्माके अनुरूप नवीन देश-काल दे दिया।

लोकसग्रहके कारण वस्तुजगत्के सम्पर्कमे आकर गान्धीवाद समाजवादके युगमे है, आत्म-दर्शनके कारण अन्तर्जगत्मे जाकर मुमुक्षुओं-के आत-युगमे। वह अपनी खादीकी तरह ही नव्य-पुरातन है। अपने आस-युगमे समाजवादी युगसे भिन्न होकर गान्धीवाद प्रात-युगमे भी समाजवादसे भिन्न है। वर्तमान-युगमे गान्धीवाद और समाजवाद दोनो वस्तुजगत्के सम्पर्कमे तो है, किन्तु दोनोंका अन्तर वस्तुजगत्को देखनेके ढङ्गमे है; दोनोके दृष्टि-विन्दुओमे बुद्धवाद (अन्तर्जाग्रति) और बुद्धिवाद (बहिर्जाग्रति) का अन्तर है। समाजवाद अन्तर्जाग्रतिकी

उपेक्षा कर देता है, किन्तु गान्धीवाद बहिर्जागृतिको अपने ढङ्गसे अपना लेता है।

छायावादका व्यक्तित्व

गान्धीवादने बहिर्जागृतिको भी सत्य (अनासक्ति) के माध्यमसे ही व्यक्त किया है, आवश्यकता है उसे सौन्दर्य (आसक्ति) के माध्यमसे भी हृदयङ्गम करानेकी। यह काम छायावादका था। वर्तमान छायावादने अन्तर्जागृतिको तो सौन्दर्यका माध्यम दिया किन्तु बहिर्जागृति उससे वैसे ही छूट गयी जैसे समाजवादसे अन्तर्जागृति। तुलसीने मानसमे सौन्दर्यके माध्यमसे जीवनका जो अन्तर्बाह्य समन्वय दिया, अपने युगके अनुरूप कोई वैसा ही समन्वय वर्तमान सगुणवाद (छायावाद) से भी अपेक्षित था। द्विवेदी-युगका काव्य 'साकेत' इस दिशामे एक आरम्भिक प्रयोग था, किन्तु वह प्रयोग अन्य प्रयोगोद्वारा आगे नही बढा; छायावादके प्रबन्ध-काव्य मुख्यतः आत्मपरक (लीरिकल) बने रहे—'कामायनी', 'तुलसीदास', 'निशीथ'। हॉ, प्रसादने नाटकों-द्वारा, महादेवीने सस्मरणों द्वारा, पन्तने 'परिवर्तन' शीर्षक कविता तथा समाजवादी रचनाओं-द्वारा अपने-अपने ढङ्गसे विविध लोकभूमिको भी स्पन्दित किया।

महादेवीजीके कथनानुसार छायावादके कविका ध्यान भी एक समन्वयकी ओर रहा है—'बुद्धिके सूक्ष्म धरातलपर कविने जीवनकी अखण्डताका भावन किया, हृदयकी भाव-भूमिपर उसने प्रकृतिमें बिखरी सौन्दर्य-सत्ताकी रहस्यमयी अनुभूति की और दोनोके साथ स्वानुभूत सुख-दुःखोको मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी, जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, छायावाद, आदि अनेक नामोका भार सॅभाल सकी।'

छायावादके कविने उक्त समन्वय अपने ऐकान्तिक मानसिक धरातलपर ही किया, सामूहिक सामाजिक धरातलपर नहीं। वह आत्मचिन्तन-प्रधान बना रहा—

मेरे अन्तरमें आते हो देव, निरन्तर
कर जाते हो व्यथा-भार लघु
बार-बार कर-कञ्ज बढ़ाकर।
अन्धकारमें मेरा रोदन
सिक्त धराके अञ्चलको करता है क्षण क्षण,
कुसुम-कपोलोंपर वे लोल शिशिर क्षण;
तुम किरणोंसे अश्रु पोंछ लेते हो
नवप्रभात जीवनमें भर देते हो।
—'निराला'

छायावादके गीतकाव्यमे मुख्यतः 'गीताञ्जलि'का बहुविध विकास हुआ। हाँ, समाजवादके पूर्व, हिन्दी-छायावादमें निरालाने देवताको श्रद्धाञ्जलि ही नहीं, मानवको अपनी करुणाञ्जलि भी दी; 'भिक्षुक' और 'विधवा' उसी देवताकी प्रजाएँ है। इन निरीह प्रतिमाओके जीवनको समाजवादी समाधान मिल जाने पर इनका दैन्य दूर हो सकता है, किन्तु इनके जीवनमे जो सास्कृतिक स्पन्दन है वह किस तरह सुरक्षित रहेगा, इसका सङ्केत गान्धीवादसे मिलेगा। साधनाकी ये मूर्त्तियाँ केवल कामना-के लिए ही दैन्य लेकर नहीं चल रही हैं, उससे तो वे पशुकी तरह कभी ही मुक्त हो सकती थीं।

हाँ, यह चिन्तनीय है कि छायावादका कवि स्वानुभूत सुख-दुःखोंको आत्मविस्मृत ही करता रहा। छायावादके जो कवि स्वानुभूत सुख-दुःखोंको आत्मविस्मृत नहीं करना चाहते थे वे प्रगतिवादमे चले गये।

महादेवीजीके निर्देशानुसार—'किसी भी युगमे एक प्रवृत्तिके प्रधान होने पर दूसरी प्रवृत्तियॉ नष्ट नही हो जाती, गौणरूपसे विकास पाती रहती है। छायायुगमे भी यथार्थवाद, निराशावाद और सुखवादकी बहुत-सी प्रवृत्तियॉ अप्रधान रूपसे अपना अस्तित्व बनाये रह सकी जिनमेसे अनेक अब अधिक स्पष्टरूपमे अपना परिचय दे रही है। स्वय छायावाद तो करुणाकी छायामे सौन्दर्य्यके माध्मयसे व्यक्त होनेवाला भावात्मक सर्ववाद ही रहा है और उसी रूपमे उसकी उपयोगिता है। इस रूपमे उसका किसी विचारधारा या भावधारासे विरोध नही, वरन् आभार ही अधिक है, क्योकि भापा, छन्द, कथनकी विशेप शैली आदिकी दृष्टिसे उसने अपने प्रयोगोका फल ही आजके यथार्थवादको सौपा है।'

इस दृष्टिसे देखने पर तो छायवाद भापा, भाव और शैलीके रूपमे यथार्थवादको अपना बाह्यदान ही दे सका, आत्मदान नही। यदि छायावादको भावात्मक सर्ववाद स्वीकार कर लें तो प्रश्न यह उठता है कि प्रगतिवाद अथवा यथार्थवाद बाह्यदानकी तरह ही उससे आत्मदान भी क्यों नही ले सका? इसका कारण प्रगतिवादकी भौतिक समस्या और छायावादकी लौकिक असमर्थता है। छायावाद क्रियात्मक सर्ववाद नही बन सका। यथार्थवाद, निराशावाद और सुखवादको उसने अपने पुराकालीन सगुण-निर्गुण दृष्टिकोणसे ही देखा, वह अपने समयका विकास ग्रहण नही कर सका। प्रगतिवादके पूर्व, वह देश-कालकी इतनी भी समय-सूचकता नही ले सका जितनी तुलसीने अपने समयमे, गान्धीने अपने समयमे ली। द्विवेदी-युग गान्धीयुगतक बढ आया था, किन्तु रवीन्द्र (छायावाद)-युग वैभवके भाव-युगमे ही स्थिर रहा। गान्धी-वादके रूपमे छायावादके आत्मदान तथा कला-रूपमे उसके बाह्यदानका सत्पात्र द्विवेदी-युग ही हो सकता था। अपनी युगमयी रचनाओंमे पन्तने

द्विवेदी-युगकी काव्य-कलाको नव-प्राञ्जल कर दिया। कलाका बाह्यदान द्विवेदी-युगसे, जीवनका बाह्यदान प्रगतिशील-युगसे, तथा आत्मदान छायावाद (मूलतः गान्धीवाद) से सङ्कलित कर पन्तने अपनी नवीन रचनाएँ दीं। कालाकॉकरके ग्राम-प्रवासके कारण उनके लिए यह समन्वय सहज स्वाभाविक हो गया। प्रगतिशील-युगमे छायावादका सदुपयोग पन्तजी ही कर सके किन्तु खालिस (भौतिक) प्रगतिवादी-युग छायावादसे आत्मदान तो ले नही सका, साथ ही बाह्यदान लेकर उसका कोई विशेष सदुपयोग भी नहीं कर सका ; फलत. वह गान्धीवाद और छायावाद दोनोके विपरीत है।

गान्धीको श्रद्धाञ्जलि देकर भी छायावाद तो निष्क्रिय ही बना रहा। कविगुरु रवीन्द्रनाथ भी उसे क्रियात्मक सर्ववाद नहीं बना सके, वे विविध उन्नत युगों (बुद्ध-युग, निर्गुणयुग, सगुण-युग, गान्धी-युग, समाजवादी-युग) को अपनी भाव-मुग्धता ही देते रहे। रवीन्द्रनाथने टेकनीककी दृष्टिसे, शरच्चन्द्रने जीवनकी दृष्टिसे साहित्यको आगे बढाया। सर्ववादका एक सामाजिक (क्रियात्मक) सामञ्जस्य शरदने अपने समयके हिसाबसे उपन्यासोमे दिया, उसमे छायावाद (वैष्णववाद) भी है, यथार्थवाद भी। इसी तरह शरदके उत्तरकालके कलाकारोको गान्धीवाद और प्रगतिवादका भी सामञ्जस्य सुलभ करना होगा। पन्तजी इसी दिशामे प्रगतिशील हैं।

छायावादके कवियोमे स्वय महादेवीने बुद्धके युगमे,* निरालाने तुलसीदासके युगमे, प्रसादने 'कामायनी' द्वारा गान्धीके युगमे, पन्तने भविष्यके समन्वय-युगमे अपनी उपस्थिति दी है। यह सन्तोषकी बात है कि इस क्रम-शृङ्खलामे छायावादका वह मूलधन (आत्मदान) सुरक्षित

---

* महादेवीने कृष्ण-काव्य और सूफी-काव्यके कलेवरमें बुद्धवादकी अन्तश्चेतना स्थापित की है।

है जो किसी भी युगको जीवन-सम्पन्न कर सकता है। इस दिशामे छायावाद प्रसाद और महादेवी द्वारा गान्धीवादकी ओर है, पन्त-द्वारा गान्धीवाद प्रगतिवादकी ओर।

भविष्यके समन्वय-युगमें भी छायावादका अस्तित्व रहेगा, गान्धीवादके रूपमे। जब हम लोक-चिन्तन (आब्जेक्टिव) के बाद आत्म-चिन्तन (सब्जेक्टिव) की ओर उन्मुख होगे तब अनिवार्यतः नव-रूपान्तरित छायावाद (गान्धीवाद) की ओर जायँगे। उस समय हमारे मकानके सहनमे रखा हुआ गमला केवल स्थूल आवश्यकताके रूपमे ही नही रहेगा बल्कि वह चराचरकी अनुभूतिका एक प्राकृतिक प्रतीक भी बन जायगा।

इस समय भावात्मक छायावाद चाहे युगका पार्टनर न हो सके, किन्तु जीवनके अन्तःपुरके एक डिजाइनरके रूपमे उसे भी सामाजिक स्थान दिया जा सकता है। उसकी सार्थकता है आत्मसंग्रहके निर्देशन और निवेदनके लिए। इस दृष्टिसे, इस दिशामे छायावादका अस्तित्व चिरन्तन है—जबतक सृष्टि है और जीवन कवित्वगर्भित है।

यद्यपि हमने छायावादको निष्क्रिय कहा है, तथापि उसकी निष्क्रियता आन्तरिक नहीं, बाह्य है। आज जिस युगव्यापी यथार्थके सम्मुख रखकर छायावादको हम निष्क्रिय समझते है, उस दृष्टिसे सक्रियताको भी स्पष्ट कर लेना चाहिये। सक्रियता केवल कल-कारखानोमे नहीं है, घरेलू उद्योग-धन्धोमे भी है; घरेलू उद्योग-धन्धोमे ही नहीं, गार्हस्थिक जीवनमे भी है; गार्हस्थिक जीवनमे ही नही, हमारे आभ्यन्तरिक चिन्तनमे भी है। यही आभ्यन्तरिक चिन्तन छायावादका उन्मेषन है। छायावादको हम एकान्तका सङ्गीत कह सकते हैं। भजन, पूजन, आराधन हमारे एकान्त-कृत्य है, ये निष्क्रिय नहीं है। इनकी निष्क्रियता बाह्य है, सक्रियता आन्तरिक।

हॉ, बाह्य कोलाहलको शान्त कर लेने पर एकान्तका सङ्गीत अधिक प्रकृतिस्थतासे सुना जा सकता है। किन्तु जिन्हे बाह्य कोलाहल चञ्चल नहीं करता, वे कोलाहलोंमे भी एकान्तवासी रहते है, जैसे बापू। यह वहीं सम्भव है जहॉ जीवन केवल मृण्मय ही न हो जाय। किन्तु आत्मा क्या अपने शरीरके मृण्मय बन्धनसे मुक्त है? बापूको भी भौतिक समस्याओंके सुलझानेमे मनोयोग देना पडता है। हॉ, भीतरका सन्तुलन (एकान्त-चिन्तन) खो नहीं देना चाहिये, वहॉ तो 'निशिदिन अमृत झरै', तभी हम बाह्य समस्याओंमे भी सन्तुलन बनाये रख सकेंगे। स्थिति यह है कि समाजवादमे आन्तरिक सन्तुलन स्खलित हो गया है, छायावादमे बाह्य सन्तुलन अविकसित। दोनो एक दूसरेके लिए स्थूल-विशेषण्र एक आमन्त्रण है।

वास्तविकता और कविता

जिन्दगी तो एक घोर वास्तविकता है, मल-मूत्र और हाड-मॉसकी तरह। मनुष्यने वास्तविकताको कविता बनाकर सामाजिक जीवनका सृजन किया है। ईश्वर, धर्म, नीति, नियति, कला और समाज ये सब मानव-मनके कवित्व है—बीभत्स जीवनको मनोहर बनानेके लिए, लोक-यात्राको सुगम कर देनेके लिए, भव-सागरको भाव-सागर बनाकर तिरनेके लिए। पदार्थ-विज्ञान मनके इस कवित्वको उच्छिन्न कर जीवनको उसके मेकेनिकल-रूपमे देखता है, जैसे डाक्टर शरीरको। जीवनको इस प्रकार देखना सब समय आवश्यक नही होता, समय-असमयका विचार किये बिना जीवनका बीभत्स निरीक्षण अघोरीपनका सूचक है। किन्तु जब निरीक्षण आवश्यक हो तब निरा-कवित्व खतरनाक हो जाता है, यथार्थ उपचार बन जाता है। जहॉतक कवित्वका प्रश्न है, छायावाद

जीवनके गौरव-शिखरपर है, किन्तु अब उसे रौरव-जगत्के निरीक्षणमे भी आना है ।

जीवन आज कवित्व-हीन है । जीवनको पुनः कवित्वमण्डित करनेके लिए यथार्थका उपचार चाहिये । यथार्थ समाजवादमे भी है और गान्धीवादमे भी; अशन-वसनसे लेकर यौवन-समस्यातक । गान्धीवादका यथार्थ जीवनको कवित्वमण्डित बनाये रखता है, समाजवादका यथार्थ जीवनको जडीभूत कर देता है । सामाजिकता दोनोमे है—एककी सामाजिकतामे आत्मस्थता है, दूसरेमे उद्बुद्धता । दोनोमे आन्तरिकता और वैज्ञानिकताका अन्तर है । यद्यपि समाजवादी भी मानव-मनके कवित्व (कला और सस्कृति) की रक्षा करनेका आश्वासन देता है, किन्तु आधेय (मनुष्य) का आधार (यान्त्रिक साधन) कृत्रिम होनेके कारण वह कवित्वको सुरक्षित नहीं रख सकेगा । शोषितोपर अवलम्बित शोषक जैसे नहीं टिक सकते, वैसे यन्त्रोपर अवलम्बित मनुष्य नहीं टिक सकता । यान्त्रिक उत्थान मनुष्यकी आत्महत्या बन गया है । हमे जीवनका कोई भी यान्त्रिक उत्थान अभीष्ट नहीं, चाहे वह पूँजीवादमे हो या समाजवादमे । यान्त्रिक उत्थानसे जीवनकी उस हरित-भरित सरल-तरल सुषमाका लोप हो जायगा जिसका नयन-शीतल चित्र इन शब्दोमे अङ्कित है—

> सरिता सब पुनीत जल बहहीं ।
> खग, मृग, मधुप सुखी सब रहहीं ॥

एक ओर समुद्र पाटकर सडक और मकान बनाये जा रहे है, दूसरी ओर सड़कोकी वृक्षावलियाँ काटकर जन-पथ वनस्पति-शून्य किया जा रहा है । यह सब जीवनके किस आगत मरुस्थलका सूचक है !

राजनीति और विज्ञानको जीवनका साधन बनाकर समाजवाद भी उतना ही भयावह रहेगा जितना पूँजीवाद। आश्चर्य नही कि इस तरहके उत्थान-से विश्व-प्राङ्गण वनस्पति-शून्य ही नहीं, मानव-सन्तति-शून्य भी हो जाय। हमे राजनीति और विज्ञान नहीं, सस्कृति और निष्कृति (कर्मयोगिता) चाहिये। छायावादने सस्कृति दी, किन्तु साथ ही उसे निष्कृति गान्धीवादसे पाना है। प्रगतिवादकी प्रतिक्रियामे अब वह इस ओर प्रयत्नशील हो गया है।

समाजवादकी सार्थकता तात्कालिक है—कुरूप (ऐतिहासिक) परिस्थितियोके प्रति असन्तोष उत्पन्न कर देनेके लिए। उसकी उपयोगिता राजनीतिक वैतालिक होनेमे है। समाजवादकी उपयोगिता पूँजीवादके सम्मुख है, गान्धीवादकी उपयोगिता समाजवादके सम्मुख। गान्धीवादकी शाश्वत सार्थकता परिस्थितियोंका स्वाभाविक समाधान देकर उन्हे शिवत्वकी ओर ले जानेमे है। छायावाद अपने गन्तव्यके पाथेयके लिए गान्धीवादका यथार्थ ले सकता है। जैसा कि कविने कहा है—

> अन्तर्मुख अद्वैत पडा था युग-युगसे निष्क्रिय, निष्प्राण,
> जगमें उसे प्रतिष्ठित करने दिया साम्यने वस्तुविधान।

इसी तरह छायावादको भी लोक-साधनके लिए गान्धीवादका वस्तु-विधान चाहिये। यद्यपि अद्वैतवाद (प्रकारान्तरसे छायावाद) को साम्यवादने ही वस्तुविधान दे दिया है तथापि उसमे यन्त्रोकी जडता बनी हुई है, जब कि गान्धीवादके वस्तुविधानमे मनुष्यकी यन्त्र-मुक्त सजीवता है। उसमे मनुष्यका श्रम उसकी आत्मप्रसूत सन्ततिकी तरह नैसर्गिक है, उसका समाज अपने परिवारकी तरह हार्दिक। छायावादमे हार्दिक एकता-का सूक्ष्मसूत्र तो है ही, गान्धीवादका वस्तुविधान लेकर उसे स्थूल

(व्यावहारिक) सूत्र भी पा जाना है—लोकायतनके लिए। लोक-साधनके लिए छायावाद गान्धीवादमे लय होकर प्रवृत्तियोको जीवनका कलात्मक कन्सेशन दिला सकेगा और तब गान्धीवाद प्रगतिवादमे समाविष्ट होकर प्रवृत्तियोपर आत्मनियन्त्रण बनाये रख सकेगा।

हिन्दी-साहित्य

[१]

एक ऐसे तमस्-मूढ युगमे जब कि दिशाएँ धुएँसे ओझल और कोलाहलसे आक्रान्त है, जीवनके पथ-चिह्नोको साहित्यमे ढूँढना आवश्यक हो जाता है। आज जब कि आकाश-पाताल तोपोकी गडगडाहटसे दहल रहा है, मानवी शक्ति वैज्ञानिक करिश्मोसे अगणित ओज प्राप्त कर अपने ही सहारमे लगी हुई है, साहित्य या तो दिग्भ्रान्त हो गया है या आत्मस्थ।

संहार और सृजन

इस सर्वसहारके युगमे प्राणीके लिए एक ही अवलम्ब है—प्रकृति। विज्ञानका काम है प्रकृतिको मिटा देना, साहित्यका पुण्य है प्रकृतिको अजस्र बनाये रखना। विज्ञान चाहे समुद्रोको सोखकर, पृथ्वीको नर-मुण्डोसे पाटकर जीवनको नि.शेष कर देनेके लिए बद्ध परिकर रहे, किन्तु जबतक प्रकृतिका अस्तित्व है वह अपने षट्ऋतुओसे नव-जीवनका सृजन करती रहेगी। और यदि जीवन है तो साहित्य भी है। इतिहासके रङ्गमञ्च पर और भी अनेको बार प्रकृति और जीवनको मिटानेका प्रयत्न किया गया है किन्तु वे पुनः पुनः साहित्यमे उग आये हैं, उनका मूलोच्छेदन हो ही नहीं सकता, क्योंकि उनका स्रष्टा अ-क्षर है। साहित्य उसीका एक प्रतिनिधि है।

इतिहासमे हम देखते है कि एक ओर विध्वस प्रखर मध्याह्नकी तरह सृष्टिके प्रति रौद्र हो उठा है, दूसरी ओर जगन्माता प्रकृतिने अपने शारदोज्ज्वल अमृतकरोसे स्नेह, पुलक, प्रकाश और शीतलता देकर सृष्टिको निःसहाय नहीं होने दिया है।

अपने साहित्यमे हम देखते है, एक ओर वीर-काव्य है, दूसरी ओर भक्ति-काव्य जिसके रूपान्तर है सगुण-निर्गुण और शृङ्गार-काव्य। इन्हे हम राजनीतिक, आध्यात्मिक एव सामाजिक साहित्य कह सकते है। चिरपरिचित प्रयोगमे जीवनके जिन युग्म पार्श्वोंको राजनीति और समाज कहते है उन्हे ही आधुनिक अभिव्यक्तिमे विज्ञान और कला, विकृति और संस्कृति, अथवा, पौराणिक भाषामे सहार और सृजन कह सकते है। बुद्ध, ईसा और गान्धीके सम्पर्कसे हम जान सके है कि जीवनका निर्माण राजनीतिसे नहीं, समाजसे होता है। समाजकी तरह राजनीतिका भी अस्तित्व यद्यपि पुरातन है, तथापि समाजके कारण ही राजनीति लोकतन्त्रात्मक रही है। लोकतन्त्रका अभिप्राय सामाजिक सदस्यता थी, राजनीतिक सदस्यता नहीं; यो कहे, पुराकालिक राजनीति सामाजिक राजनीति (समाज-नीति) थी, आजकी राजनीतिक राजनीति नही। सामाजिक राजनीतिमे सृजनका अवकाश था, किन्तु राजनीतिक राजनीतिमे चेतना इतनी कुण्ठित हो जाती है कि वह विध्वसके रूपमे आत्महत्याको ही युग-सृजन समझने लगती है। राजनीतिका सामाजिक रूप तभीसे समाप्त होने लगा जबसे राजनीतिका घनिष्ठ सम्बन्ध विज्ञानसे हो गया, परिणामतः कला और सस्कृति पीछे छूट गयी। सच तो यह कि आजकी राजनीति विज्ञानकी ही अनुवर्त्तिनी रह गयी है, जब कि वह कला और सस्कृति (जीवनकी उर्वरता) की धात्री थी। इसीलिए मध्ययुगोमे घनघोर युद्धोके बीच भी कला और संस्कृतिका कल-

कोमल स्रोत नहीं रुका, जब कि साहित्यकी .ललित अभिव्यक्तियाँ आजके अङ्गारतप्त मरुस्थलमे लुप्त हो गयी है। वीर-काव्योके युगमे भी जायसी, कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, रसखान, आनन्दघन, देव और मतिरामकी स्रोतस्विनी लहराती रही, किन्तु आज रवीन्द्र और गान्धीकी वाणी (कला और संस्कृति) उन्मुक्त नही है। पृथ्वीकी गङ्गा आकाश-गङ्गामे ही नामशेष होने जा रही है।

संस्कृति और कला

हिन्दी-साहित्यमे चन्दसे लेकर भूषणतकके चारण-कवि कला और संस्कृतिके क्षत्रपोंके वैतालिक है, भक्त और शृङ्गार-कवि संस्कृति और कलाके उद्भावक। भक्त कवियोने जीवनका अमृत-उत्स दिया, शृङ्गारके कवियोंने रस-स्रोत। साधकोने अविनश्वरका सान्निध्य दिया, रसवन्तोने अविनश्वरको शिरोधार्य कर नश्वरको सुसह्य कर दिया। भारतेन्दु-युग तक जीवनका यही क्रम चला; किन्तु तबतक इतिहासमे राजनीतिक राजनीति प्रधान होने लगी थी, सामाजिक जीवन जीवनके साधनोंके अभावमे विरस होने लगा था, फलतः वीर-काव्य राष्ट्रीय काव्यकी भूमिका ग्रहण करने लगा, राजवैतालिक राष्ट्रवैतालिकके रूपमे परिवर्तित हो गये। द्विवेदी-युगतक जीवन इतना गम्भीर हो गया कि नश्वरता (शृङ्गारिकता) युग-ग्रस्त हो गयी, कविता सिकता बन गयी; फलतः कलाकी रक्षाके पूर्व, राष्ट्रीयता और संस्कृतिका स्मरण, चिन्तन और उद्बोधन प्रधान हो गया। ललित जीवनके अभावमे ललित वाणी (ब्रजभाषा) का स्थान ओजस्विनी खड़ीबोलीने लिया। किन्तु राजनीतिक राजनीतिने कुम्भजकी तरह एकबारगी ही जीवन-समुद्रको सोख नहीं लिया, उसमे कुछ हिलकोरे बने हुए थे। राजनीतिक स्वार्थों के सङ्घातसे विक्षुब्ध होकर

सन् '१४का विश्व-युद्ध मगरमच्छकी भाँति अपनी पूँछ झटकारकर चला गया, भीतर विकराल सङ्कट होते हुए भी ऊपरसे जीवन फिर तरङ्गित दिखने लगा।

इन सब हलचलोंसे दूर एकान्तमे रवीन्द्रनाथ अपनी 'सोनार तरी' पर स्वस्थ युगके स्वप्नोको सँजो-सँजोकर संस्कृतिके लिए कलाका कण्ठहार गूँथ रहे थे। सन् '१४के युद्धके बाद शासनकी प्रताड़नासे मर्माहत होकर हमारे देशमे राष्ट्रीय चेतनाका विशेष उत्थान हुआ। गान्धी-युगका उदय हुआ। द्विवेदी-युगका साहित्य भारतेन्दु-युगके उपहार-स्वरूप राष्ट्रीयता और संस्कृति लेकर चला आ रहा था, गान्धी-युगमे राष्ट्रीयताको सांस्कृतिक परिणति मिल जाने पर द्विवेदी-युगका साहित्य उसीमे केन्द्रीभूत हो गया। राष्ट्रीयताको संस्कृति मिल गयी, उधर संस्कृतिको कलाका जो साज-सँवार रवीन्द्रनाथ दे रहे थे, वह भी गान्धीयुगमे अङ्गीकृत हो गया। राष्ट्रीयता और संस्कृतिके सायुज्यसे गान्धीवादका दर्शन मिला; कला और संस्कृतिके संयोगसे छायावाद (रवीन्द्रवाद) का स्पन्दन। गान्धी-रवीन्द्र-युगमे आकर वीर-काव्य, भक्ति-काव्य और शृंगार-काव्यका त्रिमुख-प्रवाह राष्ट्रीयता, संस्कृति और कलाके समन्वयमे नवीन सङ्गम बन गया। कलाके आदानसे हमारे साहित्यकी रचनात्मक शक्ति स्फुरित हो गयी। द्विवेदी-युगने भी गान्धीवादकी चेतनाको छायावादका कलाच्छादन दिया—'साकेत' और 'यशोधरा'मे, छायावाद-युगने भी अपनी कलानुभूतिको गान्धीवादका अन्तःकरण दिया—'कामायनी' मे। जबतक साहित्य राजनीतिक सतहपर था वह उद्बोधनात्मक ही था, सृजनात्मक नहीं, सामाजिक सतह (कला और संस्कृति) पर पहुँचकर ही वह सृजनशील हो सका है। मध्ययुगमे वीर काव्यके कवि उद्बोधनात्मक है, निर्गुण-सगुण और शृङ्गारिक-कवि सृजनात्मक। राष्ट्रीय काव्य भी प्रारम्भमे उद्बोधनात्मक ही था, किन्तु

गान्धी-रवीन्द्र-द्वारा सस्कृति और कलाका सामाजिक स्तर पाकर वह भी छायावादकी तरह सृजनात्मक हो सका, राष्ट्रीय रचनात्मक कार्य्यों को कवित्व देकर (यथा, खादी, बापू , भारतमाता) ।

गद्यका आविर्भाव

एक ओर गान्धीवाद और छायावादका उत्थान हुआ, दूसरी ओर जाग्रत् राष्ट्रीयताने अन्तर्राष्ट्रीय जीवन और साहित्यका परिचय प्राप्त कर गद्य-साहित्यको भी विविध उत्कर्ष दे दिया। यह एक प्रश्न है कि वर्तमान खडीबोलीके पूर्व गद्यका उत्थान व्रजभापामे क्यो नही हुआ? इसका सबसे बडा कारण तो यह है कि जीवन विंशशताब्दीकी भौतिक समस्याओंमे जितना गद्यवत् शुष्क हो गया है, उतना पहिले नहीं था। यो तो समुद्र-तटपर सिकता भी रहती ही है, फिर भी जीवन भजन, पूजन, क्रीडन, आराधन, आलिङ्गनमे कवित्वपूर्ण होकर ही लहरा रहा था। एक शब्दमे काव्य ही जीवन था। सस्कृतके जिस आदर्शपर हिन्दीकाव्यने अपना जीवन निःसृत किया उसीके आदर्शपर वह मध्ययुगमे ही साहित्यके अन्य अङ्गो (कहानी और नाटक) को भी विकास दे सकता था। किन्तु सस्कृतमें साहित्यके अन्य अङ्ग भी काव्यके ही अन्तर्गत है , दूसरे, हिन्दी सस्कृतके सामने 'भाखा' होनेके कारण पहिले अपना अस्तित्व सँवारनेमे ही लगी हुई थी, फलतः उसे काव्य-कलित होकर ही अपने सौष्ठव और सौन्दर्यको मनोरम बनाना पडा। किन्तु क्या हिन्दी, क्या सस्कृत, दोनोमे जीवन और साहित्य कवित्वप्रधान ही है। उर्दूका भी यही हाल है। ध्यान देने पर यह समझमे आता है कि गद्यका विस्तार मशीनोके साथ होता है। दस्तकारीके जमानेमे जीवन एक शिल्प था, फलतः मशीनोके पहिले वह सर्वत्र काव्यकला-प्रधान था। जिन देशोमे मशीनोंका प्रवेश

पहिले हुआ वहाँ दस्तकारीवाले देशोंकी अपेक्षा गद्यका विस्तार भी पहिले हुआ, जैसे भारतकी अपेक्षा यूरोपमे, हिन्दीके बजाय अग्रेजीमे। बात यह है कि सुख-दुःख तो कवितामे गाया जा सकता है किन्तु यन्त्र-प्रसूत जीवन गद्यकी ही अपेक्षा रखता है। गान्धी-युगने एक बार फिर यान्त्रिक जीवनके प्रतिरोधमे कुटीर-शिल्पका स्वर सजग किया। यदि गान्धीवाद सफल हुआ तो जोवन पुनः कवित्व-प्रधान हो जायगा और तभी रवीन्द्रनाथ जैसे कवियोको समुचित सामाजिक धरातल प्राप्त होगा।

युग-समस्या

सन् '१४ के विश्व-युद्धने साम्राज्योकी सीमाएँ बदल दीं किन्तु उसके बाद भी संसारमे सुख-शान्ति नहीं आयी। साम्राज्यवाद अपनी विजयकी सुरक्षाके लिए चिन्तित रहा, साथ ही पूँजीवादके विषम भारसे दबी हुई जनता भी आत्मत्राणके लिए उद्ग्रीव हो उठी। पूँजीवादी राष्ट्र अपनी अपनी सीमाएँ बाँधकर शासन-कार्य्यमे लग गये, पहिलेसे भी अधिक सतर्कता और सशस्त्रतासे, इधर जनताके आन्दोलन भी सजीव हो उठे। जनताके आन्दोलनके रूपमे समाजवाद और गान्धीवादका उद्भव और प्रसार हुआ। समाजवाद तो विगत साम्राज्यवादी युद्धके दिनोमे ही जार-शाहीको समाप्त कर आ गया, किन्तु गान्धीवाद साम्राज्यवादी और समाज-वादी युद्ध (रूसी क्रान्ति) के उपरान्त उदित हुआ, यह मानो समाज-वादके भी आगेका नवीन जन-आन्दोलन था। इसमे आन्दोलन ही नहीं, जनता भी नव्यतम हो गयी—निःशस्त्र। एक ओर मध्ययुगोके साम्राज्य-वादी युद्ध आधुनिक वैज्ञानिक युद्धोमे नवीनता ग्रहण करते रहे, दूसरी ओर आधुनिक जनताका युद्ध भी इसी युगमे समाजवादसे प्रारम्भ होकर गान्धी-वादके परिचयमे आ गया। यो कहे, समाजवादी युद्ध (रूसी क्रान्ति) मे

आधुनिक साम्राज्यवादकी आधुनिक जनता थी, गान्धीवादमे वैज्ञानिक साम्राज्यवादके पूर्वकी सनातन जनता। विंशशताब्दीमे आकर यह जनता दुहरे अभिशापोसे घिर गयी—एक ओर आधुनिकताकी व्याधि (राजनीति, विज्ञान, अर्थशास्त्र) से, दूसरी ओर आध्यात्मिक आत्मप्रवञ्चना (आत्म-शुद्धि-रहित धर्म्माचरण) से। समाजवादने भौतिक विषमताकी भौतिक बुनियाद दिखलायी, गान्धीवादने इस बुनियादकी भी बुनियाद अभ्यन्तरमे दिखलायी। गान्धीवादमे अन्तर्द्वन्द्व (आत्मद्वन्द्व) प्रधान है,समाजवादमे साम्राज्यवादकी भाँति ही वहिर्द्वन्द्व प्रधान। निःसन्देह गान्धीवाद कोई नवीन राजनीतिक आविष्कार नहीं, किन्तु विस्मृत आत्मस्वरूपको पा जाना जीवनकी मौलिकता पा जाना है। गान्धीवाद मौलिक है, अन्यान्य राज-नीतिक वाद-विवाद ऐतिहासिक विकारोंके रूपान्तरमात्र है। कीचडसे कीचड नहीं धुल सकता, उसके लिए तो गान्धीवादका आत्मप्रक्षालन ही चाहिये। प्राणीको उस स्व-तन्त्रको समझना है जिसके द्वारा वह स्व-रूपका आत्म-विधायक हो सकता है।

गान्धीवाद राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन नहीं, वह तो एक विश्व-साधना है। राजनीति नहीं, संस्कृति (आत्मपरिष्कृति) गान्धीवाद-का लक्ष्य है और उसीके अनुरूप उसकी रचनात्मक सृष्टि (व्यावहारिक कार्य्यक्रम) है। अपनी रचनात्मक सृष्टिमे वह शासनके सूत्र नही, बल्कि 'मनुजोंके मन' जोडता है। सचमुच कविके शब्दोंमे—

> 'राजनीतिका प्रश्न नहीं है आज जगतके सम्मुख।
>
> ... ...
>
> आज बृहत् सांस्कृतिक समस्या जगके निकट उपस्थित,
> खण्ड मनुजताको युग युगकी होना है नवनिर्मित।'

और यह तभी सम्भव है जब 'आत्मा ही बन जाय देह नव'। गान्धीवाद इसीके लिए जागरूक है। गान्धीवाद और छायावादकी मूल-प्रेरणा एक है, फलतः गान्धीवादकी विश्वसाधना (मानवकी आत्मसाधना) ही रवीन्द्रनाथके विश्व-प्रेममे भी है।

जारशाहीको समाप्त कर रूसने समाजवादको अपनी भौगोलिक परिधिमे साकार किया। यह एक आधुनिक प्रयोग था, अतएव आधुनिक ढङ्गसे सोचनेवाले देशोमे भी उसका असर पहुँचा। आधुनिक विश्व-साहित्यमे भी समाजवाद एक विश्वस्त चिन्तन बन गया। कलाकी सामाजिक परिणतियो (जीवनकी अभिव्यक्तियो) मे भी युगान्तर हो गया। भारत पराधीन रहा, फलतः गान्धीवाद भी राजनीतिक क्रान्ति द्वारा नहीं, बल्कि आत्मिक क्रान्ति द्वारा ही चिन्तनशील जगत्मे एक बौद्धिक धारणा बन सका। समाजवादकी तरह इसने अभीतक विश्वसाहित्यमे कलात्मक स्थान तो नहीं पाया, किन्तु विश्व-जीवनमे एक सूक्ष्म प्रेरणा-बिन्दु बन गया है।

समाजवाद अभी विश्वसाहित्यकी नूतनतम प्रगति ही बन सका है; विश्व-जीवन उसे स्वायत्त कर प्रकृतिस्थ नहीं हो सका है। प्रकृतिस्थ होनेके लिए किस विचार-बिन्दुपर विश्व स्थिर होगा, यह ऐतिहासिक (राजनीतिक) कोलाहलोंके शान्त होने पर ही स्पष्ट हो सकेगा। यद्यपि समाजवादके कारण विश्व-साहित्यमे युगान्तर हो गया है, किन्तु यह युगान्तर राजनीति, विज्ञान और अर्थ-शास्त्रसे संशय-ग्रस्त आधुनिक विश्वका ही रूपान्तर है। जबतक आधुनिकताका युगान्त नहीं होता तबतक केवल युगान्तरमे कोई भी आधुनिक प्रयोग सुरक्षित नहीं रह सकता, क्योंकि जिन वैज्ञानिक साधनोंसे साम्राज्यवाद सञ्चालित होता है उन्हीं साधनोंसे समाजवाद भी।

इसीलिए सोवियत रूस भी वर्त्तमान साम्राज्यवादी युद्धकी लपेटमे आ गया है। युगान्त तो साधनोके बदल देनेसे ही हो सकता है। गान्धीवादके सात्त्विक साधन युगान्तकी ओर ले जाते हैं। एक ही जैसे साधनोपर स्थापित स्वार्थोंके कारण समाजवाद और साम्राज्यवादका अनवरत सङ्घर्ष अनिवार्य है, ये एक हाथसे निर्माण करेंगे, दूसरे हाथमे अपने ही निर्माणका ध्वस। गान्धीवाद चिरसृजनात्मक है, इसलिए कि उसके साधन सामाजिक स्वावलम्बनको जगाते हैं, न कि राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विताको।

[२]

साहित्यके विविध युग

हमारे वर्तमान साहित्यमे अबतक चार युग बन सके हैं— भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग, गान्धी-रवीन्द्र-युग और प्रगतिशील-युग। भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युगका समापन गान्धी-रवीन्द्र-युगमे हो गया है। भारतेन्दुसे लेकर छायावादतकका युग सास्कृतिक है, प्रगतिशील-युग राजनीतिक। प्रगतिशील-युग भारतकी मूलचेतनामे भिन्न हो गया है, वह जीवनके अधिष्ठानको नहीं बल्कि उसके बहिर्मानको देखता है। पण्डित जवाहरलालने विश्व-साहित्यकी एक कान्फ्रेन्सकी विषय-सूची प्रकाशित कर पूछा था, इस दृष्टिसे हिन्दी-साहित्य कहाँतक बढा है? पण्डितजीकी निर्दिष्ट सूचीमे विचारके विषय जीवन और साहित्यको ऊपरी सतहपर ही छूते थे, उनमे प्रगति थी, धृति नहीं। हम कहेंगे, हिन्दी-साहित्य, साथ ही भारतीय साहित्यकी मौलिकता गान्धीवादमे है। हमारा साहित्य अपनी मौलिकतामे वहाँतक बढा है जहाँतक बापू। प्रगतिशील-युगसे विश्व-साहित्य प्रभावित है, किन्तु उसे गान्धी-युगसे सुपरिचित होकर फिरसे प्रगतिशील होना है।

हमारा आधुनिक साहित्य अभी अपनी प्रयोगावस्थामे है, क्योकि युग अभी स्वय प्रयोगकालमे है, विशेषतः प्रगतिशील-युग। फिर भी हमारा साहित्य अपने अद्यावधि अन्तर्बाह्य-विकासमे विश्व-जीवनकी हलचलोंको लेकर विश्व-साहित्यकी श्रेणीमे आ गया है।

भारतेन्दु-युग वर्त्तमान गद्य-साहित्यका आविर्भाव-काल और व्रजभाषा-युगका अवशिष्ट है, द्विवेदी-युग गद्य-साहित्यके प्रसार और खड़ीबोलीके नवजन्मका समय। भारतेन्दु-युग नवीन साहित्यका गर्भांकुर है, द्विवेदी-युग उसका विकास, गान्धी-रवीन्द्र-युग उसकी पूर्ण परिणति।

इन विविध युगोमे मुख्यतः एक ही युगका अभ्युदय हुआ, वह है सास्कृतिक-युग। राष्ट्रीय चेतनाने इस सास्कृतिक युगको देश-कालका एक बाहरी फ्रेममात्र दे दिया, जैसे वीरगाथा-कालने अपने समयके अनुरूप दिया था। मूलतः एक ही आर्षयुग चन्दसे लेकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्रतक अविच्छिन्न चला आया है, यह युग युगोकी गार्हस्थिक निष्ठाओसे विनिर्मित सामाजिक जीवनका अखण्ड युग है। मध्यकालीन राजनीतिक द्वन्द्वोंमे भी यह अक्षुण्ण था, क्योकि सन्तोंने इसकी आन्तरिक बुनियादको आत्मदुर्बल नहीं होने दिया। आर्य्य सन्तोकी सङ्गतिमे आकर सूफियोंने भी चिरअनुभूत सत्य (सस्कृति) को सुरक्षित रखा, उस सस्कृतिमे मुस्लिम समाजको भी जोडकर उन्होने सामाजिक जीवनका विस्तार किया। उस समयके इतिहासकी एकदेशीय परिधिमे यह मानवताका प्रारम्भिक रूप है—हिन्दू-मुस्लिम-एकता। परवर्ती कालमे आधुनिक राजनीतिने जब सामाजिक जीवनका शोषण और सास्कृतिक निर्माणका विघटन प्रारम्भ कर दिया तब प्रारम्भमे उसका प्रतिवाद राष्ट्रवाद (राष्ट्रीयता) द्वारा हुआ, राष्ट्रीय जागृति आ जाने पर गान्धीवाद द्वारा। वीरगाथाकालीन राजनीति राजाओसे सञ्चालित थी, सस्कृति सन्तोंसे।

यदि उस युगकी राजनीति सन्तोंके हाथोंमें आ जाती तो उसका जो सांस्कृतिक रूप होता उसीका युग-विकास है गान्धीवाद। एकदेशीय परिधि-में सूफियोंने हिन्दू-मुस्लिम एकताको मानवताका जो आदिरूप दिया, सर्वदेशीय परिधिमें उसीका विश्वरूप है गान्धीवाद। विश्वप्रेम या विश्व-मानवता (मानव-एकता) की बुनियाद भी वही है जो हिन्दू-मुस्लिम-एकताकी है, अर्थात् भीतरी बुनियाद—हार्दिक। यह बुनियाद राजनीतिक नहीं, सांस्कृतिक (आन्तरिक) है। इसका राजनीतिक प्रतिरोध निष्क्रिय अर्थात् अनुरोधात्मक है। मध्ययुगके सन्तों और वैष्णव कवियोंका जो स्वर राजनीतिके झञ्झावातमें अन्तर्नाद बनकर ही रह गया था, वह अब लोकातीत न रहकर बहिः-रन्ध्रोंमें भी प्रवेश कर गया है—सन्तोंकी परम्परामें गान्धीवाद, वैष्णवोंकी परम्परामें रवीन्द्रवाद (छायावाद) जीवन और साहित्यका वही चिरन्तन अन्तर्नाद है। इस प्रकार मध्ययुगसे लेकर गान्धी-रवीन्द्र-युग तक एक ही सांस्कृतिक-युग क्रमशः प्रस्फुटित होता आया है। मानो, पिछले युगोंने गान्धी-रवीन्द्र-युगमें एकसार होकर आधुनिक युगको भी आत्मदान दे दिया है।

आधुनिक युगका एक अध्याय यहाँ पूर्ण हो जाता है। दूसरा अध्याय प्रगतिवादसे प्रारम्भ होता है। जो अखण्ड सांस्कृतिक युग दो युगों (मध्य-युग और प्रारम्भिक आधुनिक युग) की कसौटियोंको पार कर गया है वह अब इस प्रगतिशील-युगकी कसौटीपर आ गया है।

वाङ्मयकी दृष्टिसे हमारे साहित्यके इन युगोंका निष्कर्ष यह है—भारतेन्दु और द्विवेदी-युगमें भाषाका परिष्कार हुआ, छायावाद-युग-में कलाका विकास हुआ, गान्धी-युगमें जीवन-दर्शनका सौहार्द मिला और प्रगतिशील युगमें राजनीतिक क्रान्तिका विज्ञान।

भारतेन्दु-युगमे साहित्यके सभी अवयव आ गये थे—कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, निबन्ध। किन्तु साहित्यके ये अङ्ग अविकच थे, इनका प्रस्फुटन द्विवेदीयुगमे हुआ, अलङ्करण छायावादमे, आत्ममन्थन गान्धीवादमे, ऐतिहासिक मन्थन प्रगतिवादमे।

भारतेन्दु-युग हमारे वर्त्तमान साहित्यका शैशव, द्विवेदी-युग कैशोर्य्य, छायावाद-युग यौवन, गान्धी-युग स्थैर्य्य, प्रगतिशील-युग लोकान्तर है।

भारतेन्दु और द्विवेदी-युग साहित्य और समाजके सुधारोन्मुख युग है। कुछ रूढियाँ भारतेन्दु-युगमे टूटीं, कुछ द्विवेदी-युगमे; किन्तु फिर भी रूढियाँ बनी हुई थी, साहित्य और समाज सर्वथा रूढ़िमुक्त नहीं हो सका था। छायावाद-युग और गान्धी-युगने इन रूढिमुक्त युगोको पूर्णतः रूढिमुक्त किया—छायावादने साहित्यकी रूढियोसे कलाको, गान्धीवादने समाजकी रूढियोसे चिन्तनको स्वतन्त्र किया। संस्कृतिके शतदलका मूल-तन्तु एक ही होनेके कारण इन सभी युगोमे परस्पर अभिन्नता है, केवल इनकी अभिव्यक्तिकी दिशाएँ इनके रुख-सुखके अनुसार क्रमशः फैलती गयी है। इन युगोको हम नैष्ठिक युग कह सकते है, ये ऊर्ध्वमुख है—आदर्शकी ओर। सृष्टि इनके लिए एक विश्व-पूजा है। ये विश्वासपरायण युग है।

प्रगतिशील युग बौद्धिक युग है। वह यथार्थकी ओर है, सृष्टि उसके लिए एक बॉयोलॉजी है। तर्क और मनोविज्ञान उसका अस्त्र-शस्त्र है। वह अर्थप्रवण है। वह जीवन और साहित्यकी क्यारियों (प्रणालियों) को निराता है। अपने स्थानपर वह ठीक है, किन्तु उसे अपनी दृष्टि इतनी स्वच्छ रखनी है कि कॉटोके साथ फूल भी निर्मूल न हो जायँ।

भारतेन्दु-युग

भारतेन्दु-युगमे यों तो साहित्यके सभी अवयव आ गये थे किन्तु मुख्यतः नाटक और निबन्ध उस युगकी आरम्भिक देन है। कविता ब्रजभाषामे ही चल रही थी, पिछली काव्य-परम्पराओंको सॅजोये हुए, किन्तु नाटकों और निबन्धोमे लेखन-कला अपेक्षाकृत पुरानी होते हुए भी उनमे नया उत्साह आ गया था। उनके शैली-निर्माणमे संस्कृतके सहयोगसे हिन्दीकी अपनी मौलिकता थी। गद्यमे प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट तथा काव्यमे जगन्नाथदास 'रत्नाकर', अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और श्रीधर पाठक उस युगके विकसित प्रतिनिधि है। रत्नाकरजीने खड़ी-बोलीसे ओज और काव्यकी शैली लेकर ब्रजभाषाको सजीव किया, उपाध्यायजीने ब्रजभाषासे आलम्बन और संस्कृतसे शैली लेकर खड़ी-बोलीको गाम्भीर्य्य दिया, पाठकजीने ब्रजभाषाकी सुकुमारतासे खड़ी-बोलीको माधुर्य दिया। ये प्रतिनिधि-कवि भारतेन्दु और द्विवेदी-युगकी वयःसन्धिके कवि है, इसीलिए इनमे ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनोंकी प्रवृत्तियाँ देख पडती है।

भारतेन्दु-युगमे जगा हुआ उत्साह द्विवेदी-युगमे विशेष सक्रिय हो चला था। लेखन-शैली एकप्रान्तीय न रहकर अपेक्षाकृत अन्तःप्रान्तीय हो गयी। भारतेन्दु-युगका गद्य मराठी और बॅगलाके प्रभावसे द्विवेदी-युगमे खड़ी-बोलीकी शक्ति और सुन्दरता पा गया। ब्रजभाषा भारतेन्दु-युगके साथ छूट गयी। खड़ीबोलीकी कविता ब्रजभाषाकी आस्तिकता और भारतेन्दु-युगकी नाटकीय चेतना (सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना) लेकर प्राणान्वित हुई।

द्विवेदी-युग

द्विवेदी-युगमे मुख्यत. कथा-साहित्यका उत्कर्ष हुआ —प्रबन्ध-काव्यो और कहानियोके रूपमे।

काव्यमे गुप्त-बन्धु (मैथिलीशरण-सियारामशरण) तथा गोपालशरण सिंह, रामनरेश त्रिपाठी और मुकुटधर पाण्डेय उस युगके प्रतिनिधि-चिन्ह है, कथा-साहित्यमे प्रेमचन्द, गुलेरी, कौशिक, सुदर्शन, ज्वालादत्त शर्म्मा। काव्यमे गुप्तजी और कथामे प्रेमचन्दजी अग्रगण्य है। इनका पूर्ण विकास गान्धी-युगमे हुआ।

द्विवेदी-युग अन्तःप्रान्तीय साहित्यके सहयोगमे था, किन्तु आगे चलकर इसका सहयोग अन्यदेशीय साहित्य (यथा, अग्रेजी) से भी स्थापित हुआ। यह ध्यान रखनेकी बात है कि भारतेन्दु-युगके साहित्यकार मुख्यतः उसी युगसे प्रभावित थे, किन्तु द्विवेदी-युगके सभी साहित्यकार उसके प्रभावसे सीमित नहीं थे। बाबू श्यामसुन्दरदास और पण्डित रामचन्द्र शुक्लने उस युगको अपना स्वतन्त्र अध्ययन दिया। सास्कृतिक चिन्तनकी दृष्टिसे ये साथ है, साहित्यिक अनुशीलनकी दृष्टिसे द्विवेदी-युगके आगे। भारतेन्दुके बादके युगको यदि हम आचार्य्य-युग कहें तो यह युग अपने समयके अन्य आचार्य्योंका भी नाम-निर्देश कर सकेगा। यह युग वर्तमान साहित्यका व्यवस्थापन-काल है। भाषा और शैलीका निर्माण और साहित्यका शास्त्रीय विवेचन इस युगका सदुद्योग है। यद्यपि रीति-कालकी अपेक्षा इस युगके साहित्यिक विचारोंमे बाहरसे विस्तीर्णता भी आयी, किन्तु वह भारतीय परम्पराको बनाये रही। उस युगका आर्यत्व काव्यमे गुप्तबन्धुओं-द्वारा और गद्यमे शुक्लजी और श्यामसुन्दरदासजी द्वारा पृष्ठपोषित है। स्वय द्विवेदीजी काव्यमे तो सस्कृतकी सस्कृति लेकर चले, किन्तु गद्यको उर्दूके सम्पर्कसे राष्ट्रभाषाका रूप भी दे गये। यह साहित्यिक राष्ट्रभाषा प्रेमचन्दकी कहानियों और उपन्यासों, पद्मसिंहके निबन्धों तथा रामनरेश त्रिपाठी, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' और माखनलालकी कविताओंमे प्रस्फुटित हुई।

द्विवेदी-युगमे वर्तमान साहित्यकी अभिव्यञ्जना-शक्ति बढी। गुप्त-बन्धुओंकी भाषा और शैली संस्कृतके वातावरणमे पली, निसर्ग द्विवेदी-युगकी पक्की खडीबोली है। हॉ, गुप्तबन्धुओंकी रचनाओंमे परुषता (ओजस्विता) अधिक है, खडीबोलीके शक्तिसञ्चय-कालमे यह स्वाभाविक ही है। साहित्यमे खडीबोलीके स्थान बना लेने पर ओजके बाद इसमे माधुर्य भी आया। ठाकुर गोपालशरण सिंहने माधुर्य दिया।

गुप्त-बन्धु

द्विवेदी-युगमे ही बङ्गालमें रवीन्द्रनाथके छायावादका प्रसार हुआ। इसका प्रभाव द्विवेदी-युगकी कवितापर भी पडा। द्विवेदी-युग लोकनिष्ठ था, छायावाद आत्मनिष्ठ; वह कवितामे कविको स्थापित करता था, कवित्वको व्यक्तित्व देता था। द्विवेदी-युगमे छायावादके आरम्भिक कवि हुए—जयशङ्कर 'प्रसाद' और मुकुटधर पाण्डेय। छायावादके अभ्युदयके पूर्व, स्वय गुप्तजीके 'झङ्कार' पर भी छायावादका प्रभाव पडा, सियारामशरणजीकी रचनाओ (विषाद, दूर्वादल, मृण्मयी, और पाथेय) पर भी। गुप्त बन्धु लोकसग्रहके पथपर भी चले, और आत्मसग्रह (छायावाद)के पथपर भी। असलमे प्रगतिशील युगके पूर्व, लोकसग्रह और आत्मसग्रह दो भिन्न पथ न होकर एक ही सास्कृतिक पथके युग्म पार्श्व है, अतएव एक पार्श्वका पथिक भी दूसरे पार्श्वकी दिशामे ही उन्मुख रहा। स्वदेश-सङ्गीत, विश्ववेदना, अनघ, अर्जन और विसर्जनमे गुप्तजीका जो लोकसग्रह है वही झङ्कार, साकेत, यशोधरा द्वापर और कुणाल-गीतमे भी। अन्तर यह कि झङ्कारसे द्वापरतक आत्म-प्रेरक लोकसग्रह है, स्वदेश-सङ्गीतसे अर्जन और विसर्जनतक लोकप्रेरक आत्मसग्रह। गुप्तजीका कवित्व आत्मप्रेरक लोकसग्रही काव्योंमे ही घनी-

भूत है, कारण, उन काव्योमे सवेदनको आन्तरिकता है। गुप्तजीकी तरह सियारामशरणने भी दोनो पार्श्व लिये—'मृण्मयी'से 'पाथेय'तक उनका आत्मसंग्रह है, तथा अन्तिम आकाक्षा, गोद, नारी और बापूमे उनका लोकसग्रह। किन्तु उनका लोकसग्रह गुप्तजीकी भाँति राष्ट्रीय न होकर गार्हस्थिक हो बना रहा, फलत· उनका साहित्य आत्मसग्रह-प्रधान रहा। 'झूठ-सच'मे आत्मसग्रह ही लोकसग्रह है।

गुप्तजीकी अपेक्षा सियारामशरणकी काव्य-रचनाओमे लालित्यका अभाव है। उन्होने छायावादसे उसकी शैली ही ली, सङ्गीत नहीं। किन्तु गुप्तजीने छायावादसे उसका माधुर्य्य भी उसी तरह लिया जिस तरह रत्नाकरजीने खड़ीबोलीसे ओज। इस आदानमे रत्नाकर-द्वारा व्रजभाषाकी और गुप्तजी द्वारा द्विवेदी-युगकी परम्परा बनो हुई है।

द्विवेदी-युग भाविककी अपेक्षा, तात्त्विक है। इसीलिए छायावादको अङ्गीकार करके भी उसका साहित्यिक प्रयत्न व्यावहारिक ही रहा। फलतः गुप्तजीका विकास रवीन्द्रनाथकी कलात्मक क्रान्तिमे न होकर गान्धीवादमे हुआ, सियारामशरणका विकास शरदकी सामाजिक क्रान्तिमे न होकर उनकी नैतिक आस्थामे।

द्विवेदी-युगके बाद काव्य छायावादकी ओर तथा कथा-साहित्य गान्धीवादकी ओर चला गया। छायावाद-युगमे द्विवेदी-युगका काव्य भी गान्धीवादमे अपना अस्तित्व बनाये रहा।

प्रेमचन्द

भारतेन्दुने जो सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना अपने साहित्यमे दी थी उसका प्रतिष्ठान द्विवेदी-युगमे हो गया। किन्तु भारतेन्दु-युगके अन्तर्गत उनके बादका कथा-साहित्य मध्ययुगकी जनताको उसीकी मानसिक

सतहपर साहित्यका आकर्षण दे रहा था। देवकीनन्दन खत्री और किशोरी-लाल गोस्वामी उस जनताके कथाकार थे जो किंवदन्तियों और उर्दूकी दास्तानोंसे अभ्यस्त थी। यह जनता जीवनमें कार्यव्यस्त और अपने अवकाशमें मनोरञ्जनप्रिय थी। उक्त कथाकारोंने इस जनताको औप-न्यासिक कौतूहल दिया। उस समय तक साहित्य जीवनकी प्रतिच्छाया नहीं बन सका था, वह एक दिवास्वप्न था। मनोरञ्जन ही उद्देश्य होनेके कारण देवकीनन्दन और किशोरीलालके उपन्यास कथानक-प्रधान हैं। चरित्र-चित्रण और आदर्शकी पूर्ति धर्मग्रन्थोंसे ही हो जाती थी। धर्म-ग्रन्थोंका क्षेत्र पारलौकिक अनुष्ठानके अन्तर्गत था। द्विवेदी-युगका काव्य और कथा-साहित्य पारलौकिक अनुष्ठानको सामाजिक अनुष्ठानके अन्तर्गत ले आया।

कथा-साहित्यमें प्रेमचन्द उर्दूकी उस सीमाको पार कर द्विवेदी-युगमें हिन्दीमें आये जिस सीमाकी जनताको देवकीनन्दन और किशोरीलाल अपने उपन्यास दे रहे थे। प्रेमचन्दने कथानकोंका रुख बदला, चरित्र-चित्रणकी कला दी, आदर्शको सामाजिक व्यक्तित्व दिया। काव्यमें खड़ीबोली मँज गयी थी, प्रेमचन्दके आगमनसे वह गद्यमें भी मँज गयी।

प्रेमचन्द स्वयं वह जनता थे जो एक ओर नीति-प्रवण थी, दूसरी ओर अपने दैनिक जीवनमें अनुभूति-प्रवण (भुक्तभोगी)। जनता जैसे हँसती-गाती, खाती-पीती और सोती-जागती है, प्रेमचन्दने उसे उपन्यासों और कहानियोंमें सजीव कर दिया। आदर्शके रूपमें उन्होंने जनताकी नैतिक-आस्था बनाये रखी, साथ ही सार्वजनिक जागृतिके प्रकाशमें लाकर उसके दैनिक जीवनका पथ-निर्देश भी किया। आदर्शको उन्होंने खण्डित नहीं किया, किन्तु आदर्शके पाखण्डका पर्दाफाश अवश्य किया, कृत्रिम-सुधारकों और ढोंगी लीडरोंकी विभीषिका दिखलाकर। एक शब्दमें, उनमें,

फलतः उनकी जनतामे, मध्ययुग (धार्मिक युग) की व्यक्तिगत नैतिकता और राजनीतिक युगकी सार्वजनिक नैतिकता थी ।

गान्धी-युगके पूर्व, प्रेमचन्द 'सेवा-सदन' द्वारा आर्यसमाजी चेतनाकी सतहपर साहित्यमे आये थे, गुप्तजी वैष्णव-परम्परा द्वारा सनातन-समाजकी सतहपर । अन्तमे दोनोकी परिणति गान्धीवादमे हुई, क्योकि दोनो मूलतः नैतिक आस्थावान थे। दोनोके लिए साहित्य एक जीवन-विधान है, जीवन स्वयं एक कला-विधान नही ; फलतः दोनोकी शैली टकसाली है । जीवनकी दृष्टिसे प्रेमचन्द 'गोदान'-द्वारा अपने भौतिक दृष्टिकोणको आर्थिक समस्या (समाजवादके उद्गम) मे छोड गये, गुप्तजी 'अर्जन और विसर्जन' द्वारा अपनी आस्तिकताको विस्तीर्ण कर हिन्दू-मुस्लिम एकता (सामाजिक सङ्गम) तक ले गये ।

द्विवेदी-युगमे वङ्गीय काव्यमे छायावाद (रवीन्द्रवाद)का प्रसार हो रहा था, कथा-साहित्यमे शरच्चन्द्रका उदय । द्विवेदी-युगके बाद काव्यपर छायावादका और कथा-साहित्यपर शरच्चन्द्रका प्रभाव पडा । इस अन्तरालमे अंग्रेजी और बँगलासे कुछ अनुवाद भी हिन्दीमे आते रहे,किन्तु वे पाठकोंके बीच ही रह गये ; साहित्यकी जीवनधारामे प्रेरणा नही बन सके। प्रेमचन्दके बाद शरच्चन्द्रकी प्रेरणा हमारे कथा-साहित्यको एक विशेष निर्माण दे गयी । जिस वैष्णव-परम्पराके गुप्तजी कवि है उसी परम्पराके शरच्चन्द्र कथाकार थे । किन्तु शरच्चन्द्र अपनी वैष्णवतामे पुरातन होते हुए भी अपनी नैतिकतामे नूतन थे । अतएव, वे न केवल गुप्तजीसे बल्कि प्रेमचन्दसे भी अधिक मनोवैज्ञानिक चरित्रकार थे । 'गोदान' से पूर्व, प्रेमचन्द चरित्रका उत्तरदायित्व व्यक्तिपर रख देते थे, शरच्चन्द्र शुरूसे ही समाजपर । नैतिक दायरेमे प्रेमचन्दका दृष्टिकोण व्यक्तिवादी है, शरच्चन्द्रका सामाजिक समाजवादी । बुरेको बुराईसे निकालकर अच्छाईमे दिखलाना

प्रेमचन्दके चित्रणका ध्येय था, शरच्चन्द्रका ध्येय बुराइयोंके बीच मनुष्यकी निर्मलता दिखलाना था। इस चित्रणमे बुराइयॉ मनुष्यकी नही, समाज-की है—उस समाजकी जो भलेको बुरा और बुरेको भला बताता है। समाजका ऐसा अन्ध-दृष्टिकोण क्यो है? 'चरित्र-हीन'मे शरदने सङ्केत किया है कि समाज चरित्रको स्थूल मापदण्डसे मापता है, वह चरित्रकी नहीं, शक्ति और वैभवकी पूजा करता है। राजनीतिक समाजवाद इसी शक्ति और वैभवको सन्तुलित कर समाजको स्वस्थ करना चाहता है, वह स्थूल विकारका स्थूल उपचार है। किन्तु शरदका चरित्र सूक्ष्म सवेद-नासे बॅधा हुआ है, देवदास और पार्वतीकी तरह। उनमे हृदयकी अभिन्नता है, जहॉ अकिञ्चनता और सम्पन्नता दोनो निःस्व हो जाती हैं। नि.स्व समर्पण ही शरदका जीवन-मन्त्र है।

प्रेमचन्दने अपने साहित्यमे आदर्श और रोमास दिया, शरदने इसमे यथार्थको भी मिला दिया, साथ ही, आदर्श, यथार्थ और रोमासको देखनेका एक भिन्न-दृष्टिकोण भी दिया। उनका दृष्टिकोण सूक्ष्म है, प्रेमचन्दका दृष्टिकोण स्थूल। प्रेमचन्दका नैतिक दृष्टिकोण सम्पत्तिवादी युगका है, इसीलिए 'सेवासदन'की सुमन एक वेश्या है जिसे आत्मसुधारके लिए विधवाश्रममे जानेकी आवश्यकता पडती है, किन्तु शरदकी चन्द्रा और राजलक्ष्मी सतियोसे भी पावन है। वे अन्त.शुद्ध है, कामिनी नहीं, अनुरागिनी हैं। शरदके लिए आदर्श एक रूढ़ नीति नहीं, साधना है, यथार्थ नग्नता नही, समस्या है, रोमास प्रणय-विलास नहीं, आत्मपरिणय है। नैतिक क्रान्तिकारी होते हुए भी शरद सनातन-समाजके अस्तित्व-रक्षक सास्कृतिक कलाकार थे। आर्यसमाज और ब्राह्मसमाजकी तरह केवल रूढ़ि-परिवर्त्तन नहीं, हृदय-परिवर्त्तन चाहते थे। यही हृदय-परिवर्त्तन गान्धीवादमे भी है और रवि बाबूके 'गोरमोहन'मे भी।

अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे प्रेमचन्दका कथा-साहित्य घटनामूलक है, शरदका आत्ममन्थन-मूलक। चरित्र-चित्रणमे प्रेमचन्दका मनोविज्ञान ड्राइङ्गकी तरह उभरा हुआ है, शरदका मनोविज्ञान छायाचित्रकी तरह साङ्केतिक। प्रेमचन्दमे मुखरता है, शरदमे नीरवता। प्रेमचन्दके साहित्यसे परिज्ञान होता है, शरदके साहित्यसे अन्तर्जिज्ञासा। अवश्य ही प्रेमचन्दका धरातल शरदसे बहुत बड़ा है, एक आन्दोलित साम्राज्यकी तरह—सामाजिक और राजनीतिक ; शरदका धरातल एक स्वायत्त उपनिवेशकी तरह छोटा-सा है—पारिवारिक। शरद जीवनके केन्द्रमे स्थित है।

शरदके प्रतिनिधि-चिन्ह

यो तो शरदका प्रभाव प्रेमचन्दके बादके अनेक तरुण-लेखकोपर पडा, किन्तु शरदके जीवन-दर्शन और साहित्य-कलासे प्रेरित हिन्दीके प्रतिनिधि कथा-लेखक ये हैं—जैनेन्द्र, सियारामशरण, वृन्दावनलाल वर्म्मा। जैनेन्द्रने सवेदनशील दार्शनिकता ली, सियारामने गार्हस्थिक निष्ठा, वृन्दावनने उत्क्रान्ति। वृन्दावन यद्यपि साहसिक औपन्यासिक है तथापि सामाजिक आदर्शके प्रतिष्ठानमे इन सभी लेखकोने चरित्रका वह सूक्ष्म पार्श्व दिया जो शरदके उपन्यासोमे है। नगण्य, बहिष्कृत, तिरष्कृतका महत्त्व इन लेखकोने शरदकी तरह ही स्थापित किया है। जैनेन्द्रमे शरदकी सामाजिक दार्शनिकता और सियाराममे आन्तरिक जागरूकता स्पष्ट है, किन्तु वृन्दावनमे शरदकी मानवता प्रस्तरस्तूपमे झिरझिरीकी तरह अन्तर्व्याप्त है। जैनेन्द्र और सियारामने मनुष्यका कोमल व्यक्तित्व लिया है, वृन्दावनने पुरुषका दुर्द्धर्ष व्यक्तित्व ; इसीलिए उनके उपन्यास साहसिकताकी ओर है। किन्तु 'प्रत्यागत' मे उनका औपन्यासिक अन्तःकरण वही है जो शरदका। 'प्रत्यागत' और सियारामशरणके उपन्यासोमे शरद बाबूकी शैली इतनी साफ उतरी

है कि वे हिन्दीके हो गये है। आगे चलकर वृन्दावनकी औपन्यासिक शैली बदल गयी और जैनेन्द्रकी तो सामाजिक चेतना ही शारदीय रही, औपन्यासिक शैली शरदसे सर्वथा भिन्न (प्रवचनात्मक) है।

जैनेन्द्रकी शैली दृष्टान्तात्मक कथाकी नवीन शैली है, प्रवचनकी पद्धतिका उन्होने साहित्यिक विकास किया है—यथा, 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' मे। जैनेन्द्रने शरदके उपन्यासोंको 'धर्मग्रन्थ' कहा है, यही बात जैनेन्द्रके उपन्यासोके लिए भी कही जा सकती है। उनकी भाषा सत्यके शोधकी भाषा है, अतएव उसमे मनोवैज्ञानिक उत्तरदायित्व अधिक है। नेति-नेतिके कारण उनकी भाषामे एक दार्शनिक सङ्कोच है, इसीलिए वस्तुस्थितिको वे बिना किसी अतिरेक-व्यतिरेकके उसके बिलकुल ठीक मीटरमे रखनेका यत्न करते है। जैनेन्द्रकी यह सजग अभिव्यक्ति उनके अपने मनके मुहावरोसे सधी-बॅधी है। वे सूक्ष्मदर्शी मनोवैज्ञानिक दार्शनिक हैं।

एकरूपता और विविधता

जैसा कि पहिले कहा है, गुप्तजी और प्रेमचन्दजीकी शैली टकसाली है, यही बात शरदकी शैलीके लिए भी कही जा सकती है और जैनेन्द्रकी शैलीके लिए भी। यद्यपि इनकी भावना, भाषा और शैली अपने-अपने व्यक्तित्वके सॉचोमे ढली है, इसलिए इनमे परस्पर विविधता है, किन्तु स्वय इनकी अभिव्यक्तियोकी परिधिमे एकरूपता आ गयी है। एक बॅधे हुए रूपमे रचनाका सीमित हो जाना टकसालीपन है। प्रेमचन्दकी रचनाओमे यह बहुत स्पष्ट है। जहॉ भावात्मकताकी जितनी ही कमी होगी वहॉ अभिव्यक्तिमे उतनी ही स्थावरता आ जायगी। उद्देश्य-मूलक रचनाओमे स्थापना रहती है, कला-मूलक रचनाओमे उद्भावना, स्थापना-

मे स्थिरता रहती है, उद्भावनामें उर्वरता । भावात्मक वैष्णव-सस्कृतिसे स्निग्ध होनेके कारण गुप्त, शरद और जैनेन्द्रकी रचनाओमे स्थावरता होते हुए भी प्रेमचन्दकी अपेक्षा शाद्वलता है ।

सभी उन्नत कलाकार स्थापक तो होते ही है, फलतः कला-मूलक रचनाकार भी स्थापक होता है क्योंकि वह आत्मोपलब्धिको कलामे सँजोता है । किन्तु स्थापनामे जितनी ही उद्भावना आती जाती है उतनी ही स्थावरता कम होती जाती है, उद्भावनासे उर्वर होकर स्थावरता अपने विकास-मे स्थविरत्ता और कवित्ता हो जाती है । इस दृष्टिसे शरदकी कलामे स्थविरता है, रवीन्द्रकी कलामे कविता । रवीन्द्र और बापूकी तरह कवि और स्थविर बहुत पास-पास हैं, क्योंकि दोनोंमें आत्मसूत्र एक ही है; केवल जीवनकी बुनावटमे बाह्यभेद है—एक कलाकी बारीकीमे सौन्दर्यका अञ्चल बुनता है, दूसरा कलाकी उपयोगितामें शिवका परिधान । चूँकि स्थावर, स्थविर और कवि मूलमे ये सभी स्थापक ही हैं, अतएव एककी अभिव्यक्ति अन्यमे भी मिल जाती है, इस दृष्टिसे बापू, रवीन्द्र और शरद अभिन्न हैं । द्विवेदी-युगके बाद साहित्यमे गान्धीवाद और छायावादका विकास एक ही साधक-परिवारका विकास है । गान्धी-वादके साहित्यकार प्रेमचन्द्र, मैथिलीशरण, सियारामशरण और जैनेन्द्र, तथा, छायावादके कलाकार प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी ये सब एक ही परिवारकी प्रजाएँ है, इनमें शिल्प-भेद है, मनोभेद नही । भार-तेन्दु-युगसे लेकर छायावाद-युगतक एक ही मनोजगत्का उत्तरोत्तर विकास है क्योंकि इनका सास्कृतिक धरातल एक है ।

द्विवेदी-युगमे रवीन्द्रनाथके प्रभावसे प्रसाद और मुकुटधर-द्वारा जिस छायावादका आरम्भ हुआ उसका विकास गान्धी-युग (सन् '२०) मे हुआ । जीवनकी सूक्ष्म धारणाओंके लिए जिस मानसिक धरातलकी

आवश्यकता थी, गान्धी-युगमे उसके लिए क्षेत्र प्रस्तुत हो गया था। यद्यपि छायावादका प्रारम्भ रवीन्द्रनाथके प्रभावसे हुआ, तथापि जिस तरह सार्वजनिक जाग्रतिको अन्य देशीय प्रेरणाएँ मिलती रहीं उसी तरह साहित्यको भी। जीवन और साहित्य अंग्रेजीके सम्पर्कमे अधिक होनेके कारण हमे उसका विशेष आभार मिला। किन्तु यह आभार ऊपरी है, टेकनीक और डिजाइनमे। पहिले टेकनीक और डिजाइन भी भारतीय ही थे—वैष्णव-शैलीमे ; किन्तु जैसे 'भानुसिंह-पदावली'के बाद रवीन्द्र-नाथकी कलाका वाह्य-रूपान्तर हो गया वैसे ही अपने यहाँ 'झङ्कार'के बाद छायावादकी कलाका। छायावादके मूलतलमे वैष्णव-सस्कृति बनी रही, अतएव इसकी युग-परम्परा अखण्ड है।

छायावादमे भावप्रवणता है, फलत: उसमे उर्वरता और शाद्वलता है, स्थावरता नहीं। उद्भावनाशील होनेके कारण उसमे वह टकसालीपन नहीं आने पाया जिसका निर्देश ऊपर हो चुका है। यद्यपि छायावादके भी कुछ शब्द, कुछ तर्ज, कुछ भाव अब रूढ हो गये है, तथापि हृदय-तरल प्रवाहके कारण वे गतिशील है, उनमे स्थावरता नहीं रह गयी है।

छायावादका कवि पद्यकार नहीं, आत्मस्रष्टा है, अतएव उसकी शैलीमे उसका व्यक्तित्व और उसके भावोमे उसका स्वगत-ससार रहता है। प्रत्येक कवि अपनी रचनामे एकरूप है, किन्तु उसकी एकरूपता दैनिक जीवनसे भिन्न होनेके कारण आन्तरिक नवीनताका आकर्षण रखती है।

जहाँ कविका व्यक्तित्व ही कवित्व बन जाता है वहाँ काव्य-निर्माणमे एकरूपता आ ही जाती है, किन्तु छायावादके विविध कवियोने अपने वैविध्यसे बहुपुष्पित उद्यानकी भाँति भाव-जगत्को प्रशस्त कर दिया है। यो तो सृष्टि स्वय एक बहुत बडी मॉनोटोनी है, वहाँ एक ही क्रम अटूट चलता रहता है—जन्म-मरण, किन्तु इस एकरूपतामे पड्ऋतुओंकी

नवीनता है, सौन्दर्य्य और सङ्गीतकी विविधता है, इसीलिए उसकी एक-रूपता अखरती नही। छायावादका कवि भी अपनी सृष्टि (कविता) मे हर्ष-विषाद (जन्म-मरण) से सीमित होते हुए भी कुछ अवान्तर नवीनता उत्पन्न कर लेता है—रूप, रस और गन्धमे।

छायावादके गीतकाव्यमे कवि-विशेषकी रचनाओमे एक ही भाव, भाषा और शैलीकी मॉनोटोनी हो सकती है, उसके जीवनके निश्चित स्वरके अनुरूप। किन्तु यह मॉनोटोनी सूर, मीरा और तुलसीके सङ्गीतमे भी मिलेगी। जहॉ जीवन किसी ध्रुव-टेकपर केन्द्रित हो जाता है वहॉ एक ही आवृत्ति सहस्रनाम होकर अन्तर्लीनताको सूचित करती है, एकरूपतामे अखण्डताका बोध देती है। ऐसी रचनाओंके लिए आत्मसवेदन अनिवार्य है, तभी श्रोतामे श्रुति-सवेदन भी उत्पन्न हो सकता है।

छायावाद-युग

छायावाद-युग हमारे वर्तमान-साहित्यका कला-युग है। उसकी नवीनता जीवनमे नही, जीवनकी अभिव्यक्तिमे है। उसमे जीवन तो वही भाव-वैभवके युगका है, किन्तु उसका अभिव्यक्तीकरण और दृष्टि-उन्मीलन नवीन है। उसने साहित्यके विभिन्न अङ्गो (कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक और निबन्ध) को कलाका नया साज-सॅवार और नयी दृष्टिभङ्गी दी है, फलतः उसकी शैली और चित्रणमे नूतन चारुता है। यो कहे, व्यवहार-शुष्क खड़ीबोलीको जीवनका अन्तर्लेपन वैष्णव-सस्कृतिसे मिल गया था, कलाका अन्तर्लेपन छायावादसे मिल गया।

छायावाद-काल यो तो खडीबोलीकी कविताका कला युग है, फिर भी इसके द्वारा साहित्यके अन्य विभिन्न अङ्गो (कहानी, उपन्यास, नाटक और निबन्ध) की भी श्रीवृद्धि हुई है। खडीबोलीकी स्थापना

तो द्विवेदी-युगमे हो गयी, किन्तु भारतेन्दु-युगमे साहित्यके विभिन्न अङ्गोका जो सूत्रपात हुआ उसका कलात्मक विकास छायावाद-कालमे ही हुआ। काव्यमे गुप्तजी और कथा-साहित्यमे प्रेमचन्दजी आधुनिक अभिव्यक्तियोके लिए खडीबोलीको सुसङ्घटित कर गये, भारतेन्दु-युगकी चेतनाको द्विवेदी-युगका ओज दे गये ; इसके बाद छायावाद-कालने आत्मरससे सीच-सीचकर उसके वहिरन्तरको शिल्प-स्निग्ध कर दिया। कविता तो हृदयका छन्द पाकर भावात्मक हो ही गयी, कहानी, उपन्यास, नाटक और निबन्ध भी हृदयका अन्तःसूत्र पा गये। एक शब्दमे, छायावाद-द्वारा आलम्बन और अभिव्यक्ति दोनो अन्तर्मुखी हो गये। यदि परिपाटीकी स्थूलतामे हृदयकी सूक्ष्मताका जागरण रोमैण्टिसिज़्म है तो नि.सन्देह छायावाद-युग रोमैण्टिक युग है। द्विवेदी-युग शास्त्र-विहित है, छायावाद-युग साधना-निहित। द्विवेदी-युग रचना-कारोका है, छायावाद-युग कलाकारोका। हिन्दी-काव्य और कथामे रवीन्द्र और शरदकी कलाका विकास इसी युगमे हुआ।

सबसे पहिले सामने आते है छायावादके वयोधिक कलाकार प्रसाद-जी। प्रसादजीका प्रारम्भ द्विवेदी-युगमे हो गया था, एक तरहसे पन्त और निरालाका प्रारम्भ भी उसी युगमे है ; किन्तु द्विवेदी-युगकी साहि-त्यिक स्थावरतासे सङ्घर्ष सबसे पहिले प्रसादजीका हुआ, जो कि पन्त और निरालाके विकास-कालमे और भी स्पष्ट होकर अपनी रूढिगत जडताके कारण स्वय समाप्त हो गया। द्विवेदीजीकी अपेक्षा अधिक उन्नत-मस्तिष्क आचार्य शुक्लजी भी भीष्मकी तरह विरोधी महारथियोमे थे, किन्तु वे अपने युग-दोषसे ही विवश थे, हृदयसे विकासकी ओर थे ; अन्तमे उनके सहृदयतापूर्ण विश्लेषणसे छायावादको द्विवेदी-युगकी शास्त्रीय प्रतिष्ठा भी मिल गयी।

प्रसादजीकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उनकी कृतियोंमें परिष्कारकी कमी हो सकती है, विशेषतः भाषाकी ; किन्तु उनकी रचनाएँ अपने स्थानपर अप्रतिम है। प्रसादजीने संस्कृतकी साहित्यकलाको ही बँगलाकी प्रेरणासे हिन्दीके अनुरूप नवीनता दे दी। यही बात निरालाजीकी रचनाओंके लिए भी कही जा सकती है। संस्कृत हिन्दीमें आकर नागरिकता पा जाती है, बँगलाके सहयोगसे छज जाती है, अंग्रेजीकी कलाद्युतिसे प्राञ्जल हो जाती है। जो बात भाषाके सम्बन्धमें, वही बात शैलीके सम्बन्धमें भी है। इस दृष्टिसे छायावादकी कविताकी भाषा और शैलीकी पूर्ण प्राञ्जलता पन्तमें है, गद्यकी प्राञ्जलता महादेवीमें।

कवित्वकी दृष्टिसे प्रसाद और निरालामें भावनाकी गम्भीरता है, पन्तमें कल्पनाकी उर्वरता और उर्मिलता, महादेवीमें अनुभूतिकी मार्मिकता। खड़ीबोलीमें गीतिकाव्यका उत्कर्ष इन्हीं कला-कुशल कवियों-द्वारा हुआ। अपनी मार्मिक अनुभूतिके कारण महादेवीके गीत अधिक प्रभावशाली हुए। यद्यपि छायावादके गीतकाव्यका प्रारम्भ प्रसादके नाटकीय गीतों-द्वारा, और प्रचार महादेवीके गीतों-द्वारा हुआ, तथापि छायावादकी सभी मुक्तक कविताएँ अपने भावोंमें सङ्गीत मय होनेके कारण अपनी अभिव्यक्तिमें भी गीतकाव्यात्मक हैं। गीतकाव्यका प्रधान गुण (आत्मोन्मुखता) इस युगकी सभी रचनाओंमें है।

अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे प्रसादजी दृष्टान्त और अन्योक्तिकी ओर हैं, पन्त उपमा और तद्रूपताकी ओर, निराला साङ्ग-रूपककी ओर, महादेवी अभेद-रूपकताकी ओर। अभिव्यक्तकी दृष्टिसे प्रसाद और निराला सामाजिक दार्शनिक हैं, पन्त और महादेवी आन्तरिक प्रेक्षक। पन्त अपने प्राकृतिक सौन्दर्य्यमें लोकोत्तर हैं, महादेवी अपनी आध्यात्मिक वेदनामें। सामाजिक धरातलके कारण प्रसाद और निरालामें विविध रस हैं, व्यक्तिगत धरातलके

कारण पन्त और महादेवीमे स्वरस है। किन्तु सब मिलाकर प्रसाद और महादेवीमे निर्वेद है, निरालामे उद्वेग, पन्तमे समोद्रेक।

जो अन्तर्वेदना महादेवीके गीतकाव्यमे आध्यात्मिक अतृप्ति है वही रामकुमारकी 'चित्ररेखा' मे भी; यद्यपि उनका शृङ्गार कहीं कहीं अल्हड हो जाता है।

छायावाद-युगकी कवितामे शिल्प-विन्यासकी समानान्तर एकता है, फिर भी द्विवेदी-युगकी अपेक्षा इसमे भाषा, भाव, शैली और आलम्बन-की विविधता है।

हॉ, द्विवेदी-युग प्रबन्ध-काव्योंसे सुसम्पन्न था, किन्तु छायावाद-युग उससे रिक्त। प्रसाद और निराला-द्वारा छायावादको प्रवन्ध काव्य भी मिल गये है—'कामायनी' और 'तुलसीदास'। 'कामायनी' लोकजीवनके भीतरसे आत्मदर्शनमे विश्वदर्शनका काव्य है, 'तुलसीदास' सौन्दर्य्य-दर्शनके भीतरसे आत्ममन्थनमे अन्त.साक्षात्का काव्य। 'कामायनी'की अपेक्षा 'तुलसीदास' की कलात्मक नवीनता उसके अन्तर्गठन (अन्तर्वन्ध)मे है। निरालाजी काव्यकलाके तन्त्रविद् (टेकनीशियन) कवि है। उन्होने छन्दोमे, गीतो-मे, प्रवन्ध-काव्यमे नवीन कलात्मक प्रयोग किये है। यों तो सभी रोमैण्टिक कवि टेकनीशियन भी होते है, किन्तु इस दृष्टिसे निरालाजी अधिक रोमैण्टिक हैं। काव्यके टेकनिकल प्रयोगमे आप निरन्तर तत्पर है। सङ्गीत-प्रयोगके बाद अब आप चित्र-प्रयोग कर रहे हैं। इधर आपने लघु दृश्य-चित्रणकी एक तटस्थ कला दी है जिसके द्वारा थोडेमे बडी सरलता, स्वच्छता और स्वाभाविकताने एक परिपूर्ण वातावरण सजीव कर देते है। यथा—

किरने कैसी कैसी फूली, आँखें कैसी कैसी तुली
चिडियां कैसी कैसी उडी, पॉखें कैसी कैसी खुली

रङ्ग कैसे कैसे बदले; छाये कैसे कैसे बादल
बूँदें कैसी कैसी पड़ी, कलियाँ कैसी कैसी धुलीं

भाई-भतीजेके सङ्ग नैहरको आयी हुई
सहेलियाँ कैसी कैसी बगीचोंमें मिली-जुली
कैसे कैसे गोल बाँधे, कैसे कैसे गाने गाये
छड़ियों-सी कैसी-कैसी कड़ियोंमें हिली-डुली

इस तरहके शब्द-चित्र मात्रिक छन्दोंके फ्रेममे तो खिल पड़ते हैं किन्तु अतुकान्त मुक्तछन्दमे कृश पड जाते है; कारण, अतुकान्त मुक्त छन्दका दीर्घायतन भाषाका मासल भराव चाहता है जो कि संस्कृत शब्दावलीसे ही सम्भव है।

प्रसादजीका कलात्मक प्रयत्न काव्यको विविध अवयव (अतुकान्त, गीतनाट्य, गीतकाव्य) देनेमे रहा, निरालाका प्रयत्न इन विविध अवयवोंको नूतन गठन देनेमें, पन्त और महादेवीका प्रयत्न मुक्तकोको मर्य्यादित नवीनता देनेमे।

पन्त और महादेवी प्रबन्ध-काव्यकी ओर नहीं जा सके। प्रबन्ध-काव्यकी उपयोगिता सामाजिक अवतारणाके लिए है। पन्त और महादेवीने सामाजिक चेतनाको अन्य रूप दिया—महादेवीने अपने गद्य-लेखो और संस्मरणोमे, पन्तने अपनी नाट्यकृतियो ('ज्योत्स्ना' और एकाङ्की नाटको) तथा युगमयी काव्य-रचनाओंमे।

साहित्यिक प्रयत्नकी दिशामे प्रसाद और निरालामे लेखन-साहचर्य है—कविता, कहानी, उपन्यास और निबन्ध। इसके अतिरिक्त प्रसाद नाटककार भी है। निरालाकी अपेक्षा प्रसादके गद्य-साहित्यमे अधिक घनत्व है। उनके काव्यकी तरह ही उनके गद्य-साहित्यमे भी एक पुञ्जी-

भूत गम्भीर स्थापत्य है । भारतेन्दु-युगसे लेकर छायावाद-युग तकके साहित्यकारोमे प्रसादका स्थान गुरुतम है । गद्य और काव्यका इतना घनीभूत कृतित्व इन युगोमे अन्यत्र नहीं मिलेगा । उनका साहित्य एक परिपूर्ण सांस्कृतिक कोष है ।

प्रसादका साहित्य

प्रसादके उपन्यास और बृहत् नाटक मानो एक-एक महाकाव्य है, छोटी कहानियाँ और एकाङ्की एक-एक खण्डकाव्य । प्रसादजी मुख्यत कवि है, किन्तु सामाजिक दार्शनिक होनेके कारण उन्होने जीवनको विविध लोकभूमिके विस्तृत प्राङ्गणमे रखकर देखा है ।

प्रेमचन्दके बाद हिन्दीकी कहानी-कलाको प्रसादने एक नवीन भावात्मक शैली दी है । घटना और चरित्र-चित्रणके बजाय सुकोमल मर्म्म-स्पन्दनमे उनको कहानियोकी सजीवता है । इस शैलीका एक सुदृढ़ विकास राय कृष्णदासके 'सुधांशु' की कहानियोमे हुआ है—उनमे प्रेमचन्दके वस्तुचित्रपट और प्रसादके मर्म्मव्यञ्जक चित्रणका सुन्दर सम्मिश्रण है । मूलमे कहानीकी यह शैली रवीन्द्र-शैली है, जिसमे काव्यके बाद कहानीमे छायावादकी अपनी कला है ।

प्रसादजी कविता और कहानीमे जितने भावुक है अपने उपन्यासोमे उतने ही वास्तविक । यो कहे, प्रेमचन्दके आदर्शवादके बाद प्रसाद यथार्थवादके उपन्यासकार हैं । 'कङ्काल' मे उन्होने अबतकके समाजका नैतिक खोखलापन दिखाया है, 'तितली' मे नवजाग्रत राष्ट्रका सामाजिक प्रयत्न । फिर भी प्रसाद वर्तमानसे अधिक भूतकालके कलाकार थे । काव्यमे 'कामायनी' और उपन्यासमे 'इरावती' द्वारा वे उसी ओर लौट गये ।

प्रसादजी वस्तुतः काल-रहित चिरजीवनके कलाकार थे, अतएव उनके अतीतमें वर्तमान और भविष्य भी गुणीभूत हो गया है।

प्रसादके उपन्यास घटना-बहुल हैं, उनमें चरित्र-चित्रणकी वह अन्तः-सूक्ष्मता नहीं है जो उनकी कहानियों और नाटकोंमें है। सच तो यह कि प्रेमचन्दके बजाय वे देवकीनन्दन और किशोरीलालके औपन्यासिक युगको आगे ले गये—रहस्य और कुतूहलके भीतरसे एक सामाजिक जागृतिका सङ्केत देकर।

उपन्यासोंकी तरह ही प्रसादके नाटक भी घटना-बहुल हैं, किन्तु नाटकोंमें उनका वह सूक्ष्म अन्तःस्पन्दन और जीवन-दर्शन भी अन्तर्नि-हित है जो उनकी काव्यरचनाओंमें है। प्रसादके नाटकोंमें उनके उप-न्यासों, कहानियों और कविताओंका आसव है।

नाटकोंमें प्रसादकी मनोवृत्ति एक दार्शनिक राजनीतिज्ञकी है; 'चन्द्रगुप्त' के चाणक्यमें उनका व्यक्तित्व है। उनके नाटकोंमें जीवनके दो धरातल हैं—बहिर्जगत् और अन्तर्जगत्, फलतः उनमें द्वन्द्व भी दुहरे हैं—बहिर्द्वन्द्व और अन्तर्द्वंद्व। द्वन्द्वोंके तुमुल सङ्घातमें उनके नाटक प्रसादान्त हैं।

प्रणय-प्रसङ्गोंमें प्रसाद कवि हैं, बहिर्द्वंद्वोंमें राजनीतिक, अन्तर्द्वंद्वोंमें दार्शनिक। यों कहें, नाटककार प्रसाद बौद्ध, बौद्धिक और भावुक व्यक्तित्वोंके एकीकरण हैं। उनके प्रणयमें चिरतारुण्य है, राजनीतिमें औदात्य है, दार्शनिकतामें सर्वस्व-विसर्जन। 'स्कन्दगुप्त'-नाटकमें इन विविध वृत्तियोंकी मनोहर अन्विति है।

प्रसादके नाटक प्रायः ऐतिहासिक हैं। उनके नाटकोंमें कुछ बाह्य त्रुटियाँ हो सकती हैं, किन्तु सब मिलाकर उनमें जीवन-समुद्रका दिगन्त-हिल्लोल और उद्घोष है। सजीवता और मार्मिकता उनके नाटकोंकी

विशेषता है। भारतेन्दु-युगके बाद छायावाद-युगमें ही प्रसादजी द्वारा हिन्दी-नाट्यकलाका महोत्थान हुआ। उनके बाद नाटकीय प्रयत्न अन्यान्य लेखकों द्वारा आगे बढ़ा है, किन्तु उनमें जीवनका वह अन्तर-मथित अतल गाम्भीर्य नहीं है जो प्रसादके नाटकोंमें है। उनके बादके नाटकोंमें रङ्गमञ्चकी उपयुक्तता हो सकती है, किन्तु वे जीवनके बहिर्तलपर ही तैरते हैं।

छायावाद-युगमें नाट्यसाहित्यको एक नयी देन है पन्तजीकी 'ज्योत्स्ना'। यह एक स्वप्न-नाट्य है जो टेकनीककी दृष्टिसे पूर्णतः छाया-वादकी अपनी सृष्टि है, यद्यपि ऊहाके कारण बोझिल हो गयी है। यह पन्तका प्रथम प्रयास है। इधर पन्तने जो एकाङ्की नाटक (छाया, परिणीता, साधना, स्रष्टा, स्वप्न-भङ्ग) लिखे हैं उनमें उनका युग-विकास भी हुआ है और नाट्य-विकास भी।

सृजन और अनुशीलन

इस प्रकार हम देखते है कि छायावाद-युगमें वर्तमान साहित्य समृद्ध हुआ है। इस युगके कवियोंने छायावादका काव्यशिल्प भी दिया और गद्यशिल्प भी। प्रसादकी गद्य-रचनाओंका उल्लेख ऊपर हो चुका है। उनके अतिरिक्त, निरालाने कहानी, उपन्यास और निबन्ध भी लिखे, रामकुमारने एकाङ्की नाटक और साहित्यिक इतिहास, महादेवीने व्यक्तिगत संस्मरण तथा सामाजिक और साहित्यिक लेख। पन्तने नाट्यरचनाओंके अतिरिक्त, 'पाँच कहानी' भी दी, जिसमें उन्होंने 'ज्योत्स्ना' के चिन्तनको भावी समाजका चित्रपट दिया।

पन्तमें जीवन और साहित्यके गम्भीर विश्लेषणकी तात्त्विक क्षमता भी है। यह प्रयत्न भाव-युगसे बौद्धिक युग (प्रगतिशील- युग) में जाकर सम्भव हो सका। 'आधुनिक काव्य' के सङ्ग्रहमें पन्तने छायावादकी

अपनी रचनाओंके अन्तर्जगत्का मनोवैज्ञानिक उद्घाटन (काव्यकी अन्त-रङ्ग-कलाका विवेचन) तथा प्रगतिवादका सामाजिक दर्शन बडी गूढ़ता और स्वच्छतासे उपस्थित किया है।

द्विवेदी-युगमे साहित्यिक विवेचनका जो क्रम प्रचलित हुआ वह इस युगमे प्रसरित हुआ। द्विवेदी-युगमे जब कि विवेचना आचार्यो-द्वारा ही होती थी, छायावाद-युगमे इसके शिल्पियो द्वारा भी होती रही। प्रसादने 'काव्यकला तथा अन्य निबन्ध' मे, निरालाने अपने 'प्रबन्ध-पद्म' और 'प्रबन्ध-प्रतिमा'मे, रामकुमारने अपने साहित्यिक लेखो और साहित्यके इतिहासमे, महादेवीने अपने 'गद्यात्मक विवेचन'मे साहित्यिक विचारोको अग्रसर किया। पन्तको छोडकर छायावादके अन्य विवेचकोने साहित्यके साथ जीवनको उसके पुराकालिक विकासमें ही रखकर देखा। भावात्मक विवेचनमे महादेवी और बौद्धिक विवेचनमे पन्तके विचार भाषा, शैली और चिन्तनकी दृष्टिसे पूर्ण परिष्कृत हैं।

छायावाद-युगमें साहित्यके कलात्मक विवेचनकी प्रधानता थी, प्रगतिशील युगमे जब जीवन-दर्शन ही प्रधान हो गया, पन्तने जीवन-सम्बन्धी विचारोको काव्य-निबन्ध भी बना दिया—'युगवाणी'मे।

परिशिष्ट-काल

द्विवेदी-युग और छायावाद-युग अपनी-अपनी सीमामे परिपूर्ण होकर जो प्रभाव छोड़ गये, परिशिष्ट-कालमे उस प्रभावका प्रसार हुआ। परिशिष्ट-काल द्विवेदी-युग और छायावाद-युगका सङ्गम-काल है। इस सङ्गम-युगमे कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक और निबन्धमे दोनो युगोंकी भाषा, शैली और विचार-धारा वर्तमान है।

काव्यमे उदयशङ्कर भट्ट, मोहनलाल महतो, इलाचन्द्र जोशी, स्व० रमाशङ्कर शुक्ल 'हृदय' छायावादके अवशिष्ट विशिष्ट कवि है । उदयशङ्कर भट्ट और मोहनलाल महतो छायावादके आरम्भ-कालके कवियोमे है, जोशीजी और शुक्लजी उसके विकास-कालके कवियोमे । भट्टजीने मुक्तक कविताओके अतिरिक्त गीतनाट्यकी तथा महतोजीने प्रबन्धकाव्यकी रचना की । गीतनाट्यका प्रारम्भ प्रसादजी द्वारा हुआ था, किन्तु रविबाबूकी 'चित्राङ्गदा'के ढङ्गपर उसका भावात्मक विकास भट्टजीके गीतनाट्यो (राधा, मत्स्यगन्धा और विश्वामित्र) मे हुआ । बीचमे निरालाजीका 'पञ्चवटी-प्रसङ्ग' भी इस दिशामे एक सफल प्रयोग था ।

भट्टजीने गीतनाट्यमे रवीन्द्रकी काव्य-कला दी, महतोजीने अपने नव-प्रकाशित प्रबन्ध-काव्य 'आर्य्यावर्त्त' मे मधुसूदनकी कथा-कला । 'आर्य्यावर्त्त'का प्रबन्ध-सौष्ठव स्वच्छ और सुडौल है, जैसे एक स्वस्थ यौवन । इसमे वर्णन, चित्रण और कहानीका गठन मनोहर और आकर्षक है । थोड़ी-सी कमी नाटकीय वक्रताकी है । कथा-बन्ध पुराने औपन्यासिक ढङ्गका है ।

जोशीजीकी कविताओका एकमात्र सग्रह 'विजनवती' है, नामके अनुरूप ही उनकी काव्य-रचनाका व्यक्तित्व है । 'विजनवती' की कविताओमे बाह्यजीवनके चित्रपटपर हृदयके एकान्त आन्दोलनका विस्फूर्जन है । इसमे कोमल रसोका ओज है । वैष्णव-काव्यकी सात्त्विक निराशा और उसकी अन्तःशान्ति इस काव्य-सग्रहकी जीवनीशक्ति है । भाषा और शैलीमे हृदयकी सरलता इसकी विशेषता है ; सस्कृत शब्दोके वातावरणमे स्वाभाविक शब्दोका सन्तुलन इसकी कला-चारुता ।

स्वर्गीय शुक्लजीका कवित्व उनके अन्तिम दिनोंकी रचनाओमे है । उनकी कविताओंमे अन्तर्वेदनाकी वही विह्वलता है जो महादेवीके गीतोमे । उनकी भाषा और शैलीका भी महादेवीसे सस्कृत-स्निग्ध साम्य है, कहीं-

कहीं उर्दूका पुट भी है। सब मिलाकर भाषामे ओज, शैलीमे विदग्धता और चित्रणमे मादकता है।

उक्त कवियोमे उदयशंकर भट्ट, मोहनलाल महतो, और इलाचन्द्र जोशी गद्यकार भी है। भट्टजीने कविताओंके अतिरिक्त नाटकोकी रचना की है। महतोजी और जोशीजीने कहानी, उपन्यास और निबन्ध लिखे है।

उर्दू और संस्कृत-समूह

यो तो छायावादका आविर्भाव द्विवेदी-युगके भीतरसे हुआ था तथा भाषा, शैली और भावकी नवीनतामे वह उस युगसे भिन्न हो गया था, तथापि छायावाद अपने युगमे भी भाषा, शैली और भावकी दृष्टिसे विभिन्न हो गया। द्विवेदी-युगके बादकी हिन्दी-कविता एक ओर सस्कृतकी शाद्व-लता लेकर आयी (यथा, प्रसादसे लेकर 'हृदय'-तक); दूसरी ओर उर्दूकी तीव्रता लेकर (यथा, माखनलालसे 'अञ्चल'-तक)। जिस तरह सस्कृत-परिवारमे प्रसादजी अग्रगण्य है उसी तरह उर्दूके दायरेमे माखनलालजी। द्विवेदी-युगमे इन दोनो प्रणालियोंके प्रणेता मैथिलीशरण गुप्त (सस्कृत) और गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' (उर्दू) है। उस युगमे उर्दू शैलीके एक अन्य सम्मानित प्रेरक है स्वर्गीय सैयद अमीरअली 'मीर'।

उर्दूमे जीवनका चञ्चल आवेग अधिक है, उसमे जिन्दगीकी ऊपरी सतहका ज्वार है, भीतरी सतहका गाम्भीर्य्य नहीं। उसमे एक कृत्रिम उत्साह है।

आवेगशीलता

छायावादके सस्कृतगर्भित कवि धीर-गम्भीर-पद कवि है, उर्दू-मिश्रित कवि उत्कट आवेगशील। आवेगशीलता कोई विश्वनीय चीज नहीं,

वह विद्युत्‌की चमकसे अधिक स्थायी नहीं। बंङ्गालमें काजी नजरुल अपनी आवेगशीलतामे जितनी तेजीसे उठा उतनी ही तेजीसे परिश्रान्त भी हो गया। उर्दूकी उक्तिके अनुसार, दर्दकी तरह उठे, ऑसूकी तरह गिर गये। आवेगशीलतामे उस साधनाका अभाव है जिसमे वेदनाका संयम रहता है—'लोचन-जल रहु लोचन-कोना।' इस साधनामे अव्यक्त वेदना अधिक मर्म्मभेदी हो जाती है, वह अन्तर्मुख अङ्कुरकी तरह विकासकी शक्ति बन जाती है।

उर्दू तो एक प्रतीक है जीवनकी बाह्यप्रेरणा (उफान) का, उसमे धारणा-शक्तिका अभाव है। वह असामाजिक है। उसमे रवानगी है, गहराई नहीं। जिनकी गति बाह्यप्रेरणाकी ओर है उनमे उर्दूका आकर्षण स्पष्ट है। बाह्यप्रेरणामे सैनिक उद्वेगशीलता है, यह उर्दूके जन्म-वृत्तसे भी सूचित है। उसमे शारीरिक आवेशो (काम, क्रोध, मद, लोभ) को उभाडनेकी मोहनी क्षमता है। इसीलिए उसकी उपयोगिता श्रृङ्गारिक और राजनीतिक है। उर्दू ढङ्गके श्रृङ्गारिक कवि जब साहित्यसे राजनीतिक आवेश देते हैं तब उनकी रचनाओमे वैसी ही क्षणिकता रहती है जैसी उनके श्रृङ्गारमे। उर्दू-उद्वेगका उपयोग छायावादके उत्कट श्रृङ्गारिक कवियोने अपनी राष्ट्रीय रचनाओमे तथा यौन-समस्यासे उत्क्रान्त प्रगतिशील कवियोने अपनी यथार्थवादी रचनाओमे किया। यह उनकी बाह्यप्रेरणाके अनुरूप स्वाभाविक ही था।

जैसा कि ऊपर कहा है, उर्दू तो बाह्यप्रेरणाका एक प्रतीक है। अभारतीय देशोमे जहाँ उर्दू-हिन्दी दोनो ही नही है, जीवन और साहित्यका विचार बाह्यप्रेरणा (शारीरिक) और अन्तर्धारणा (हार्दिक) के आधारपर किया जा सकता है। इस दृष्टिसे हम उर्दूमे घनीभूत दुष्प्रवृत्तिका परिहार चाहते है। हमे सत्कारिता अभीष्ट है।

काजी नजरुलकी कविताओमे उर्दूकी प्रधानता नहीं थी, किन्तु उसकी बाह्यप्रेरणामे उद्वेग-जन्य प्रवृत्ति उर्दूकी ही थी। उसमे उस धारणा-शक्तिका अभाव था जो रवीन्द्रनाथकी रचनाओंको स्थायित्व दे गयी। धारणा-शक्ति आर्य्य-सस्कृति (गार्हस्थिक संस्कृति) मे है जो उर्दूके बजाय संस्कृत और हिन्दीकी अपनी हार्दिक स्वस्थता है।

छायावादके सास्कृतिक कवियोमे निरालाने भी आवेगशीलता दी है किन्तु उनमे वह धारणाशक्ति भी है जो आवेगको अन्तःस्पन्दन बना सकती है। इसी धारणा-शक्तिके कारण पन्तमे प्रगतिशीलता होते हुए भी उद्वेग नहीं है। उनमे शुरूसे ही चॉदनीकी तरह एक प्रशान्त मृदुता है। पन्त-के अतिरिक्त, छायावादके प्रायः सभी कवियोमे उद्वेगशीलता भी है जिसके कारण उनकी अभिव्यक्तियोमें यत्र-तत्र उत्कटता आ गयी है। हॉ, सस्कृत-शालीनताके कारण वह उत्कटता अपेक्षाकृत संयत है।

आवेग-प्रवेग-उद्वेगमे मुखरता है, अन्तर्ग्राह्यता नही। मुखरतामे वाग्वैदग्ध्य है, वाक्छल है, भाव-चित्र नहीं। भाव-चित्रके लिए आवेग-शीलता नहीं, सवेदनशीलता चाहिये। छायावादकी कविता तो मुख्यतः अनुभूतिकी नीरवता ही लेकर चली थी, फिर भी उसने सङ्गीत और चित्र-को सवेदनकी साङ्केतिक अभिव्यक्तिके रूपमे अपना लिया था। द्विवेदी-युगमे यह कलाभिव्यक्ति काव्यकी सूक्ष्मताके बजाय कथाकी स्थूलता पा गयी थी, किन्तु छायावाद-कालके उर्दू-उद्वेगमे थोड़ा-सा सङ्गीत ही रह गया, चित्र ओएसिसकी तरह दुर्लभ हो गया। एक शब्दमे उसमे काव्यकी सूक्ष्म कलाकारिताका अकाल पड गया।

आवेगके प्रमुख कवि

जीवनकी बाह्यप्रेरणासे प्रभावित, छायावाद-कालके आवेगशील कवि ये है—माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', भगवतीचरण

वर्म्मा, सुभद्राकुमारी चौहान, गुरुभक्त सिंह, रामधारी सिंह 'दिनकर', नेपाली, बच्चन, हरिकृष्ण 'प्रेमी', अञ्चल, नरेन्द्र तथा नवोदित प्रगतिशील कवि। वस्तुतः ये छायावादके कवि नहीं, क्योकि इनमे छायावादकी आन्तरिकताका अभाव है। केवल शैलीगत भिन्नताके कारण द्विवेदी-युगकी अपेक्षा ये छायावाद-कालके अन्तर्गत आ गये हैं। बहिर्मुखता ही जिनके जीवनकी गति है, इस समूहके वे कवि छायावादसे स्पष्टतः भिन्न होकर प्रगतिवादमे चले गये हैं। जिनमे बाह्यप्रेरणा जितनी ही उद्वेगशील है उनमे उर्दू-प्रभाव उतना ही स्पष्ट है। इस दृष्टिसे अञ्चलमे उर्दूकी अत्यधिक तीव्रता है, सुभद्रामे हिन्दीकी सरलता।

इस समूहके कवि काव्यमे द्विवेदी-युगके गाद्यिक विकास हैं। ये वस्तु-काव्यके कवि है। जिनकी काव्यप्रेरणाके केन्द्र केवल गुप्तजी रहे उन्होने द्विवेदी-युगकी सास्कृतिक हिन्दीका विकास छायावादके अन्तर्मुख काव्यमें किया; किन्तु जिन्होने द्विवेदी-युगसे बाह्यप्रेरणा (राष्ट्रीय चेतना और भाषा) ही ली उनपर गुप्तजी, सनेहीजी और मीरजीका सम्मिलित प्रभाव पडा। गुप्तजीकी सास्कृतिक प्रेरणाने उर्दू-प्रभावको अपेक्षाकृत सयमित रखा। इस सम्मिलित प्रभावके प्रमुख कवि माखनलाल चतुर्वेदी है। उनसे अनुप्रेरित बालकृष्ण शर्म्मा, भगवतीचरण वर्म्मा और सुभद्राकुमारी चौहान है। इन अनुप्रेरित कवियोसे इस समूहके अन्य कवि भी अनुप्राणित हुए। इन सभी कवियोमे बालकृष्ण शर्म्मा 'नवीन' की सास्कृतिक चेतना (धारणा-शक्ति) अन्तर्जाग्रत रही, अतएव, उत्कट आवेगशीलताके कवि होते हुए भी उनमे वह संयत सवेदनशीलता भी है जिसके कारण महादेवीके गीत-काव्यसे प्रेरणा पाकर उनके गीत भाव-शाद्वल हो सके।

इस समूहके कवियोकी भाषा साहित्यिक हिन्दुस्तानी है, सहज है, किन्तु हृदयस्निग्ध नहीं। शैलीमे उर्दू कविताकी वक्रता है। एक

शब्दमे इनकी भाषा और शैलीमे कवित्वकी अपेक्षा वक्तृत्व है। वक्तृत्वके कारण ये प्रभावोत्पादक हैं, भावोत्पादक नही।

माखनलाल, नवीन और सुभद्राकी कविताकी दिशा देशभक्ति और प्रेमाराधना है। इनके मुक्तकोके गठनमे भेद है, मनोभेद नही। राष्ट्रीय आत्माहुतिके कारण इनकी रचनाओमे भास्वरता (दीप्ति) भी है।

भगवतीचरण वर्म्मा स्वरतिके कवि है। उनके 'एक दिन'मे स्वार्थ ही उनकी फिलासफी बन गया है। आत्माहुति और आत्मदान उनका स्व-भाव नही। जीवन-विकासकी दृष्टिसे उनकी काव्यचेतना आदिम कालमे है। उनकी रचनाओमे जीवनके वाह्यद्वन्द्वोका तुमुल सङ्घर्ष है; तीव्रदशन उनकी विशेषता है। जिन्दगी उनके लिए सिर्फ एक रफ्तार है—'चलना था बस इसलिए चले'; उर्दूकी अस्थिरचित्तताका उनपर बहुत प्रभाव पड़ा है। जीवन एक स्वार्थ है, ससार एक रफ्तार है, मानवता एक व्यङ्ग है और पाप-पुण्य—'प्रकृति स्वय है, पाप-पुण्य कुछ भी नहीं'। इस दृष्टिसे देखने पर वे घोर यथार्थवादी कवि जान पडते है। उन्मादको व्यञ्जकतामे उनकी शैलीकी मार्मिकता है। 'प्रेम-सङ्गीत' और 'मानव'मे वे कुछ सहृदय हो गये हैं। 'प्रेमसङ्गीत'मे सरसता और 'मानव'मे समवेदना है, किन्तु जीवनकी गति और स्व-भावका रुख वही है जो उनकी फिलासफीमे। 'मानव' मे पूँजीपतियोके प्रति उनका जो क्रुद्धव्यङ्ग है उसका उनकी फिलासफीसे मेल नही बैठता, क्योंकि जब जीवन एक स्वार्थ ही है, तब किसके प्रति आक्रोश, और किसके प्रति व्यङ्ग। अनुभूतिकी अन्वितिके लिए परिणत मस्तिष्ककी आवश्यकता है।

परिणति नहीं, केवल गति ही प्रधान हो जानेके कारण वर्म्माजीकी रचनाओमे आवेग इतना अधिक है कि पाठक उसकी शक्तिके प्रवाहमे ही बह जाता है, अन्तःकरणमे अवगाहन नहीं कर पाता।

उनकी कविताओंमें भाव-चित्रोंका अभाव है, क्योंकि इसके लिए जिस प्रकृतिस्थताकी आवश्यकता है, उससे उनका जीवन-दर्शन वञ्चित है। 'मधुकण'मे भाव-चित्र न होते हुए भी वह उनकी फिलासफीसे बोझिल नहीं, अतएव उसमे भावोद्रेक न होते हुए भी रसोद्रेक है। हाँ, उसमे मधु नही, मद है।

कविताके अतिरिक्त, वर्म्माजीने कहानी और उपन्यास भी लिखे हैं। 'चित्रलेखा' और 'तीन वर्ष' उनके उपन्यास हैं। उनकी कविताओंकी तरह उनके उपन्यासोंमे भी जीवनका बाह्यद्वन्द्व है। 'प्रेम-सङ्गीत', 'एक दिन' और 'चित्रलेखा'में उन्होंने अपनी फिलासफीको 'डील' किया है, किन्तु वार्त्तालापका आवेग ही प्रधान होनेके कारण विचार धुआँधारमे पड़ गया है। उनकी फिलासफी उनके गीतनाट्य 'तारा'मे अपेक्षाकृत स्पष्ट है। 'चित्रलेखा'का मूलस्वर वही है जो 'तारा'का—'पुण्य शुष्क है, रसमय केवल पाप है।' 'चित्रलेखा'मे वर्म्माजी पाप (वासना) को तो उपस्थित कर सके है, किन्तु पुण्यको पापका ही पराजित पाखण्ड बना गये हैं, शायद सफल वासना ही पुण्य है, विफल-वासना पाप। इस तरह पुण्य (साधना) का निजी व्यक्तित्व स्थापित नहीं हो सका। वर्म्माजी मुक्तगति हैं, उनके लिए कहीं कुछ भी अगम्य नही, पवनकी तरह वे कब किस कूलपर विलम पड़ेगे, यह उनके लिए भी अज्ञेय है—'मानव'मे पूँजीपतियोंपर व्यङ्ग है, 'चित्रलेखा'मे त्यागपर व्यङ्ग; अब साधनाके श्रद्धालु होकर वे गान्धीवादकी ओर आ रहे है। वर्म्माजी अभिव्यक्ति-कुशल है। कथा-बन्ध और नाट्याभिव्यञ्जनमे उनकी कलाकारिता है।

गुरुभक्तसिंह प्रकृतिके कवि है। उनका प्रकृति-चित्रण वैसा ही है जैसा शुक्लजी चाहते थे। भाषा और शैलीकी दृष्टिसे उनकी कविताएँ पद्य-बद्ध शुष्क गद्य-प्रबन्ध हैं, उनमें काव्यकी आर्द्रताका अभाव है।

'नूरजहाँ' आपका खण्डकाव्य है, किन्तु 'नूरजहाँ'मे नूरजहाँ नहीं है, न उसकी रसात्मकता है, न मादकता। इस दृष्टिसे भगवतीचरणजीकी 'नूर-जहाँ' अधिक मार्मिक है।

उन्मुख प्रतिभाएँ

'दिनकर'जी चारण-काव्यकी परम्परामे है। इस परम्परामे जिन अन्य युवक कवियोने राष्ट्रीय-रचनाएँ दी हैं उनकी अपेक्षा इनका ओज मासल और शाद्वल है। इनके आवेगमे गाम्भीर्य और स्फूर्त्ति है। दिनकरजीकी कविताओकी एक अन्य दिशा भी है—'चलो कवि, वन-फूलोकी ओर'। गँवई-गाँवकी ठेठ प्रकृति और उसके गार्हस्थिक रसकी स्वाभाविकता भी दिनकरके अन्तरतममे है। खेद है कि उसकी ओरसे उनका हृदय सूख चला है, 'रसवन्ती' मे भी वह रस नही आ सका। जीवनकी अस्वा-भाविक परिस्थितियो (राजनीतिक उद्वेलनो) को पारकर अन्तमे जीवन उसी ग्राम्य-रस (इक्षु-रस) से सरस-स्निग्ध हो सकेगा। इसके पूर्व, अपनी अन्तःप्रकृतिसे वञ्चित हो जाना काव्यकी दृष्टिसे कविकी आत्मक्षति है। इस दिशामे गुप्तजीकी भाँति आत्मसन्तुलन अपेक्षित है।

नेपालीजी प्रारम्भमे सरल हृदय, सरल प्रकृति और सरल जीवनके कवि थे—'लौकीके चौड़े पातोपर लहराते इनके मनोभाव' अथवा 'यह घास नहीं है पनप उठी मेरे जीवनकी मधुर आस' मे उनके हृदयकी जो सहजता है वह सुरक्षित नही रह सकी। अब वे यौवनकी महत्त्वाकाक्षाओं-के कवि है। उनकी नयी रचनाओमे उर्दूकी जवानीकी मस्ती है। भाषामे उनकी पहली सरलता सुपुष्ट हो गयी है। उद्गारोमे चित्र-सजीवता है। अपनी मस्तीके आलममे निश्चिन्ततापूर्वक रमनेके लिए उनमे भी पूँजीवादी विषमताके प्रति अभिशाप आ गया है। वे कवित्वपूर्ण प्रगतिशील हैं।

हरिकृष्ण 'प्रेमी' कवि और नाटककार हैं। वे उर्दूकी भावुकताकी ओर भी चले (यथा, 'आँखोमे') और हिन्दीकी रहस्यवादिताकी ओर भी (यथा, 'जादूगरनीमे')। अन्तमे उनके उद्गारोकी परिणति उनके नाटकोमे हुई। राष्ट्रीयता और सहृदयता उनकी रचनाओंका सार है। अभिव्यक्तिमे उर्दूकी तीव्रता है, भावोमे एक नयी सूफी रङ्गत। गीत-काव्य-की उनमे अच्छी प्रतिभा होते हुए भी वे उसका विशेष उपयोग नही कर सके।

बच्चन छायावाद और जनताके बीचके कवि है। छायावादकी कविताका परिपूर्ण विकास (रहस्यवाद) महादेवीके गीतकाव्यसे हुआ। रामकुमार और नवीनने उसे सँजोया। किन्तु इसके बाद छायावादका ह्रास सस्ती भावुकतामे होने लगा। जनता कला-सस्कारसे वञ्चित होकर उर्दूमुशायरों-का रस हिन्दी-कवि-सम्मेलनोमे लेने लगी। इसी समय बच्चनका प्रवेश हुआ। बच्चनने पहिले 'मधुशाला' और 'मधुबाला' द्वारा जनताका प्रीति-सम्पादन किया, किन्तु उनमे जीवन और कलाकी वह सूक्ष्मता भी थी जिसमे महादेवीकी टेकपर 'वह पग-ध्वनि मेरी पहिचानी' का अन्त.स्वर था, अतएव वे जनतासे ऊपर भी उठे। 'मधुशाला' और 'मधुबाला'में बच्चनकी भाषा, भाव और शैली बडी चटकीली थी, किन्तु इसके बाद 'मधुकलश', 'निशा-निमन्त्रण', 'एकान्त-सङ्गीत' और 'आकुल अन्तर'से उनके हृदय और शैलीकी वह सहज सादगी आयी जो पहिले बच्चो-जैसी जनतामे अपनेको अवतरित करनेके लिए खिलौनोकी तरह रङ्गीन हो गयी थी। पहिले बच्चनने जनताको रिझाया, जनतासे अपनेको परिचित कराकर अब अपने जीवनको गाया। 'निशा-निमन्त्रण'से 'एकान्त-सङ्गीत' तक उनकी काव्यबद्ध डायरी है। बच्चन भावुकसे अधिक आत्मचिन्तक हैं, इसीलिए मधु-काव्य (भाव-विलास) के बाद उनकी परिणति जीवन
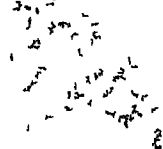
चिन्तनमे हुई। पहिले वे कविताकी ओर थे, अब वास्तविकताकी ओर आये। कवितामे उनकी कलाका विकास 'मधुबाला' मे हुआ, वास्तविकतामे उनके जीवनका उच्छ्वास 'एकान्त-सङ्गीत' मे घनीभूत हुआ जो कि 'आकुल अन्तर' मे भी बरस पडा। मधुकाव्यकी रङ्गीनकलाका प्रारम्भ 'मधुशाला' से हुआ, 'निशा-निमन्त्रण' से 'आकुल अन्तर' तककी सादगीका प्रारम्भ 'मधुकलश' से।

बच्चन उद्‌गार-प्रधान कवि है। भावोको गणितके ढङ्गसे सयुक्तिक बनाकर उद्गारोकी शृङ्खलासे उन्होने काव्यमे मुक्तक निबन्धकी रचना की। नरेन्द्र शर्म्माने भी इसी ढङ्गका काव्य-प्रयास किया किन्तु हृदयकी सहजताके अभावमे उनकी अभिव्यक्ति बच्चन-जैसी सरल प्राञ्जल नहीं हो सकी। काव्यका यह ढङ्ग उर्दूका है जिसमे भाव उतना नही है जितना 'आरजू'। 'मधुशाला' और 'मधुबाला' मे छायावादके उस प्रभावसे जिसे बच्चनने 'तेरा हार' मे अपनाया था भावात्मकता भी थी, किन्तु 'मधुकलश' से उद्गारात्मकता ही प्रधान हो गयी, गीतोमे वास्तविकता भी आ गयी। बच्चनमे कवि-तत्त्व उतना नहीं था जितना वस्तु-तत्त्व। ज्यों ज्यो रङ्ग मिटते गये त्यों त्यों उनकी रचनाओंका प्रकृत-रूप स्पष्ट होता गया। हॉ, उर्दूसे प्रेरित होते हुए भी बच्चनमें जो चिन्तनशीलता थी उसके कारण उनकी रचनाओंमे उनका व्यक्तित्व बना रहा। बच्चनको छायावाद और जनताके बीचका कवि हमने इसलिए कहा कि छायावादकी कलाको उन्होने जनताके लिए सुबोध बनाया है। उनके चिन्तनमे वैयक्तिकता और शैलीमें व्यञ्जकता छायावादकी है; गीतबन्धमे सङ्गीत गुप्तजीके 'झङ्कार' के ढङ्गका।

अनवरत निराशाने बचनको यथार्थवादी बना दिया। व्यक्तिकी ईकाईमे मानो उन्होने आजके समग्र सामरिक जीवनका यह यथार्थ-चित्र 'एकान्त-सङ्गीत' में उपस्थित किया—

यह महान दृश्य है
चल रहा मनुष्य है
अश्रु-स्वेद-रक्तसे लथपथ, लथपथ, लथपथ !
अग्निपथ ! अग्निपथ ! अग्निपथ !

इसके बाद फिर बच्चनमे आशाका सञ्चार हुआ। उन्होंने गाया—'नीडका निर्म्माण फिर-फिर'। जान पडता है, 'कठिन सत्यपर लगा रहा हूँ सपनोकी फुलवारी' सफल हो गयी। और उन्होंने नये उत्साहसे नये वर्षका उल्लास दिया—

वर्ष नव
हर्ष नव
जीवन उत्कर्ष नव

नव उमङ्ग
नव तरङ्ग
जीवनका नव प्रसङ्ग

नवल चाह
नवल राह
जीवनका नव प्रवाह

गीत नवल
प्रीत नवल
जीवनकी रीति नवल
जीवनकी नीति नवल
जीवनकी जीत नवल

क्या युगका भविष्य भी ऐसा ही हर्षोज्ज्वल नही होगा ?

'अञ्चल' जी विभ्राट वासनाके कवि है। साम्राज्यवादी अर्थ-लिप्साकी भाँति उनमे वासनाकी रूप-लिप्साका अन्त नहीं है, फलतः उनकी अतृप्तिका भी ओर-छोर नही है। समाजवादकी सेक्स-समस्या वासनाका कन्सेशन दे सकती है किन्तु उनकी रचनाओमे आत्मलिप्सा इतनी उत्कट है कि वह व्यक्तिवादकी सीमामे चली जाती है।

'अञ्चल'पर उर्दू-रसिकताका बेहद प्रभाव है। उर्दू-शायरीको यदि हिन्दी- छायावादका सम्पर्क मिल जाता तो उसका जो रूप होता वही अञ्चलकी कविताओका है। उर्दूका उच्छ्वसित आवेग उनकी कविताका ओज है। भाषा कलात्मक हिन्दुस्तानी है। प्रगतिशील कवियोंमे उनकी चित्रण शक्ति और अभिव्यक्ति सर्वाधिक सशक्त है।

नरेन्द्र शर्मा भी उर्दू-प्रभावसे प्रभावित रोमासके कवि है, किन्तु अञ्चलकी अपेक्षा सयत। उनकी भाषा, शैली, आलम्बन और चित्रणमें अनेकरूपता है, जब कि अञ्चलकी कविता प्रायः वासनामे ही सीमित हो गयी है।

नरेन्द्रका कवित्व उनके सक्षिप्त मुक्तकोमे सुगठित है, दीर्घ मुक्तकोमे उनकी अभिव्यक्ति अशक्त हो गयी है। नरेन्द्रकी प्रतिभा बाल-विहगकी प्रतिभा है, इसीलिए वे अपने शिशु-कण्ठमे भारी स्वरोका भार वहन नही कर पाते। गतिमे एक फुदक, गीतमे एक कुहक, चित्रमे एक पुलक नरेन्द्रके लिए पर्य्याप्त है, इसके आगे उनकी एकाग्रता भङ्ग हो जाती है।

चित्र-गीतके रूपमे उनके मुक्तक सजीव है, उनमे वातावरणका आकर्षण है। नरेन्द्र नीरव अनुभूतिके कवि हैं। मन उनका कोमल, अभिव्यक्ति उनका कठिन- कर्म्म है। उनकी ठेठ काव्यात्मा बड़ी सरल स्वाभाविक है—

चौमुख दिवला बार
धरूँगी चौबारे पै आज
सखी री, चौमुख दिवला बार
जाने कौन दिशासे आवें मेरे राजकुमार
सखी री, चौमुख दिवला बार

इस प्रकारके सङ्गीतसे वे गीतकाव्यको उसका प्राकृत हृदय दे सकते है।

वातावरण

जैसा कि ऊपर कहा है, इस समूहके कवि वस्तुकाव्यकी ओर है। इनकी वस्तु-प्रवणताका मनोविकास काल-भेदसे गान्धीवाद और प्रगतिवादकी ओर है। माखनलाल, नवीन, सुभद्रा, दिनकर इत्यादि राष्ट्रीय कवि वस्तु-काव्यके प्रारम्भिक कालमे है, बच्चन, नरेन्द्र, अञ्चल इत्यादि प्रगतिशील कवि विकास-कालमे। जीवनकी स्वगत-सतहपर इन सभी कवियोकी रागात्मक मनोवृत्तिमे साम्य है, सामूहिक सतहपर युग-वैविध्य।

फिर भी इन सभी कवियोंका अन्तःकरण एक है—शृङ्गारिक आराधना और राजनीतिक चेतनाके संयुक्तीकरणमे। मध्यकालीन परम्परामे शृङ्गारिक कवि और चारण-कवि अपने-अपने व्यक्तित्वमे अलग-अलग थे, किन्तु खड़ीबोलीके इस समूहमे दोनो व्यक्तित्वोका एकीकरण प्रत्येक कविमे हो गया। सच तो यह कि पुञ्जीभूत अतृप्त लालसाओंके कारण प्रगतिशील काव्यमे भी ब्रजभाषाकी भाँति सम्प्रति शृङ्गारका ही प्राधान्य है। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि ब्रजभाषाके शृङ्गारिक कवि सामाजिक-जीवनको जिस रस-विकल स्थितिमे

छोड़ गये थे उस स्थितिसे इतिहास अभी उबर नही सका है। हॉ, ब्रज-भापाका अपना एक सास्कृतिक वातावरण भी था; माखनलाल, नवीन और सुभद्रामे उस वातावरणका सामाजिक प्रतीक शेष था, किन्तु प्रगतिशील कवियो द्वारा वह शेष प्रतीक भी टूट चला है। छायावाद-शैलीमे उर्दू-रसिकतासे प्रेरित होकर जो कवि आये थे उनका यथार्थवादमे नग्न हो जाना निश्चित था, क्योकि उनकी परम्पराका केन्द्र (उर्दू) ही वैसा था। छायावादके संस्कृत-गर्भित कवियोमे जिनपर ऐतिहासिक संसर्ग-दोषसे उर्दूका यत्किञ्चित् प्रभाव पडा उनमे भी यत्र-तत्र उर्दूकी उत्कट गन्ध आ गयी है। फिर भी उनमे प्रधानता भावोके आभिजात्य (आर्य्यत्व) की है, इसीलिए पन्तजीके प्रगतिवादमे भी एक सास्कृतिक आभिजात्य है।

स्वय छायावाद तो अपनी अभिजात-परम्परा (सगुण-निर्गुण) का ही आधुनिक विकास बना रहा। छायावाद ब्राह्मण-काव्य (अध्यात्म-काव्य) है। बीच-बीचमे इसके संरक्षणके लिए क्षात्र-शौर्य्य भी मिलता रहा है। गोस्वामी तुलसीदासजीने सीतापतिका क्षत्रियत्व भी दिया। वर्तमान छायावादमे प्रसादजी अपने नाटको द्वारा और निरालाजी अपनी ओजस्विनी कविताओ द्वारा उस ओर भी अग्रसर रहे। अतएव, छाया-वादको आत्मिक आराधनामे भी एक राजनीतिक चेतना बनी रही, यद्यपि वह चेतना अब अतीत है। और आज जब कि एक सीमित समाजका नही, बल्कि एक विस्तृत विश्व-समाजका प्रश्न मनुष्यके सम्मुख उपस्थित है, वह अतीतकालीन राजनीतिक चेतना साम्प्रदायिकतासे ग्रस्त हो गयी है। जिस विकसित राजनीतिक चेतना (नवीन सामाजिक क्षमता) की आवश्यकता है उसे छायावादका आत्मिक गौरव बनाये रखकर पन्तजीने दिया है। वे बापू और रवीन्द्रके भावी तारुण्य है।

कवित्व और वक्तृत्व

श्रमिक-युग (प्रगतिशील-युग) के वस्तु-काव्यमे कवित्व कम और वक्तृत्व प्रधान होता जा रहा है। यदि काव्य जीवनकी अभिव्यक्तिका एक कलात्मक माध्यम है तो वास्तविकताके चित्रपटके लिए भी वह सुनिर्मित भाव-शिल्प अपेक्षित रहेगा जिसके द्वारा काव्यको साहित्यिक स्थायित्व मिलता है। इस दृष्टिसे निरालाजीकी 'वह तोडती पत्थर' और पन्तजीका 'बाँसोका झुरमुट' प्रगतिशील वस्तुकाव्यके लिए एक 'मॉडल' है। छायावादसे जीवनगत मतभेद हो सकता है किन्तु साहित्यिक दृष्टिसे उसका शिल्पगत आदान काव्यत्वके लिए वाञ्छनीय है।

सहज अभिव्यक्ति

प्रगतिशील-युग यदि श्रमिक-युग है तो उसकी अभिव्यक्तिमें श्रमिक जीवनकी वह स्वाभाविक सरलता भी होनी चाहिये जो हृदयकी सहज संवेदना बन जाय। साधारण जनताकी भाषामे जनगीत भी लिखे गये हैं, किन्तु प्रचारकी दृष्टिसे उनकी उपयोगिता सामयिक ही है, साहित्यिक नहीं। सच तो यह है कि जग जानेपर जनगीतोमे साहित्यिकताकी सृष्टि जनता स्वयं कर लेगी, जैसे अपने अन्यान्य लोकगीतोमे करती आयी है। तबतक केवल प्रचारकी दृष्टिसे नहीं, काव्य-सञ्चारकी दृष्टिसे भी अनुभूति और अभिव्यक्तिकी सहज स्वाभाविकता नये साहित्यमे आनी चाहिये। एक चित्र—

खेतोकी मेडोपर देखो मजदूरिन कजली गाती है

दिन धान लगानेमे बीता
आ गया याद मनका चीता
वह कैसे गाँव-ओर जाये
बालम परदेसी घर रीता

इसलिए अकेली बैठ यहीं गीतोंसे मन बहलाती है

इस ओर पडी खुरपी-हँसिया
पर दूर दूर मनका बसिया
स्वर-लहरी उसकी कण-कणमें
है खोज रही रूठा रसिया

बेमन खेतोमें आती है, बेमन खेतोसे जाती है

—गं० प्र० पाण्डेय

सहज-हिन्दीके उर्दू-कवियोने भी अपनी रचनाओमे ऐसा ही हृदय-रस दिया है। नरेन्द्र और बच्चनसे भी ऐसा सहज हृदय मिल सकता है। काव्यके पुराने ग्राम्यदोपको नवीन ग्राम्यगुण बनाकर यह हृदय-रस साहित्यमे सुलभ किया जा सकता है। इस दिशामे पन्तजीकी 'ग्राम्या' भी एक आदर्श है।

संस्कृतिके नवयुवक कवि

खड़ीबोलीकी सास्कृतिक परम्परामे छायावाद (भाव-काव्य) के कुछ नवयुवक कवि भी अपनी सीमामे सचेष्ट है—केसरी, सुधीन्द्र, सोहन-लाल, आरसीप्रसाद, हरेन्द्रदेव नारायण, वीरेन्द्रकुमार।

'केसरी' ग्राम्य प्रकृति और ग्राम्यजीवनके स्वाभाविक कवि हैं। दिनकरजी जिस ग्राम्यश्रीकी एक झलक वनफूलोमे देकर चले गये, केसरीने काव्यमे उसे विशेप जीवन दे दिया। उनकी भापा, शैली और भावमे हृदय-सारल्य है। भापामे हिन्दी, उर्दू और ग्राम्य शब्दोका समन्वय है, एक शब्दमे वह सामाजिक हिन्दुस्तानी है, किन्तु भावोमे गार्हस्थिक आर्य्यत्व है। शरद बाबूका सामाजिक वातावरण 'केसरी' की कविताओंमे है। शरदबाबू यदि कविता लिखते तो उनकी काव्यचेतना वह होती जो

'केसरी' में है। उनकी राष्ट्रीय अभिव्यक्तियोंमे भी एक घरेलू रस है, हृदयका कौटुम्बिक भाव है, निरी राजनीतिक उत्तेजना नही—

'पल रही इस गोदमे यह राष्ट्रकी तकदीर आली
पींग यह कैसी निराली ।'

सुधीन्द्र एक चिन्तनशील कवि है। 'गीताञ्जलि' के कतिपय गीतों-के अनुवादमें उनकी कलम सधी है। उनकी भाषा द्विवेदी-युगकी पक्की खड़ीबोली है।

सोहनलाल द्विवेदीकी भाषामे छायावादका सास्कृतिक सारल्य है। छायावादमें सोहनलालजीकी भाषा और प्रगतिवादमे शिवमङ्गल सिंह 'सुमन' की भाषा सहज सौष्ठव पा सकी है। सोहनलालजीकी भाषामे उनका अपना सुघडपन तो है, किन्तु रस और शैलीमे उनका निजस्व नहीं, इस दृष्टिसे उनमे शीर्षनाम प्रतिनिधि-कवियोकी गतानुगति है। उनमें अनु-कारिता (अनुकरणप्रियता) अधिक है। सब मिलाकर उनके कवित्वमे आर्यत्व है।

आरसीप्रसाद शृङ्गार और प्रकृतिके कवि हैं। भाषा सस्कृतगर्भित और हिल्लोलपूर्ण है। उनका प्रयत्न भाषा, शैली और चित्रणके बाह्यप्रयोग-की ओर अधिक जान पड़ता है। अपने प्रयोगमे वे पन्तके शब्द-शिल्प-की ओर आकर्षित है।

हरेन्द्रदेव नारायण विहारके एक परिपक्व गीतकवि है। महादेवीकी विदग्धता और पन्तकी कलाकारिताका उनकी कविताओंमे प्राञ्जल समावेश हुआ है।

वीरेन्द्रकुमार जैन कविसे अधिक कहानीकार और कहानीकारसे अधिक श्रमिक गृहस्थ (सामाजिक श्रमण) है। उनमे वह आत्मस्थता

है जो जीवन और कलाको प्रबुद्धता देती है, इसीलिए वासना 'महावासना' हो गयी है—

मांस-पिण्डमें दफन हो सके ऐसी मेरी आग नहीं है
क्षयी रूप-यौवनसे रे, हम मस्तोंको अनुराग नहीं है

... ...

मैं कसक रहा युगकी छातीमें महाक्रान्तिका उत्पीडन
मैं बोधिसत्त्वकी मुँदी पलकपर महाशान्तिका उद्बोधन

... ...

मैं वीतराग, मैं पूर्णराग, निष्काम अरे मैं महाकाम
मैं एक अखण्ड चिरन्तन गति, पर सारी गतियोंका विराम
मैं कण-कणकी सङ्घर्ष-क्रान्ति, अणु-अणुमें उच्छृङ्खल अनङ्ग
पर निखिल विश्वके महाप्राणकी शान्ति अरे मैं चिर अभङ्ग

वीरेन्द्रकी 'महावासना'मे निरामिप रोमास (अतीन्द्रिय अनुराग) है। उसमे आत्माका मनोज है। प्रगतिवादका ओज 'अञ्चल'मे, गान्धीवादका ओज वीरेन्द्रमे है। वीरेन्द्रके कुछ शब्द-चित्रोका प्रभाव अञ्चलपर पड़ा है। उर्दू शब्दोके प्रयोगमे दोनो उत्कट हो जाते है।

कुछ अन्य उल्लेख्य तरुण कवि ये है—सर्वश्री बालकृष्ण राव, जगन्नाथप्रसाद खत्री 'मिलिन्द', जानकीवल्लभ शास्त्री, रामदयाल पाण्डेय, गङ्गाप्रसाद पाण्डेय, विश्वम्भरनाथ 'मानव', राजेन्द्र शर्मा, चिरञ्जीलाल 'एकाकी', चन्द्रप्रकाश वर्म्मा, गुलाब खण्डेलवाल, मनोहर चतुर्वेदी, शिवमङ्गलसिंह 'सुमन', नीलकण्ठ तिवारी, सर्वदानन्द वर्म्मा, पद्मकान्त मालवीय, प्रभाकर माचवे, राजेश्वर गुरु, प्रभागचन्द्र शर्मा, ईश्वरचन्द्र जैन, ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी, निरङ्कारदेव शर्मा, केदारनाथ अग्रवाल, गिरिजा-

कुमार माथुर, कृष्णचन्द्र शर्मा, गोपेश, व्रजेन्द्र, रमण, नीरज, अर्जुन, मोती, रसिक, सुरेन्द्र, इत्यादि । इस समूहमे छायावाद और यथार्थवाद दोनोके कवि सम्मिलित हैं ।

महिलाओने भी अपना काव्य-सहयोग दिया है, सुभद्रा और महादेवीके अतिरिक्त—होमवती देवी, रूपकुमारी वाजपेयी, तारा पाण्डेय, विद्यावती 'कोकिल', सुमित्रा कुमारी सिनहा, चन्द्रमुखी ओझा ।

उपखण्ड

छायावादके आरम्भमे शीर्षस्थानीय प्रतिनिधि-कवियोका उदय हुआ था, उसके बाद नवोदित कवियोमे प्रतिनिधि-कवियोकी प्रतिध्व-नियाँ आयी । किन्तु आज हिन्दी-काव्यके इस परिपूर्ण विकास-कालमे प्रत्येक कविका अपना-अपना ससार है, अपनी-अपनी अनुभूतियोका इजहार है, वह आत्मदर्शन है जिसने कवित्वको निजी व्यक्तित्व दे दिया है । आजका छोटा-सा नवोदित कवि भी अपनी रचनाओमे अपनापन देता है ; अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियो और रुचियोको वाणी देना वह जान गया है ।

सब मिलाकर वर्तमान हिन्दी-कवितामे निराशाका स्वर प्रधान रहा जो किसी गहरी सामाजिक अव्यवस्थाका सूचक है । निराशा-युग प्रगतिवादमे नवजीवनका सम्बल ले रहा है, गान्धीवादमे आन्तरिक शान्ति (आत्मबल) । गुप्तजी और पन्तजी शुरूसे ही जीवनके प्रसन्न उद्बोधक रहे हैं अतएव काव्यमे उनका प्रभाव स्वास्थ्यकर रहा ।

कुछ काव्य-प्रतिभाएँ एकान्तके मौनमें ही विलीन हो गयी—मुकुट-धर पाण्डेय, गोविन्दवल्लभ पन्त, गोकुलचन्द्र शर्मा, क्षेमानन्द 'राहत', मदनमोहन मिहिर, गिरीशचन्द्र पन्त 'अनङ्ग' ।

मिहिरजीने 'गीताञ्जलि'का (उसकी भाषा, शैली और भावका) मनोरम अविकल अनुवाद किया था।

अस्तङ्गत कवियोमे मुशी अजमेरीजीकी रचनाएँ भी अविस्मरणीय है। मुशीजी ब्रजभाषा और खड़ीबोलीके प्राञ्जल कवि भी थे और सहृदय काव्यगुरु भी।

सनेहीजीके सम्पर्कसे प्रेरित दो विशेष कवि भी काव्यमे अग्रसर रहे—अनूप शर्मा और जगदम्बाप्रसाद 'हितैषी'। हितैषीजीके सवैयोमे मनोहर काव्यच्छटा है।

खड़ीबोलीके विकास-कालमे ब्रजभाषाकी काव्य-परम्परा भी नवीनता ग्रहण करती रही—शिवाधार पाण्डेय, दुलारेलाल भार्गव और उमाशङ्कर वाजपेयी 'उमेश' द्वारा।

पाण्डेयजीने ब्रजभाषाके सुकुमार पदोको खड़ीबोलीका लय-कैशोर्य्य दिया—'बेला-चमेली, दोनो सहेली, बगियामे लागी बिहार करन'—मानो ब्रजभाषा और खड़ीबोली ही सहेली हो गयी।

भार्गवजीने बिहारीकी काव्यचेतनाको गार्हस्थिक आभिजात्य दिया। दोहोके अतिरिक्त, उनके अन्य मुक्तक-पदोमे भी स्वर-चित्र और अलङ्कार-चित्रकी सूक्ष्मता है।

'उमेश'जीने अपनी 'ब्रजभारती' द्वारा ब्रजभाषामे पन्तकी काव्य-कलाका सफल प्रयोग किया। जनपदीय भाषाओमे भी मार्मिक रचनाएँ होती रही। स्वर्गीय 'पढ़ीस'की ठेट रचनाओको साहित्यिक महत्त्व भी प्राप्त है।

कथा-साहित्य

कथा-साहित्यकी परिणतिमे भी युगका क्रम-विकास वैसा ही रहा जैसा काव्य-साहित्यमे—द्विवेदी-युगके आदर्शोन्मुख स्थूल (वस्तुसत्य) से

छायावादके अन्तर्मुख सूक्ष्म (भाव-सत्य) की ओर, अन्तर्मुख सूक्ष्मसे यथार्थवादके अन्तर्गत स्थूल (मनोविकार) की ओर, अन्तर्गत स्थूलसे प्रगतिवादके बहिर्गत स्थूल (इतिहास-विज्ञान)की ओर । इस युग-विकासमे जिस युगकी जैसी चेतना थी उसकी अभिव्यक्ति (कला) भी वैसी ही स्थूल या सूक्ष्म हो गयी ।

द्विवेदी-युग काव्यकी तरह कथा-साहित्यमे भी स्थूल इतिवृत्त लेकर चला, अतएव उस युगकी कथा-शैली भी इतिवृत्तात्मक है, यथा, प्रेमचन्दकी कहानी और उपन्यास-कलामे, इसके आगे छायावाद-युगकी कथा-शैली अपने युगकी काव्य-शैलीके अनुरूप ही रसात्मक है, यथा, प्रसादकी नाट्यकला और कहानी-कलामें । यथार्थवादकी कथा-शैली अवचेतन मनके अनुरूप मनोवैकारिक है । सम्प्रति प्रगतिशील-युगकी काव्य और कथा-शैली अपने युगके अनुरूप मनोवैज्ञानिक है, यथा, पन्तकी 'युगवाणी' और यशपालकी कहानियो और उपन्यासोमे । इन युगोंके जैसे उपकरण है वैसे ही अभिव्यक्तीकरण ।

प्रेमचन्द कथा-साहित्यको प्रारम्भिक मनोविज्ञान दे गये, छायावाद-युग मनोविज्ञानको मनोविकासकी भूमिका दे गया, यथार्थ-युग मनोविज्ञानको विकारवाद दे गया, प्रगतिशील-युग मनोविज्ञानको भौतिक विकासवाद ।

द्विवेदी-युगके कथाकारोमे सुदर्शन, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' और ज्वालादत्त शर्मा प्रेमचन्दकी सतहके लेखक है—कथानक-कुशल, चरित्र-चित्रक । इनकी शैलीमे कहानीपन और चरित्र-चित्रणमे रूढ-मनोविज्ञान है । गुलेरीजीने उस युगका व्यक्तित्व बनाये रखकर कथा-साहित्यको नाटकीय सङ्घातसे एक नवीन विक्षेप-शैली दी, 'उसने कहा था' मे ।

द्विवेदी-युगमे काव्यकी भावात्मक शैलीकी भाँति कहानीकी भी एक भावात्मक शैलीका प्रारम्भ हो गया था, राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह द्वारा। 'कानोमे कँगना' उनकी उसी समयकी कहानी है। किन्तु भावात्मक शैलीका विकास प्रसादजी द्वारा ही हुआ। बीचमे चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' ने भी एक भावात्मक शैली दी थी, किन्तु वह संस्कृतजटिल थी।

राजा साहब प्रसादके समकालीन है, किन्तु प्रसादकी भाँति उनका रचना-क्रम निरन्तर गतिशील नही रहा, फलतः एक लम्बे अरसेके बाद जब वे पुनः साहित्यमे आये तो उनकी शैली और वातावरणमे प्रेमचन्द-के समयका कथा-साहित्य आ गया। उनकी शैलीकी वह ग्राम्य सरलता पीछे छूट गयी; यदि उसका विकास हुआ होता तो हिन्दीमे शरदके आने-के पूर्व ही उनका भी अपना एक वैसा ही आदान होता।

पुनर्लेखन-कालमे राजा साहबके अनेक कहानी-सङ्ग्रह और उपन्यास निकले है जिनमे नागरिक वक्रता आ गयी है। भाषापर उर्दूका प्रभाव प्रेमचन्दसे भी अधिक पड गया है, वह मस्तानी हिन्दुस्तानी हो गयी है। शैली वक्तव्य-प्रधान है, मनोविज्ञान 'सेक्स'-प्रधान। हाँ, भाषा हिन्दुस्तानी होते हुए भी उसमे साहित्यिक छटा है, शैली वक्तव्य-प्रधान होते हुए भी उसमे स्वाभाविक घटनाप्रवाह है, मनोविज्ञानमें फ्रायडका मनस्तत्व (यौन-चेतना) होते हुए भी प्रेयके साथ श्रेयकी स्थापना है। जीवन-दर्शनमे सास्कृतिक आस्था बनी हुई है। आदर्शवादके वाता-वरणमे यथार्थवादका प्रारम्भ प्रेमचन्द-कालके अन्तर्गत राजा साहबका नव-प्रयास है।

'राम-रहीम' मे चरित्र-चित्रण सपाट है, 'पुरुष और नारी' मे चरित्र-चित्रणकी मनोवैज्ञानिक गूढता भी है। राजा साहबने नारीको अपनी सहृदयता और श्रद्धा दी है। फिर भी राजा साहबको न तो प्रवृत्तिसे

विराग है और न निवृत्तिके प्रति अन्धभक्ति, वे दोनोमे खालिसपन चाहते है, प्रवृत्तिमे निवृत्तिका और निवृत्तिमे प्रवृत्तिका ढोग नहीं। नैतिक ढोगके उद्घाटनके लिए उन्होने फ्रायडका मनोविज्ञान लिया है, जीवनके रहस्योद्घाटनके लिए सन्तोका अन्त.साक्षात्। सब मिलाकर उनका दृष्टिकोण व्यक्तिवादी युगका है।

वर्णन, चित्रण और रसोद्रेकमे राजा साहबकी लेखनी सिद्धहस्त है। प्रेमचन्द-कालकी भाषा, शैली और चरित्र-चित्रणमे शुष्कता और स्थिरता आ गयी थी, राज साहबने उसमे तरलता और गतिशीलताका सञ्चार किया।

द्विवेदी-युगके वातावरणमे जिन अन्य कथाकारोका उदय हुआ वे है—चतुरसेन शास्त्री, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', विनोदशकर व्यास, चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार, सत्यजीवन वर्मा।

इन लेखकोके रचना-कालमे ही यथार्थवादके लेखकोका भी उदय हुआ—इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्म्मा, अज्ञेय, पहाडी, नरोत्तम-प्रसाद नागर। इन लेखकोका प्रयत्न व्यक्तिकी मानसिक परिणति दिखलानेका रहा है। ये मनोविज्ञान-प्रधान लेखक है, अतएव, पात्र कथानकसे अधिक मानसिक द्वन्द्वसे प्रेरित है। मानव-मनका अन्वीक्षण इन लेखकोका लक्ष्य है। द्विवेदी-युगके कथाकार यदि मनोविज्ञानके प्रारम्भिक कालमे है तो ये लेखक उसके विकास-कालमे। ये सामाजिक चेतनाके बौद्धिक युगमे है। इनके यथार्थमे बौद्धिक युगका प्रारम्भिक काल है, प्रगतिवादमे उसका विकास-काल।

बौद्धिक-युग (यथार्थ-युग) के प्रारम्भिक लेखकोमे अध्ययन अधिक और अन्तःस्पन्दन कम जान पडता है। समाजमे ऐहिक फैशन-

की भाँति साहित्यमे बौद्धिक फैशन भी स्वाभाविक ही है। इस तरहकी कृतियोकी अपेक्षा अच्छा तो यह होता कि जहाँसे ये प्रभावित है वहाँके अधिकाधिक अनुवाद आते। इससे यह ज्ञात होता कि वहाँकी किन परिस्थितियोमे जीवनका क्या रूप-रङ्ग बना। इस प्रकारके अध्ययनसे हमे अपनी सामाजिक परिस्थितियोकी तुलनाका अवसर मिलता तथा सङ्ग्रह और त्यागका उचित विवेक प्राप्त होता। अपने यहाँका सामाजिक अध्ययन हमे प्रेमचन्द, शरच्चन्द्र और प्रसाद द्वारा प्राप्त है; अन्यदेशीय अध्ययन उक्त लेखको द्वारा। यदि इन दोनो समूहोके प्रयत्नोका हम आकलन करे तो यथार्थ-युग चमत्कारिक अधिक जान पडता है, आन्तरिक कम। द्विवेदी-युगका कथा-साहित्य पुराना अवश्य पड गया है किन्तु उसमे एक ऐतिहासिक समाजकी अपनी धडकन है। उसी धड़कनकी शक्ति लेकर बापूने समाजको और रवीन्द्रने साहित्यको जगाया।

जैनेन्द्र

मनोवैज्ञानिक अध्ययनकी दृष्टिसे प्रेमचन्दसे लेकर जैनेन्द्रकुमार तकका क्रम-विकास इस प्रकार देखा जा सकता है—

पहिले सत्-असत् अलग अलग व्यक्तित्वोमे विभक्त था, एक पात्र अच्छा रहता था दूसरा पात्र बुरा; यथा, प्रेमचन्दके उपन्यासोमे। यथार्थ-वादी चित्रणमे सत्-असत्का वर्गीकरण टूट गया, सिर्फ असत्की अनेक विकृतियोको ही बहिर्मन और अवचेतन मनका युगल धरातल मिल गया। 'चित्रलेखा' मे तो मानो असत्की प्रतिष्ठाके लिए ही सत्का ढोंग दिखलाया गया है। आदर्शवादकी ओरसे जैनेन्द्रजीने यथार्थवादको एक मनोवैज्ञानिक नवीनता दी। उन्होने सत्-असत्को एक ही व्यक्तित्वमे स्थापित कर दोनोकी सार्थकता दिखलायी। बौद्धिक चित्रणके अन्तर-

बहिर्मनमें व्यक्तित्व दुरङ्गे हो गये हैं, किन्तु जैनेन्द्रके चित्रणमे दुरङ्गे नहीं, दुहरे हैं। उनके सामाजिक जीवनमें कमठ-पीठकी तरह कठोर यथार्थ है, आन्तरिक जीवनमें कोमल अन्तःकरण। पूर्ण आदर्श और पूर्ण यथार्थको एकत्र कर जैनेन्द्रने दोनों युगोंको भी एकत्र कर दिया है। यथार्थवादियो-की अपेक्षा उनकी अभिव्यक्ति अधिक आधुनिक है।

जैनेन्द्रने शरदकी दिशामें भी एक नवीन प्रयोग किया है। शरत्सा-हित्यमे नारी शान्त है, यथा, पार्वती और सावित्री, पुरुष उत्क्रान्त है, यथा, देवदास और सतीश। असलमे नारी और पुरुषके ये दो व्यक्तित्व नही, बल्कि एक ही व्यक्तित्वकी दो परिणतिया है; नारीकी अशान्ति पुरुष-के जीवनमे साकार है, पुरुषकी शान्ति नारीके जीवनमे। इन दोनो परिणतियोंको एकमे मिलाकर जैनेन्द्रने नारीको उत्क्रान्त शान्ति बना दिया है, यथा, 'कल्याणी' और 'त्यागपत्र' मे। जीवनकी दो भिन्न परिणतियोंमे शरदकी नारी मानो कहती है—'तुम स्वेच्छाचारी मुक्त पुरुष, मैं प्रकृति प्रेम-जञ्जीर'। किन्तु जैनेन्द्रकी नारी जीवनकी अभिन्न परिणतिमें कह सकती है—'बन्दिनी बनकर हुई मैं बन्धनोकी स्वामिनी सी'।

यथार्थवादी लेखक

यथार्थवादी लेखकोंमे जोशीजीका सम्यक् विकास नही हो सका। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे वे आगे बढे किन्तु 'घृणामयी' के बाद उनकी कथा-शैलीका नवीन विकास नहीं हुआ। इसके ठीक प्रतिकूल भगवतीचरण वर्म्मामें सिर्फ शैलीका चमत्कार ही प्रधान हो गया।

अज्ञेय और पहाडी यथार्थ-कालके प्राञ्जल कलाकार है। अज्ञेयकी 'शेखर : एक जीवनी' बौद्धिक होते हुए भी सूक्ष्म मर्म्मस्पन्दनोके कारण हृदयको छूती है। शैली अबतकके सभी उपन्यासोसे नूतन है। छोटे-छोटे

अनेक कथा-खण्डोंके संयोजनसे इसकी घटनावली जुगनुओंकी मालाकी तरह जगमगा रही है। एक व्यक्तिके मनोविकासकी सुदीर्घ कहानी होनेके कारण इसकी मनोवैज्ञानिकता स्वय सिद्ध है, किन्तु शेखरके प्रारम्भिक जीवनमे गुरुतर बौद्धिक चिन्तन उसके बाल-मनके लिए अस्वाभाविक हो गया है।

नवदल

कवितामे जैसे अनेक नवयुवक कवि अपना-अपना व्यक्तित्व लेकर आये वैसे ही कहानीमे भी कुछ नये लेखक—वीरेन्द्रकुमार जैन, वीरेश्वर सिह, कमलाकान्त वर्म्मा, रामसरन शर्मा, भगवतशरण उपाध्याय, ब्रजेन्द्र-नाथ गौड, शरद मुक्तिबोध, गनपत चेट्टी, सर्वदानन्द वर्मा।

वीरेन्द्रकुमारने कुरूप समाजको आत्माकी अनुरागिनियोंका अन्तः-सौन्दर्य दिया है। वास्तविकताके कठोर पत्थरपर उन्होंने बडो कोमल रेखाएँ खीची है। आदर्श और यथार्थके तङ्ग दायरेसे बाहर वीरेन्द्रमे शुद्ध हृदयवाद है।

वीरेश्वरसिहकी कहानियोंके सङ्ग्रहका नाम है 'उँगलीका घाव'। उनकी भाषा और शैलीमे मादकता, सरसता और चित्रकारिता है।

कमलाकान्त वर्म्माने कहानीकी एक नवीन भावात्मक शैली दी। अपने रसोद्रेकसे निर्जीव आलम्बनोको सामाजिक पात्रोंकी भाँति सजीव कर उन्होंने जीवनकी अनुभूतिका विस्तार किया, यथा, 'पगडण्डी' मे। उनकी कहानियोंमें चौराहे आपसमे बाते करते है, लैम्पके खम्भे अपनी जिन्दगीपर रोशनी डालते हैं। मानवके दैनिक जीवनके स्पर्शोंसे उसके उपकरण भी उसीकी तरह व्यक्तित्वपूर्ण हो गये है। वस्तुमे चेतनका सञ्चार कर उन्होने छायावादकी नवीन सामाजिक अभिव्यक्ति दी है, रविबाबूके 'क्षुधित पाषाण'के ढङ्गपर।

रामसरन शर्म्माने लघुतम कहानीका मॉडल दिया है। उनकी कहानियोंको मुक्तक कथा कहा जा सकता है। उनके कथानक छोटे-छोटे मेघखण्डोंकी तरह अपना विरल वातावरण और उसकी द्रुत परिणति लिये हुए हैं। शैलीमे बडी सादगी है।

भगवतशरण उपाध्यायने कथा-साहित्यको एक नवीन चित्रपट दिया है, प्रागैतिहासिक कालके जीवन-पटमे। इतिहासकी ओर अनेक लेखकोंका ध्यान गया, किन्तु प्रकृति, सस्कृति और समाजके आरम्भिक निर्म्माण-कालकी ओर उपाध्यायजी ही दत्तचित्त हुए हैं। उन्होंने एक अनुमेय युगको मूर्त्त करनेके लिए कथानक, भाषा और चरित्र-चित्रणका नवीन किन्तु सफल प्रयोग किया है। उनका 'सवेरा' हिन्दी-कहानी-साहित्यके लिए भी एक सवेरा है।

अन्य कहानी-लेखकोंमे कुछ उल्लेख्य नाम ये हैं—राधाकृष्ण, वन-माली, कान्तिचन्द्र सोरिक्सा, जनार्दनराय, अमृतराय, अमृतलाल नागर, कमल जोशी, रसिकमोहन। इनमेसे अमृतरायने अभी हालमे ही कहानी लिखना शुरू किया है, उनके वार्त्तालाप और शब्द चित्र बडे सजीव होते है। भाषा स्वाभाविक हिन्दुस्तानी है।

महिलाओंने भी कहानी-साहित्यको सुशोभित किया है—सुभद्रा और महादेवीके अतिरिक्त, उषादेवी मित्रा, सत्यवती मल्लिक, कमला देवी चौधरी, चन्द्रवती ऋषभसेन जैन, सुमित्राकुमारी सिनहा, चन्द्र-किरण सोरिक्सा। महिलाओंमे उषामित्राका एक अपना अलग साहित्य है। वे भाव-प्रवण लेखिका हैं, उनकी कहानियाँ और उपन्यास करीब-करीब काव्य है।

उषा मित्राकी आत्मा स्वप्निल है, उनका मानसिक सस्कार लोरियों और दन्तकथाओंके ससारका है। वे यदि किवदन्तियों एव दन्त-

कथाओंको नये ढङ्गसे मॉजकर लिखे तो साहित्यके लिए एक नयी चीज हो; इस प्रकार उनकी भावमयी लेखनी अपना उचित आधार पा जायगी। अपने कथा-साहित्यमे कवि ईट्सने ऐसा ही सत्प्रयास किया था। कुटीर-शिल्प और ग्रामगीतोकी तरह दन्तकथाओंका भी अपना एक विशेष व्यक्तित्व है, उनमे मानव-आत्माके भोलेपनका रस है।

नाटक

गुप्तजी और प्रेमचन्दजीके बादके काव्य और कथा-साहित्यकी परिणति हम ऊपर देख आये है, अब प्रसादजीके बादके अग्रसर नाटक-कार ये है—सेठ गोविन्ददास, गोविन्दवल्लभ पन्त, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशङ्कर भट्ट, हरिकृष्ण 'प्रेमी'।

इन नाटककारोमे भी प्रसादकी भॉति एक पुराकालिक सांस्कृतिक भारतीय चेतना है। यद्यपि लक्ष्मीनारायण मिश्र अपने बुद्धिवादके कारण इस समूहसे भिन्न लगते है, तथापि बुद्धि-द्वारा भी वे वहीं पहुँचते है जहाँ हृदयद्वारा आदर्शवाद पहुँचता है। उनके नाटकोका अन्तर्विन्दु है—आत्मस्वीकृति। यही अन्तर्विन्दु इब्सनका भी है। हार्दिक साहित्य (भाव-साहित्य) मे आत्मस्वीकृतिकी परम्परा सनातन है—'मो सम कौन कुटिल खल कामी' अथवा 'अब मै नाच्यो बहुत गोपाल'।

हार्दिक और बौद्धिक आत्मस्वीकृतिमे अन्तर यह है कि एक ईश्वरोन्मुख (अन्तर्मुख) है, दूसरी समाजोन्मुख (बहिर्मुख)। बहिर्मुख आत्म-स्वीकृतिमे अवसरवादिता है, वह पुनः विकृतिकी ओर जा सकती है। अन्तर्मुख आत्मस्वीकृतिमे प्रज्ञात्मकता है अतएव वह अन्तःशुद्धिकी ओर है। दोनोंमे सामाजिक अनुशासन और आत्मानुशासनका अन्तर है। बहिर्मुख आत्मस्वीकृतिमे चर्चका स्थान समाज ले लेता है, अतएव

दोनो ही स्थलोंपर साध्य बाह्य हो जाता है, अन्तर्य्यामी नहीं। निर्म्माण बाहर नहीं, भीतर है, अतएव एकान्तके अन्त साक्षात्से ही उसे स्थायित्व मिल सकता है। बाह्य साध्य तो अँगूठेकी निशानी लगाकर सचाईका सबूत देना है।

हम कहें, आत्मस्वीकृति बुद्धि-धर्म नहीं, हृदय-धर्म्म है, वह भावात्मक है। बुद्धि हृदयकी नाशिका नहीं, नासिका है, वह वातावरणके भीतरसे हृदयको गन्ध-बोध और प्राणवायु देती है। किन्तु बुद्धिका उपयोग सर्वत्र स्वास्थ्यकर नहीं होता, स्थल-विशेषपर नासिकाको बन्द भी कर लेना पडता है।

बुद्धिवाद

सामाजिक समस्या भी आन्तरिक समस्या ही है। जहाँ जीवनका पूर्णतः यन्त्रीकरण हो गया है वहाँ हृदय-सत्यको जाननेके लिए भी यन्त्र-विज्ञानसे ही काम लिया जाता है, साहित्यमे इसीका परिणाम है बुद्धिवाद। बुद्धिवादमे सचाई नहीं है, सचाईका इजहार है। उसमे जीवनकी मौलिकता नहीं, अभिव्यक्तिकी नवीनता (आधुनिकता) है। जहाँ जीवन यन्त्रस्थ नहीं, आत्मस्थ है, वहाँ बुद्धि बोधमे परिणत हो जाती है और तब आत्मनिर्म्माणके अनुरूप हीं विश्व-निर्म्माणका धरातल भी हार्दिक हो जाता है।

आज बुद्धिवादका उत्थान प्रगतिवादमे हो रहा है, बोधवादका सङ्गोपन सर्वोदय (गान्धीवाद)मे। हमारे साहित्यमे बुद्धिवादकी तीन परिणतियाँ हुई—

(१) बुद्धि-द्वारा आश्वस्त होकर अन्तर्मुखताकी ओर, यथा,

लक्ष्मीनारायण मिश्र और सेठ गोविन्ददासके नाटकोंमे। सेठजीके नाटकोंकी अन्तर्मुख परिणति गान्धीवादमे हुई, मिश्रजीके नाटक बुद्धिवादके ही अन्तर्गत रहे।

बाह्य अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे सेठजीका ध्यान पारसी नाटकोंकी तरह रङ्गमञ्चकी ओर अधिक चला गया। नाटकके अन्तरङ्गमे कथनोपकथनकी प्रधानता और अन्तःसङ्घातकी कमी हो गयी है, फलतः उनके पात्र प्राणान्वित नहीं, चित्रवत् है। 'कुलीनता' और 'सेवापथ' अपेक्षाकृत उनके सर्वाङ्गीण नाटक है।

सेठजीके ठीक प्रतिकूल मिश्रजीके नाटक रङ्गमञ्चकी सादगीकी ओर है। उनके नाटकोंमे अन्तःसङ्घर्षसे एक शुष्क सजीवता आ गयी है किन्तु आत्मद्रवके अभावमे रसात्मकताकी बेहद कमी पड़ गयी है। उनके नाटकोको हम आधुनिक नाट्यकलाके पेन्सिल-स्कैच (निस्तरङ्ग रेखा-चित्र) कह सकते है।

ये बुद्धिवादके प्रारम्भिक कालके लेखक है और दोनोने इब्सनका प्रभाव ग्रहण किया है। प्रारम्भिक बुद्धिवादमे चाहे टाल्स्टाय और गान्धीकी धर्म्म-भावना न हो किन्तु उसमे जीवनका वह अन्तःसूत्र (आत्मपरिष्कार) बना हुआ था जो कलामे यथार्थका आवेष्टन लेते हुए भी हृदयकी सहजताकी ओर था, फलतः आदर्शवादसे उसका आन्तरिक ऐक्य था। किन्तु राजनीतिक बुद्धिवाद (प्रगतिवाद) मे वह अन्तःसूत्र टूट चला है, उसमे बाहर भीतर दोनो जगह यथार्थवादिता ही आ गयी है। समस्यासे उद्धार पानेके लिए जीवनकी पहली शर्त आत्मस्वीकृति (आत्माकी ईमानदारी) का उसमे अभाव हो गया है। एक शब्दमे, आत्मचेतनाका स्थान वर्गचेतनाने ले लिया है। अन्तर्राष्ट्रीय मनीषियोंके वक्तव्योंसे ज्ञात होता है कि प्रगतिवादी युगकी

स्वच्छताके लिए भी अन्तःसूत्र अनिवार्य्य रहेगा, अन्यथा धार्मिक और पूँजीवादी युगकी भाँति वह भी आत्मप्रवञ्चनाग्रस्त हो जायगा।

(२) बुद्धि द्वन्द्व (दुविधा) की ओर। इस स्थितिके लेखक न तो गान्धीवादको अपना सके, न प्रगतिवादकी ओर बढ़ सके, वे त्रिशङ्कु हो गये—इलाचन्द्र जोशी, नरोत्तमप्रसाद नागर, अज्ञेय। इनमेंसे जोशीजी और अज्ञेयजी कवि भी हैं। जोशीजीका कवि (हृदय) सम्प्रति मूर्च्छित हो गया है, किन्तु अज्ञेयजीका हृदय 'शेखर : एक जीवनी' में इन्दु-बिन्दु (तुहिन-बिन्दु) की तरह जाग्रत है, अतएव आशा है कि वे जीवनकी स्वस्थ परिणति (आत्मस्थता) पा जायँगे।

(३) बुद्धि प्रगतिवादकी ओर। इस दिशाके लेखक हैं—यशपाल, राहुल साङ्कृत्यायन, कान्तिचन्द्र सौरिक्सा, अमृतराय। इस समूहमें यशपालजीकी स्थिति वैसी ही है जैसी मध्यसमूहमें अज्ञेयजीकी। यशपालके अन्तरालमें भी एक शिशु-हृदय कवि है जो वास्तविकताकी चट्टानपर प्रताड़ित होकर भी वायुमण्डलमें जीवित है। 'देशद्रोही' के खण्डोंमें उनका व्यक्तित्व है।

नाटककारोंका एक समूह इस प्रकार है—सुदर्शन, पाण्डेय बेचन शर्म्मा 'उग्र', चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार, रामकुमार वर्म्मा, भुवनेश्वरप्रसाद, उपेन्द्रनाथ 'अश्क'। यह समूह बुद्धिवादी वर्गसे भिन्न है। भुवनेश्वरप्रसादके अतिरिक्त शेष लेखकोंमें भावोंका सौहार्द भी है। यद्यपि भुवनेश्वरप्रसादकी उक्ति है—बुद्धि समाजका चोरदरवाजा है, तथापि उन्होंने अपनी रचनाओंमें इसी चोरदरवाजेका उपयोग अधिक किया है।

संक्षेपमें आधुनिक हिन्दी-नाटकोंके क्रम-विकासका इतिवृत्त यह है—भारतेन्दु-युगके बाद वर्तमान नाटकोंका प्रारम्भ पारसी स्टेजसे हुआ, द्विजेन्द्रलालके नाटकोंसे उनमें साहित्यिकता आयी, प्रसादके नाटकोंसे

गम्भीरता, अंग्रेजी नाटकोंके सम्पर्कसे मनोवैज्ञानिकता, युग-सङ्घर्षके प्रभावसे नवीन विचारशीलता। यद्यपि युग-भेदसे विभिन्न लेखकोंके दृष्टिविन्दुओंमे विविधता है तथापि मुख्य प्रयत्न एक ही दिशामे चल रहा है, नाट्यकौशलमें। यों भी, नाटक-शब्दकी व्यञ्जनामे ही कौशल-की मॉग है। कुशलताकी दृष्टिसे इस समय हिन्दी-नाट्यसाहित्यका विकास एकाङ्की अथवा मुक्तक नाट्यमे हो रहा है। यह लेखकोंकी 'हावी' बन चला है।

हमारे वर्तमान साहित्यने कविता, कहानी, उपन्यास और नाटकमें पर्य्याप्त उन्नति की है, किन्तु कुछ विषयोंमे उसकी गति अभी प्रारम्भिक अवस्थामे है—निबन्ध, आलोचना, सस्मरण, शब्द-चित्र, हास्य। कुछ विषयोंकी अभी बेहद कमी है--पत्र और डायरी, पर्सनल एसे, भ्रमण-वृत्त, आत्मकथा।

निबन्ध और आलोचना

निबन्धोंकी दृष्टिसे भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग अधिक मनोरम था। यद्यपि आज भी निबन्ध लिखे जाते है, उनमें शैली आगे बढी है, विचार विकसित हुए हैं, तथापि उस स्वाभाविक स्वारस्यका अभाव हो गया है जो प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, सन्त पूर्णसिह और स्वामी सत्यदेवके लेखोमे है।

नयी कविताकी तरह हमारे नये निबन्ध-साहित्यको भी सस्कार-भिन्न विदेशी आदान मिला। किन्तु भावात्मक कविता (छायावाद) मे अभि-व्यक्तिकी प्रेरणा बाह्य होते हुए भी उसमे चिरकालीन सास्कृतिक प्रेरणा आन्तरिक बनी रही, अतएव, उसमे भी एक स्वाभाविक स्वारस्य बना रहा।

निबन्धोकी परम्परा नयी होनेके कारण प्रारम्भमे तो उसमे हिन्दीकी अपनी सामाजिक स्वाभाविकता बनी रही, बादमे स्वाभाविकता आधुनिकताकी ओर चली गयी। दोनो युगोकी रचनामे घर और होस्टलके जीवनका अन्तर पड गया।

हिन्दीका निबन्ध-साहित्य सम्प्रति समालोचना-प्रधान है। कुछ स्वतन्त्र विषयोंके साहित्यिक लेखक ये हैं—शिवपूजन सहाय, सियारामशरण गुप्त, जैनेन्द्रकुमार। शिवपूजनजी भाषाके शिल्पी है।

शुक्लजीके बाद हिन्दीका समालोचना साहित्य इन लेखको द्वारा सञ्चालित है—छायावाद-युगके गुलाबराय, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्द-दुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र, प्रगतिशीलयुगके प्रकाशचन्द्र गुप्त, रामविलास शर्मा, शिवदानसिह चौहान।

छायावाद युगके आलोचक कला-प्रतिष्ठापक हैं, प्रगतिशील-युगके आलोचक इतिहास-शोधक। एक समूह जीवन और साहित्यको स्निग्ध दृष्टिसे देखता है, दूसरा समूह गृध्रदृष्टिसे। स्निग्धदृष्टिके पथ-निर्देशके लिए गृध्रदृष्टि शुभ भी हो सकती है, राम-जटायु-सयोगकी तरह।

छायावादके समीक्षकोमे शुक्लजीके समवयस्क गुलाबराय है। शुक्लजीने छायावादको आलङ्कारिक प्रतिष्ठा दी, गुलाबरायजीने दार्शनिक प्रतिष्ठा, अन्य समीक्षकोने रसात्मक प्रतिष्ठा। अनुभूतिको व्यक्त करनेके लिए जैसे काव्यकी विविध शैलियाँ हैं वैसे ही अनुभूतिको ग्रहण करनेकी विविध पद्धतियाँ भी, अतएव अपनी अपनी पद्धतिसे छायावादके इन समीक्षकोने उसकी अन्तरात्माको स्पर्श किया। दर्शनकी परिणति रहस्यवादमे है अतएव शुक्लजीकी अपेक्षा गुलाबरायजी छायावादकी आत्मासे अभिन्न हो गये। उनमे शुक्लजीका बुद्धिवार्द्धक्य नही, छायावादका भावुक हृदय है, युवक समीक्षकोमें उर्मिल तारुण्य भी।

यों तो छायावादके आत्मीय समीक्षक भावात्मक अथवा रसात्मक हैं किन्तु उनपर आचार्य-परम्पराका भी प्रभाव है, क्योंकि उनका शिक्षा-संस्कार निर्धारित पद्धतिके वातावरणसे भी दीक्षित है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी सीधे संस्कृतसे हिन्दी साहित्यमें आये, अतएव, आचार्य-परम्पराकी दीक्षा उन्हें अपने सांस्कृतिक केन्द्रसे ही मिल गयी, अन्य लेखकोंको शुक्लजीके प्रभावसे। हजारीप्रसाद द्विवेदीका शास्त्रीय ज्ञान वङ्गीय समाज (शान्ति-निकेतन) के साहचर्य्यसे संवेदनात्मक हो गया, अन्य लेखकोंका शास्त्रीय संस्कार अंग्रेजीके सम्पर्कसे रोमैण्टिक।

हजारीप्रसाद द्विवेदी तत्त्वबोधक समीक्षक हैं। 'कबीर' और 'हिन्दी-साहित्यकी भूमिका' से स्पष्ट है कि वे भावुकसे अधिक आनुसन्धानिक हैं। पुरातत्त्वकी भाँति ही वे कवित्वका भी स्थापत्य उपस्थित करते हैं, इसीलिए उनकी शैली प्रतिपादनकी ओर है। उनके अनुसन्धानका क्षेत्र हृदयका रमणीय लोक है, अतएव स्वभावतः उनके प्रतिपादनमें भी रमणीयता है। पाण्डित्य और वैदग्ध्यका उनमें संयुक्तीकरण है। 'बाणभट्टकी आत्मकथा'में उनका सुन्दर निबन्ध-शिल्प है।

नन्ददुलारे वाजपेयीमें साहित्यकी बड़ी अच्छी सूक्ष्म परख है। शुक्लजीको यदि रोमैण्टिक स्फूर्ति मिल जाती तो उनकी आलोचनाका जो रूप होता वही वाजपेयीजीकी समालोचनाका है। शुक्लजीकी साहित्यिक परिधिको उनके द्वारा विकास मिलता है। इनका मुख्य प्रयत्न रचना और रचनाकारके मनोवैज्ञानिक उद्घाटनकी ओर है। इनका उद्घाटन-कार्य्य साहित्यिक क्षेत्रमें सूक्ष्म अनुशीलन सुलभ करता है, किन्तु वैयक्तिक क्षेत्रमें अशोभन हो जाता है। प्रेमचन्दजीपर उन्होंने जिस प्रोपगैण्डाका आरोप किया है, स्वयं उस प्रवृत्तिसे मुक्त नहीं रह सके हैं। उनमें भी प्रचारात्मक पक्षपात है। आलोचनाके लिए जिस राग-रहित राग-

त्मकताकी आवश्यकता है, वाद-प्रतिवादके कारण वाजपेयीजी उससे वञ्चित हो गये है। साहित्य: समालोचककी गृहस्थी है, उसका सञ्चालन मानसिक सन्तुलनसे ही हो सकता है।

शुक्लजीके साहित्यिक प्रयत्नको जिस स्वस्थ यौवनोन्मेषकी आवश्यकता थी उसका स्फुरण नगेन्द्रके काव्यालोचनमे हुआ। नगेन्द्रमे शुक्लजीकी शास्त्रीय निष्ठा ओर छायावादकी कलाप्रतिष्ठाका शुक्ति-स्वाति-सयोग है। उनमे कला (कृति) और उसकी स्थापना (कर्त्तृत्व) की सूक्ष्मग्राहिता है। इधर आपने फ्रायडियन दृष्टिकोणको भी अपनाया है। समालोचनाके लिए सम्प्रति जिस सम्मिलित पृष्ठभूमि (रीतिवाद, छायावाद, यथार्थवाद) की आवश्यकता है, नगेन्द्रके नये लेखोमे उसका आभास मिलता है। छायावादकी ओरसे जैसे नगेन्द्रकी समीक्षामे एक औदात्य है वैसे ही प्रगतिवादकी ओरसे प्रकाशचन्द्र गुप्तकी समीक्षामे।

प्रकाशचन्द्रजी प्रगतिशील आलोचक है। 'नवीन हिन्दी साहित्य: एक दृष्टि' मे उन्होने रूढिवादी (छायावादी) और प्रगतिवादी दोनो ही दृष्टिकोणसे साहित्य-समीक्षा की है। रूढिवादी समीक्षासे ज्ञात होता है कि उनमें छायावादकी कला और अनुभूतिकी मर्म्मस्पर्शिता भी है। यो कहे, उनका हृदय छायावादकी ओर है, बुद्धि प्रगतिवादकी ओर। यद्यपि वे दोनोमे समन्वय नही कर सके है, तथापि बुद्धिके नीचे हृदय दब नहीं गया है, वह बीच-बीचमे ऊर्म्मिकी तरह उभर आता है। ऐसे स्थलपर वे बडी कोमलतासे साहित्यिक आँखमिचौनी खेल जाते है। प्रकाशचन्द्रजी सहृदय प्रगतिशील हैं। उनकी लेखन-शैली बडी स्वच्छ सरल है।

नगेन्द्रके शब्दोमे, 'प्रगतिका मूल ही आलोचनात्मक है, अतएव इन दो-तीन वर्षोंमे ही उसके प्रभाव-वश हिन्दी-आलोचनामे स्फूर्ति आ

गयी है'। इस दृष्टिसे प्रगतिवादी आलोचना प्रगतिशील राजनीतिक समीक्षको द्वारा अग्रसर है। रामविलास शर्म्मा और शिवदानसिंह चौहान राजनीतिक समीक्षक है।

रामविलास शर्म्मा पहिले छायावादकी कला (निरालाकी काव्य-कला) के पारखी थे। वे तन्त्रविद् समीक्षक थे। कला-तन्त्रके बाद अब वे समाज-तन्त्रके तन्त्री है। उनकी प्रगतिवादी समीक्षाओंसे ज्ञात होता है कि उनमे अपने रोमैण्टिक काव्य-संस्कारके प्रति प्रबल प्रतिक्रियाका प्रारम्भ हुआ है, मानो छायावादी कवियोंके विश्लेषणमे आत्मखण्डन कर रहे हों। आशा है, प्रतिक्रियाके शान्त होनेपर उनके द्वारा प्रगतिवादका गाम्भीर्य्य भी प्राप्त होगा और तब उसमें हृदय-पक्षको भी पुनः स्थान मिल सकेगा। अभी तो वे उत्साहाधिक्यकी ओर है—बुद्धि-पक्षमे सतर्क और अनुभूति-पक्षमे विमुख।

प्रगतिवादी दृष्टिकोणसे साहित्य-समीक्षाका प्रारम्भ सर्वप्रथम शिवदान-सिंह चौहानने किया था। शुक्लजीके बाद (छायावाद-युगमें) समीक्षा-साहित्य बुद्धिसे हृदय-पक्षकी ओर आया था, प्रगतिवाद द्वारा फिर बुद्धि-पक्षकी ओर चला गया। शुक्लजीने बौद्धिक समीक्षाको आप्त संस्कृति दी थी, प्रगतिवादने प्राप्त राजनीति दी। जीवन और साहित्यके रोमैण्टिक दृष्टिकोणका खण्डन शुक्लजीने भी किया, प्रगतिवादने भी; किन्तु दोनोंमें बुद्धि-वार्द्धक्य और बुद्धि-तारुण्यका अन्तर पड गया। शुक्लजीका वस्तु-वादी दृष्टिकोण पुराने भूगोलमे था, प्रगतिवादका यथार्थवादी दृष्टिकोण नये भूगोलमे आ गया।

रोमैण्टिक समीक्षकोंमें छायावाद जैसे उनका स्वाभाविक संस्कार भी बन गया था वैसे ही बौद्धिक समीक्षकोंमे प्रगतिवाद चौहानका प्राकृतिक चिन्तन बन गया है। उनका अनुशीलन शुरूसे ही बौद्धिक दिशामें था

अतएव बिना किसी प्रतिक्रियाके ही प्रगतिवाद उनका स्वाभाविक जीवन-दर्शन बन गया ।

चौहान प्रगतिवादके एक व्यावहारिक विचारक है, अतएव उनमे रोमैण्टिक भावुकता तो है ही नही, साथ ही बौद्धिक उत्तेजना भी नहीं है । वे गम्भीर स्थापक है । व्यावहारिक दूरदर्शिताके कारण वे रचनात्मक शक्तियोके केन्द्रीकरणकी ओर है । वास्तविकताको अस्थिकी भॉति मूलाधार बनाकर जीवनके अन्यान्य विकासोको प्रगतिवादमे स्वायत्त कर लेनेकी उनमे सङ्घटनात्मक प्रवृत्ति है, इसीलिए वे छायावाद और गान्धीवादको भी अपनी विस्तृत परिधिमे ले लेते है ।

इस समय प्रगतिवादके जितने समीक्षक है उसकी उतनी ही भिन्न-भिन्न स्थापनाऍ है । जो जीवनकी जिस समस्याके अधिक निकट आ गया उसकी समीक्षामे उसी समस्याका प्राधान्य हो गया, किन्तु समस्याऍ विभिन्न होनेके कारण प्रगतिवाद भी विभिन्न नही है । हॉ, उसकी शाखाऍ अनेक है ।

इस प्रगतिशील युगमे शुक्लजीकी समीक्षा-प्रणाली भी अभी प्रचलित है उनके शिष्य-समुदाय द्वारा । किन्तु इस समुदायका बौद्धिक विकास परम्परामे ही सीमित हो गया है, शुक्लजीकी धरोहरमे नवीन सञ्चय नहीं हो रहा है ।

अन्य समीक्षकोमे उल्लेखनीय नाम ये हैं—पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, इलाचन्द्र जोशी, भगवतीप्रसाद चन्दोला, रामनाथलाल 'सुमन', सत्येन्द्र, सत्यपाल विद्यालङ्कार, जानकीवल्लभ शास्त्री, गङ्गाप्रसाद पाण्डेय, विनयमोहन शर्मा, प्रभाकर माचवे, गजानन माधव मुक्तिबोध ।

बख्शीजी और जोशीजी द्विवेदी-युग और छायावाद-युगके बीचके समीक्षक हैं । शुक्लजी द्वारा द्विवेदी-युगकी साहित्य-समीक्षाको विचार-

गाम्भीर्य्य मिला, बख्शीजी और जोशीजी द्वारा विश्व-साहित्यका अध्ययन। ये आधुनिक साहित्यके आरम्भकालके समीक्षक है। जोशीजी स्वय एक साहित्यिक रचनाकार भी हैं, जहाँ उनका रचनाकार शिथिल हो जाता है वहाँ समीक्षाके रूपमे उनकी प्रतिक्रिया ही प्रबल हो जाती है। बख्शीजी-की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत सुष्ठु और जोशीजीकी प्रवृत्ति तीव्र है। विचारोके स्वस्थ उत्कर्षके लिए आक्रामक आलोचनाकी अपेक्षा सजेस्टिव समालोचनाकी आवश्यकता है।

संस्मरण

साहित्यिक अभिव्यक्तिके विविध साधनो (कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, निबन्ध) के उत्कर्षके बाद अब साधनोका नूतन सस्करण हो रहा है; नाटकोने एकाङ्कीका, काव्यने इम्प्रेसेनिस्ट कविताका, निबन्धों, कहानियो और जीवन-चरित्रोने शब्द-चित्रो और संस्मरणोका नव-अवयव अपनाया है। इन विभिन्न रूपान्तरोमे 'आपबीती जगबीती'के रूपमे आजका युग कथा-साहित्यका युग है। भाव-युग (छायावाद-युग) के बाद साहित्य अनुभव-युगमे है।

शब्द-चित्रो और संस्मरणोका अभी प्रारम्भ है। इस दिशाके कतिपय उल्लेखनीय लेखक ये हैं—बनारसीदास चतुर्वेदी, महादेवी वर्म्मा, निराला, विनोदशङ्कर व्यास, रामनाथलाल 'सुमन', सत्यजीवन वर्म्मा, श्रीराम शर्मा।

महादेवीजीके सस्मरणो ('अतीतके चलचित्र' और 'स्मृतिकी रेखाएँ') मे सामाजिक साधना है।

'अतीतके चलचित्र', संस्मरणमे कहानी है, कहानीमे सस्मरण। हमारे साहित्यमे पुरुषकी आँखोंसे देखा हुआ समाज पर्याप्त आ

चुका है, किन्तु यह पहला गम्भीर प्रयत्न है जो नारीकी आँखोसे समाजका चित्रोद्घाटन करता है। शरदने समाजकी जिस मर्य्यादाका भार देवियोंके कन्धोपर डाल दिया है, 'अतीतके चलचित्र'मे महादेवीने उसे ही सँभाला है। यह पुस्तक एक स्वच्छ सामाजिक दर्पण है, अत्याचारी इसमे अपनी मुखाकृति देख सकते है और नारी अपनी साधनाका प्रकाश। इसका प्रत्येक आख्यान साँचोमे ढली सुघड़ सृष्टिकी तरह सुडौल है। कवि होनेके कारण महादेवीकी भाषामे रसात्मकता ओर चित्र-मनोरमता है। किन्तु कवित्वके नीचे वस्तुत्व दब नहीं गया है बल्कि वह हृदय-स्निग्ध होकर पत्थरसे सङ्गमर्मर हो गया है। काव्यके मानसलोककी महादेवीका समाज-लोक 'अतीतके चलचित्र'मे है। उनकी कविताओंमे अनुभूतियोका सङ्गीत है, उनके सस्मरणोमे अनुभूतियोंकी स्वरलिपि; उनके जीवनका अनुभव-सूत्र। शरदकी आर्य्यकन्याएँ यदि अपने सस्मरण स्वयं लिखतीं तो उनकी कथाका जो वास्तविक और सात्त्विक रूप होता वही इन जीवित कहानियोमे है।

'स्मृतिकी रेखाएँ' सस्मरणसे अधिक कथा निवन्ध बन गयी है, तथापि इनमे भी रसात्मकता और चित्रात्मकता है। पात्रोका चरित्र-चित्रण इतना सजीव है कि मानो वे पृथ्वीसे उठाकर शब्दोंमें रोप दिये गये हैं।

हास्य

साहित्यके अन्य अङ्गोकी भाँति हास्यका पर्य्याप्त विकास नही हुआ। यद्यपि हास्यके कुछ कलात्मक अवयव आ गये है, यथा, पैरोडी, चुटकुले, सटायर, कहानी; तथापि हास्यकी स्थिति अभी उपहास्य है। शिष्ट हास्य कम, धृष्टहास्य अधिक है। कभी-कभी व्यक्तिगत कुरुचि इतनी

तीव्र हो जाती है कि जी चाहता है, धृष्ट रचनाओंको फिनायलके कुप्पेमे डाल दिया जाय ताकि उनके 'जर्म्स' मर जायँ।

जी० पी० श्रीवास्तवके बाद हास्य रसके वर्तमान अग्रसर लेखक ये है—निखट्टू, बेढब, हरिशङ्कर शर्म्मा, शिक्षार्थी, बेधड़क, चोंच, कुटिलेश, इत्यादि। इनमेसे निखट्टूका हास्य स्थायी रसकी दृष्टिसे, बेढबका हास्य सामयिक चुटकियोकी दृष्टिसे, हरिशङ्करजीका हास्य द्विवेदी-युगकी भाषाकी दृष्टिसे सफल है।

निखट्टूको हास्यरसमे अग्रगण्यता प्राप्त है। उनका हास्य परिहासका फोव्वारा छोडता है। उनकी उपमाएँ और दृष्टान्त बडे मौजूँ होते है, उनमे कलात्मक विनोदशीलता है। भाषा हास्यकी तरह ही तरल-सरल है। उनकी कहानियोमे टाइपके व्यक्तियो और टाइपके जमानेकी खासी झाँकी मिलती है। मनोरञ्जकता होते हुए भी उनके हास्यमे अतिरञ्जकता नहीं, स्वाभाविकता है।

प्रगतिशील युग

छायावाद मानसिक धरातलपर था, बुद्धिवाद सामाजिक धरातलपर आया, प्रगतिवाद राजनीतिक धरातलपर। प्रगतिशील युगके जिन रचयिताओंमे मानसिक धरातल भी बना हुआ है, उनकी रचनाओंमे साहित्यका स्थायी रस भी है।

सम्प्रति प्रगतिशील युगकी अधिकाश रचनाओंमें गम्भीर धारणाका अभाव और आवेग-उद्वेगका आधिक्य है। कलाकी दृष्टिसे प्रगतिशील युगकी विशेषता है—भाषाकी वेगशीलता और अभिव्यक्तिकी तीव्रता। किन्तु इसीके साथ साहित्यिक सौष्ठव (भाषा और शैलीमें परिष्कार) का भी ध्यान बनाये रखना चाहिये।

प्रगतिवादके क्षेत्रमें अभी नये इतिहासकी नयी प्रजाएँ नहीं आयी है। इस क्षेत्रमे मुख्यतः वे ही आये है जो छायावाद-कालमे उर्दूकी उत्कटतासे उत्प्रेरित थे, फलतः इनके लिए साधनाका प्रश्न न पहिले था और न आगे है।

अन्यत्र हमने निर्देश किया है कि हिन्दी-कवितामे निराशाका स्वर किसी गहरी सामाजिक अव्यवस्थाका सूचक है। निराशाका स्वर अब प्रगतिवादमे शक्तिका सम्बल पा गया है किन्तु यहाँ यह भी विचारणीय है कि पिछली निराशाका कारण कहाँतक सामाजिक था और कहाँतक वैयक्तिक। यदि वर्ग-दृष्टिसे देखें तो निराशाका स्वर निम्नवर्गसे लेकर उच्चवर्गतक एक समान ही मिलेगा, सुखी वर्ग भी हताश ही रहा। जहाँतक जीवनकी प्राथमिक आवश्यकता (शिश्नोदरकी पूर्त्ति) का प्रश्न है, निराशाका कारण पूँजीवादी सामाजिक अव्यवस्था ही हो सकती है, किन्तु इसकी अपरिमित तृष्णा मनुष्यकी वैयक्तिक लोलुपताका सूचक है।

मनुष्यकी महत्त्वाकाक्षाओंका अन्त नहीं है, फलतः उसकी एषणाओंका भी अन्त नहीं है ; अतएव आकाक्षांकी किसी न किसी सतह-पर मनुष्यका मनोरथ भग्न हो जाता है, जीवनमे दुःख ही ध्रुव बन जाता है। आकाक्षाकी सतहोंके अनुसार सुख-दुःखकी सीमाएँ भी अनन्त है, अतएव अनन्त सुख भी अनन्त दुःख ही है—मत्स्यगन्धाके यौवनकी तरह। इस सीमामे सुख-दुःखका कारण वैयक्तिक अथवा मनोवैज्ञानिक हो जाता है।

जीवनका निर्म्माण कामनासे नहीं, साधनासे होता है। कामनामें अशान्त आकाक्षा है, साधनामे शान्त आस्था। आकाक्षाकी अशान्तिका कारण जहाँ सामाजिक है वहाँ उसका निदान प्रगतिवादमे मिलेगा, और

जहाँ वैयक्तिक है वहाँ अध्यात्मवादमें; चाहे उसे गान्धीवाद कहे या छाया-वाद। सामाजिक व्यवस्थाके बाद वैयक्तिक विकासके लिए अध्यात्मवाद मानव-मनोविज्ञानके शुभ्र शिखरपर है। पूँजीवादी युगका व्यक्तिवाद चाहे न रहे, किन्तु प्रज्ञान-युगका अध्यात्म व्यक्तित्वके निर्म्माणके लिए अनि-वार्य्य रहेगा।

प्रगतिवादके रचयिताओंमे पन्त और यशपालके साहित्यमे स्थायित्व है। इनके यथार्थके भीतर पशुकी नही, मनुष्यकी स्थापना है, इसीलिए इन्होंने जीवनको उसके मनोविकासमे भी रखकर देखा है। मनोविकासकी भूमिमे पन्त और यशपाल कवि है। इनकी रचनाओंमे वस्तुसत्य ही नहीं, भावसत्य भी है; अन्तर यह कि यशपालका भावसत्य सामाजिक समाधान चाहता है, पन्तका भावसत्य दार्शनिक समाधान भी। फलतः, यशपालकी सीमा राजनीतिक है, पन्तकी सीमा सास्कृतिक।

पन्तजी अपनी कविताओ द्वारा कवि-रूपमे प्रकाशित हैं, किन्तु यश-पालका कवि-हृदय उनकी कहानियो और उपन्यासोंमे प्रच्छन्न है। जीवन इनके लिए एक वासना ही नही, साधना भी है।

यशपालके 'देशद्रोही' (उपन्यास) की समीक्षा करते हुए कट्टर प्रगतिवादी समीक्षकोने कहा है कि वे अभी बुर्जुआ-कालका रोमास नही छोड सके है। किन्तु 'देशद्रोही' के डाक्टर खन्नामे रोमासका मास-पिण्ड नहीं है, उसमे वह आत्मचेतना है जो वासनाकी सहज सफलतामे ही पर्य्यवसित नहीं। वह प्रेमयोगी है। ऐसे चरित्रोंको हृदयङ्गम करनेके लिए महत्तर मनोविज्ञान चाहिये। कम्यूनिस्ट होते हुए भी यशपालमे राजनीतिक शुष्कता नहीं है, उनमे सुकोमल सवेदनशीलता है। इसीलिए डाक्टर खन्नाके रूपमे वे मानो स्वय ही गृहिणी चन्दाकी गोदमे सिर रख-कर नारीके उस समग्र रूपको सरल भावसे चाह सके हैं जिसे सम्बोधित कर

कवि पन्तने कहा है—'देवि, मा, सहचरि, प्राण !' इन समग्र रूपोमे डाक्टर खन्नाका अथवा पुरुषका शिशु भाव ही प्रस्फुटित हो उठा है। शरीरके भीतर अन्तःस्पन्दनकी भाँति उसके बौद्धिक कार्य्यकलापमे एक परमहंस-हृदय भी है। क्रान्तिकारी केवल दुर्विदग्ध नहीं, आत्मविदग्ध भी हो सकता है, यह खन्नाके चरित्रसे स्पष्ट है।

यदि रोमास ही अभीष्ट होता तो डाक्टर खन्नाके लिए अनेक अवसर थे, किन्तु मनुष्यमे और भी कुछ है जो उसमे हृदयकी साधना जगाता है। यहींपर मनुष्य भावनाशील प्राणी भी है, यो तो वह अपनी कामनामे पशु है ही। यशपालने मनुष्यसे अन्त.साधनामे साक्षात् कराया है, किन्तु उनकी साधनाका धरातल पार्थिव जगत् है, अतएव साधनाको सुखान्त बना देनेके लिए वे प्रगतिवादके सामाजिक चित्रपटकी ओर है।

यशपालकी विशेषता यह है कि उन्होने मनुष्यके सामाजिक सम्बन्धोका आभिजात्य (हृदय-पक्ष) बनाये रखकर यथार्थवादका धरातल दिया है। 'दादा कामरेड' मे यथार्थवाद मनुष्यके नैसर्गिक कौतूहलमे परिणत हो गया है। उसमे बुभुक्षित क्रान्तिकारी नारीका नग्न-समर्पण चाहता है। जिसके हृदयमे अपने सन्तप्त सखाके लिए कुछ भी दुराव नही है वह अभिन्न-हृदया नारी नग्न होकर भी अपनी दिगम्बरतामे अवगुण्ठित हो जाती है। नारीका नारीत्व (आत्ममर्य्यादा) आवरणमे नही, उसके अन्तःकरणमे है, यह सत्य इस नग्न यथार्थमे साकार हो गया है। 'सुनीता' मे जैनेन्द्रने भी नारीका नग्न-समर्पण उपस्थित किया है किन्तु वे यशपालकी भाँति प्राणोद्रेक नहीं कर सके।

नैतिक दृष्टिसे नग्नचित्रण अश्लील समझा जाता है। किन्तु अश्लीलता किसी चीजको नग्नरूपमे उपस्थित करनेमे नही है, बल्कि यह तो उस भावमें है जिससे अच्छे या बुरे विचार बनते है। इस दृष्टिसे देखनेपर

ढॅकी-मुँदी बातोंमे अश्लीलता हो सकती है और बिना ढॅकी-मुदी बातोंमे नहीं भी हो सकती। यशपाल और जैनेन्द्रके चित्रणमे सौन्दर्य नग्न होकर भी शिवत्वसे आवृत्त है।

जीवनकी हार्दिक समस्यामे यशपाल कवि होते हुए भी सामूहिक समस्यामे वैज्ञानिक है। समाज-निर्म्माणके लिए वे ठोस व्यावहारिक दृष्टि-कोणसे समस्याओपर विचार करते है—'मार्क्सवाद', 'चक्कर क्लब' और 'न्यायका सङ्घर्ष' मे उनकी बौद्धिक दृढता है।

पन्त और यशपाल प्रगतिवादके उत्तरदायित्वपूर्ण प्रतिनिधि है। छायावादके बादकी काव्यचेतना पन्तकी कृतियोमे और प्रेमचन्दजीके बादकी युग-चेतना यशपालकी कहानियो और उपन्यासोमे व्यक्तित्व पा सकी है। इन दोनो कलाकारोका मूल व्यक्तित्व जीवनके परिपूरक रसको भी अपना सका है—यशपालने वास्तविकताके अतिरिक्त कविता (सहृदयता) को स्पर्श किया है, पन्तने कविताके अतिरिक्त वास्तविकता (क्षुत्क्षाम) को।

प्रेमचन्द कथा-साहित्यको गान्धी-युगके मनोविकास और प्रगतिवादी युगकी उन्मुख समस्या (आर्थिक समस्या) मे छोड गये थे। उनके बाद कथा-साहित्यमे प्रगतिवादी दृष्टिकोणका प्रसार हुआ। प्रगतिवाद राज-नीतिक अभिव्यक्ति तो पा गया किन्तु उसे प्रेमचन्द और गुप्तजीकी साहि-त्यिक गरिमाकी भी आवश्यकता थी। इस आवश्यकताकी पूर्त्ति काव्यमे पन्तसे, कथामे यशपालसे हुई।

प्रेमचन्द और यशपाल

प्रेमचन्दके बाद यशपाल सही मानेमें जनसाधारणके लिए भी हिन्दी-कथा-साहित्यका प्रतिनिधित्व करते हैं। उनकी रचनाएँ एक ओर साहित्यिकोंके लिए दूसरी ओर जनताके लिए भी आकर्षक हैं। भाषा

और शैलीकी दृष्टिमे ऐसा जान पडता है कि मानो प्रेमचन्दजी ही नये युगमे नया शरीर धारण कर पुनः सजीव हो गये हैं। किन्तु बाह्य समानता होते हुए भी प्रेमचन्द और यशपालमे दो युगो (गान्धीयुग और प्रगतिशील-युग) का अन्तर पड गया है। यशपालमे प्रेमचन्दके आगेका यौवन है। फलतः दोनोके दृष्टिबिन्दु और चरित्रचित्रणमे भी अन्तर है।

प्रेमचन्द और यशपाल भारतकी टेठ मिट्टी (देहात) से उत्पन्न साहित्यकार हैं। प्रेमचन्द यू० पी० के ग्रामीण वातावरणसे आये थे, यशपाल पञ्जाब (कुल्लू) की पर्वतीय उपत्यकासे। दोनो उर्दू-प्रधान कुटुम्बोमे उत्पन्न हुए, फलतः दोनोकी भाषा और शैलीमे उर्दूके भीतरसे हिन्दीकी सहज निखार है। फिर भी प्रेमचन्द और यशपालके साहित्यिक व्यक्तित्वमे कुछ प्रान्तीय अन्तर पड़ गया है—पञ्चनद-वासी होनेके कारण स्वभावतः यशपालके पात्रो और वातावरणमे एक नवीनता आ गयी है, पश्चिमोत्तर सीमान्तका भी जीवन चित्र उनकी कथाकृतियो द्वारा सुलभ हो सका है। विभिन्न अन्तरोके होते हुए भी प्रेमचन्द और यशपालकी बाह्य समानताका कारण उर्दूका कला-संस्कार है, उर्दूसे प्रेमचन्द हिन्दीमे वैसे ही आये जैसे पञ्जाबसे यशपाल यू० पी० मे।

यशपालकी कहानियाँ प्रेमचन्दजीकी कहानियोंसे बहुत छोटी हैं। शार्ट स्टोरीकी दृष्टिसे इतनी छोटी सारगर्भित कहानियाँ हिन्दीमे दुर्लभ हैं। उनकी कहानियोका गठन बहुत साफ, सुडौल और संक्षिप्त है, एक पौधेकी तरह। 'पिंजड़ेकी उड़ान', 'ज्ञानदान' और 'वो दुनिया' मे उनकी कथावस्तुका क्रमिक विकास है—'उडान' की कहानियाँ प्रायः भावमूलक हैं, 'ज्ञानदान' की कहानियाँ यथार्थ-मूलक, 'वो दुनिया' की कहानियाँ समस्या मूलक। समस्या मूलक कहानियोमे साङ्केतिक व्यञ्जना है, वे बिना लेखकके बोले ही प्रश्न

उपस्थित कर देती हैं। उनमे लेखक केवल चरित्रकार है, प्रचारक नहीं। इन कहानी-सग्रहोकी भाषा प्रेमचन्दकी तरह सीधी-सादी, किन्तु उनसे अधिक चित्रात्मक है। प्राकृतिक दृश्यो और वातावरणका चित्रण थोडेमे पूर्ण सजीव है। कथानक, चित्रण, चरित्राङ्कन और शैलीकी दृष्टिसे यशपाल, एक शब्दमे, प्रेमचन्दकी तिरोहित प्रतिभाकी तरुण-शक्ति हैं।

'देशद्रोही'

कहानियोंके अतिरिक्त यशपालके दो उपन्यास है—'दादा कामरेड' और 'देशद्रोही'। 'दादा कामरेड' मे शरद बाबूके 'पथके दावेदार' के बादका क्रान्तिकारी जीवन है, 'देशद्रोही' मे प्रेमचन्दजीके 'गोदान' के बादका राजनीतिक जगत्। 'देशद्रोही' मे डाक्टर खन्नाका अन्त वैसे ही निःसहाय वातावरणमे हुआ है जैसे करुण वातावरणमे 'गोदान' के होरीका; बल्कि उससे भी अधिक रोमाञ्चक वातावरणमे। इस प्रकार हम देखते हैं कि सक्रान्ति-कालसे गुजरते हुए भी 'गोदान' से 'देशद्रोही' तक जनता और समाज अभी क्रान्तिकी पूर्व स्थितिमे है, जैसे भूकम्पसे पूर्व भूगोल। 'देशद्रोही'मे कुछ सामाजिक और राजनीतिक समस्याएँ छेडी गयी हैं किन्तु वे बिना किसी समाधानके युगकी ट्रैजेडीका इजहार छोड गयी है। रूढिवादी राजाराम और प्रगतिवादी खन्ना दोनों निरुपाय और मृत है।

'दादा कामरेड' का धरातल राष्ट्रीय है, 'देशद्रोही' का धरातल अन्तर्राष्ट्रीय। इसकी ताजगी यह है कि महायुद्धसे लेकर बम्बईके अगस्त-प्रस्ताव (सन् '४२) के सिलसिलेमे काग्रेस-नेताओंकी गिरफ्तारी और उसके बाद देशव्यापी अशान्तिककी घटनाएँ इसमे आ गयी हैं। उपन्यास दुःखान्त है। ऊपरसे देखनेपर उपन्यासके ऐसे दारुण अन्तका

उत्तरदायित्व काग्रेस-समाजवादी शिवनाथ और गान्धीवादी बद्रीनाथ-पर जान पड़ता है। फिर भी शिवनाथकी विश्वासघातकतासे उत्पन्न ट्रैजेडी जीवनका कुछ सम्बल पा जाती यदि बद्रीनाथके हृदयमे राजके प्रति वही शिशु-भाव होता जो शिशु-भाव खन्नाके हृदयमे चन्दाके प्रति है। उस हालतमे डाक्टर खन्नाका जीवन एकदम निःसहाय नहीं हो जाता। उपन्यासकी अन्तिम कुञ्जी इसी एक मनोभाव (शिशु-भाव) के पात्र-भेद हो जानेमे है। गान्धीवादीके बजाय प्रगतिवादीमे परमहस-वृत्तिका प्रादुर्भाव कराकर लेखकने चारित्रिक वैचित्र्य-द्वारा सहृदयताको 'वाद'-मुक्त करनेका प्रयत्न किया है। 'देशद्रोही'का शिल्प (चरित्रचित्रण) मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे त्रुटि-रहित है, किन्तु दृष्टिकोण मतभेदपूर्ण हो सकता है। अन्य धारणाओका लेखक मनोविज्ञानका उपयोग अपने दृष्टिकोणके अनुसार कर सकता है, चरित्रोकी चित्ररेखा बदल सकता है, यथा, गान्धीवादी या काग्रेस-समाजवादी। अतएव, सहृदयताको 'वाद'-मुक्त करनेका प्रयत्न पक्षपात-रहित नही हो सका है। लेखकके प्रयत्नकी सार्थकता यह जान पडती है कि कम्यूनिस्टमें भी वह सहृदयताकी स्थापना कर सका है।

'देशद्रोही'में जीवनके सभी अवयव सङ्घटित हो गये है—व्यक्ति, समाज, राष्ट्र, अन्तर्राष्ट्र। इन्हींके अनुरूप इसमे चरित्रो और समस्याओकी विविधता भी है—स्त्रियॉ भी है, पुरुष भी ; पूँजीपति भी हैं, मजदूर भी ; साथ ही राजनीतिक क्षेत्रके विभिन्न कार्य्यकर्त्ता भी। सामाजिक रूपमें विवाह या प्रेम-समस्या है, राजनीतिक रूपमे महायुद्ध अथवा जीवन-मरणकी समस्या। अन्तमे सामाजिक और राजनीतिक उलझनोमे उलझी हुई मुख्य समस्या हृदय या प्रेमकी है। मनुष्य अपनी हार्दिक समस्यामें समूहका एक विवश अङ्ग है। सामूहिक समस्याके सुलझे बिना वैयक्तिक

समस्या भी सुलझ नहीं सकती, इसलिए लेखक समष्टिवाद (कम्यूनिज्म) की ओर है। आजकी विचारधाराओका मतभेद सामूहिक समस्याके अस्तित्वमे नहीं, उनके स्वरूपमे है—राजनीतिक या सास्कृतिक, बौद्धिक या हार्दिक। लेखकने समस्याओको सुलझानेके बजाय उन्हे प्रगतिशील दृष्टिकोणसे समझनेका साधन उपस्थित किया है। -

'देशद्रोही'के कथानकका गठन बहुत ही सुडौल है। प्रत्येक परिच्छेद बडे करीनेसे सिलसिलेवार जुडा हुआ है। ऐसा जान पड़ता है कि लेखकको प्लॉट सोचनेमे मिहनत नहीं करनी पडती, उसका दिमाग बिजलीके स्विचकी तरह काम करता है। वजीरिस्तान, गजनी, समरकन्द और सोवियट रूसके दृश्य और जीवन-चित्र इतनी सजीवतासे अङ्कित हुए हैं कि आश्चर्य्य होता है, लेखकने बिना देखे ही कैसे उन्हे शब्दोमे साकार कर दिया! ज्ञात होता है कि लेखकमे कलाकी ग्राहिका शक्ति (कल्पना) बड़ी प्रबल है।

यशपाल गहरे मनोवैज्ञानिक है। व्यक्तियो, वस्तुओ और परिस्थितियोके ही नहीं, बल्कि सूक्ष्मतम मनःस्थितियोके स्वच्छ चित्रकार हैं। उनकी उपमाएँ बडी सटीक होती है। गूढको सरल बना देना उनकी विशेषता है। वाक्योमे सक्षिप्तता और भाषामे सादगी है; वर्णनमे दृष्टिमत्ता।

प्रचार और सञ्चार

हाँ, यदि कलामे कलाकार-द्वारा अपने पक्षको आगे करना 'प्रोपगैण्डा' है तो यह उपन्यास भी प्रचारात्मक है। प्रेमचन्दपर भी प्रोपगैण्डाका आरोप किया जा चुका है। किसी विशेष क्षेत्रका स्वयं भी पात्र हो जानेके कारण लेखक दर्शककी तटस्थता नहीं ग्रहण कर पाता.

अतएव उसकी अभिव्यक्ति रससञ्चारके अतिरिक्त विचार-प्रचारकी सीमामे भी चली जाती है। तटस्थ लेखक केवल रस-सञ्चारक होता है, जैसे शरच्चन्द्र और तुर्गनेव। प्रचारात्मक कृतियोमे भी जितना ही अधिक रस-सञ्चार होता है उतना ही उनमे साहित्यिक स्थायित्व आ जाता है। इस दृष्टिसे प्रेमचन्द और यशपालके उपन्यासोमे भी कला-प्राणता है।

प्रेमचन्दके समयसे सामाजिक-राजनीतिक उपन्यासोका जो क्रम प्रारम्भ हुआ वह कथानक और शैलीमे नये लेखको द्वारा नूतनता ग्रहण कर रहा है। इस दिशामे दो नयी रचनाओकी सृष्टि हुई है—'पेरोलपर' तथा 'स्वाधीनताके पथपर।' इन उपन्यासोमे यद्यपि प्रेमचन्द और यशपाल-जैसी गम्भीर कलाकारिता नही, तथापि इनमे रसात्मकता और तटस्थता है।

पन्त और महादेवी

प्रगतिवादमें यशपाल-द्वारा भाव-सत्यका समावेश होते हुए भी लक्ष्य स्थूल है। पन्तने स्थूल सत्यके साथ आत्मवाद (गान्धीवाद)को प्रतिष्ठित कर लक्ष्यको सूक्ष्म बना दिया है। उद्वेगशील छायावादियोसे जैसे महादेवी भिन्न है, वैसे ही उद्वेलित प्रगतिवादियोसे पन्त। पन्त और महादेवीका लक्ष्य एक है, भिन्नता उनके वस्तुआधार (सामाजिक चित्रपट)मे है। महादेवीका चित्रपट धार्मिक है, पन्तका वैज्ञानिक। दोनोके काव्य-रसमे भी विभेद है—महादेवी विषादकी ओर है, पन्त आह्लादकी ओर। वैष्णव-काव्यकी चिर-अतृप्ति (निवृत्ति)मे महादेवीकी अरूप-चेतना है, मधुकाव्यकी माधवी प्रवृत्तिमे पन्तकी रूप-चेतना। वेदनाके माध्यमसे जो असीम महादेवीके लिए करुणामय है, सौन्दर्यके

माध्यमसे वही असीम पन्तके लिए सच्चिदानन्द। महादेवीने वेदनाको आध्यात्मिक चिन्तनसे, पन्तने सौन्दर्यको प्राकृतिक दर्शनसे दिव्यता दे दी है।

पन्तका निर्माण

पन्त उल्लासके कवि है—

जीवनका उल्लास—
यह सिहर, सिहर,
यह लहर, लहर,
यह फूल फूल करता विलास !

पन्त इस उल्लसित सृष्टिको सापेक्ष दृष्टिसे देखते है—

शान्त सरोवरका उर
किस इच्छासे लहराकर
हो उठता चञ्चल, चञ्चल ?

सापेक्ष दृष्टिसे देखनेपर जीवनमे आसक्ति (पार्थिव आकाक्षा)का माधुर्य्य भी आ जाता है। श्रेय और प्रेय दोनोंकी परिणति एक है—असीममे आत्मविसर्जन। वहाँतक पहुँचनेके लिए कविका सगुण-हृदय स्वभावतः प्रेय (आसक्ति)को अपनाता है, जीवन-प्रवाहको सौन्दर्य्य और सङ्गीतसे मधुर-मनोहर बना लेता है—

सागर सङ्गममें है सुख
जीवनकी गतिमें भी लय;
मेरे क्षण-क्षणके लघुकण
जीवन-लयसे हों मधुमय।

'पल्लव'मे जीवन-सौन्दर्य्यके प्रति पन्तका नयन-सुख था, 'गुञ्जन'मे स्पन्दन-सुख। 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या'मे सामाजिक सुख (उपभोग)का भी उद्बोध हुआ—

जीवनका फल, जीवनका फल!
यह चिरयौवन-श्रीसे मासल!

इसके रसमे आनन्द भरा,
इसका सौन्दर्य्य सदैव हरा,
पा दुख सुखका छाया-प्रकाश
परिपक्व हुआ इसका विकास;
इसकी मिठास है मधुर प्रेम
औ' अमर-बीज चिर विश्वक्षेम!

जीवनका फल, जीवनका फल!
इसका रस लो,—हो जन्म सफल!

जीवनकी तरल तरङ्गोमे भी पन्त आत्मजागरूक है। वे जीवनकी दोनो सतहे लेकर चले है-—उनके बहिर्तलमे क्रीडाप्रियता है, अन्तस्तलमे चिन्तनशीलता—

जीवनकी लहर-लहरसे
हँस खेल-खेल रे नाविक!
जीवनके अन्तस्तलमे
नित बूड-बूड़ रे भाविक!

पन्तजी अन्तर्मुख प्रगतिवादी है। गान्धीवादके सान्निध्यमे उनकी 'आत्माका अक्षय धन' सुरक्षित है। वे उपभोगके भीतरसे आत्मयोगके कवि है, आसक्त आस्तिक है। एक शब्दमे, वे अर्वाचीन सगुण कवि

है। अर्वाचीन इसलिए कि जीवनका गुणात्मक मूल्याङ्कन वे प्रगतिवादके दृष्टिकोणसे करते है।

गान्धीकी आत्मा, रवीन्द्रकी रसात्मकता और मार्क्सकी प्रगतिशीलताका पन्तके कवि-मानसमे समन्वय है। इनमे विरोधाभास नहीं, बल्कि एक ही जीवन-सरिताकी छन्दोबद्धता है—

आत्मा है सरिताके भी
जिससे सरिता है सरिता;
जल जल है, लहर लहर रे,
गति गति, सृति सृति चिरभरिता।

इस दृष्टिसे जीवनके जलनिधि (भव-सागर) मे भी लहर है, छायावाद, सृति है, गान्धीवाद, गति है, मार्क्सवाद।

पन्तमे वह आत्मस्थता है जो बाहरी तूफानोमे भी प्रकृतिस्थ रहती है। इसीलिए उनमे उद्वेलन नही, सुस्पन्दन है। गर्जन-तर्जन और कोलाहल उनके स्वभावमे नही। उपवनमे तूफानके आने पर बड़े-बटे वृक्षोंकी जो चरमराहट होती है वह एक कलित कोमल कुसुमकी नहीं, उसका तो हिल भर जाना काफी है। 'वह्नि, बाढ, झझाके भूपर' पन्तका भी 'कोमल मनुज-कलेवर' हिल-डुल गया है। जहॉ मानसिक सङ्घर्ष उनकी चेतनाको आलोडित कर गया है, वहॉ उनकी अभिव्यक्तिमे तीव्रता भी आ गयी है, यथा, 'परिवर्त्तन'मे तथा यत्र-तत्र नवीन रचनाओमे। किन्तु उत्क्रान्तिको अङ्गीकार करके भी वे सृजनके प्रति तन्मय है। अन्य प्रगतिशील कवि जब कि क्रान्तमुख है, पन्त निर्म्माणोन्मुख भी। क्रान्तिके बाद जो उत्तरदायित्व कविपर आता है, पन्तने उसे सॅभाला है।

पन्तने मनुष्यको उसके मनोहर मनोविकासमे उपस्थित किया है। कवि सृष्टिकार है, अतएव वह स्वभावतः अपने युगकी अपेक्षा अधिक प्रकृतिस्थ होता है और आनेवाले युगके लिए जीवनका मानचित्र छोड जाता है। पन्तने प्रायः भावी युगके चित्रपटपर अपनी नवीन रचना की है। वे प्रगतिवादके यूटोपियन कवि है। उनके मनश्चक्षुओमे आगत युगका चित्र यह है—

डूब गये सब तर्क वाद,
सब देशो राष्ट्रोके रण,
डूब गया रव घोर क्रान्तिका
शान्त विश्व—सङ्घर्षण ।

उस आनेवाले युगमे मनुष्यके निर्म्माणमे सस्कृति और कलाका सहयोग होगा—

संस्कृत वाणी भाव कर्म, सस्कृत मन,
सुन्दर हो जन-वास, वसन, सुन्दर तन ।

यह मानो सेवाग्राम और शान्ति-निकेतनका सम्मिलन है। जीवनका यह सम्यक् निर्म्माण सर्वसुलभ हो जाय, इसके लिए पन्त व्यक्तिवादी युगकी सीमासे निकलकर समष्टिवादी युगमे चले गये है।

मानव-मनोविकासके लिए पन्त जीवनकी सरलताकी ओर है, आधुनिकतासे ग्रस्त नही। 'ग्राम्या' मे ग्राम्यनारीकी स्वाभाविकताको उन्होंने अपनी आस्था दी है।

ग्रामोके मूल व्यक्तित्वको बनाये रखकर उन्होने समय, सुविधा और संस्कारके लिए समष्टिवादी युगका आह्वान किया है। वे सास्कृतिक समष्टि-

वादी हैं। गान्धीवाद और साम्यवादका स्पष्टीकरण उन्होंने इस प्रकार किया है—

मनुष्यत्वका तत्त्व सिखाता निश्चय हमको गान्धीवाद
सामूहिक जीवन-विकासकी साम्य योजना है अविवाद।

पन्त शुरूसे ही एक स्रष्टा कवि हैं। छायावाद-युगमे उन्होंने अपनी जो मनोज्ञ सृष्टि दी थी, वह मिथ्या अथवा क्षणभङ्गुर नहीं थी। जीवनको यदि शोभन बनाना है तो मनुष्यमात्रको अपने कला-विकासमे उसी सृष्टिको पाना है। क्रान्ति केवल उसके लिए विस्तृत क्षेत्र प्रस्तुत कर सकती है, उसका अस्तित्व नही मिटा सकती।

वैभवका प्रभुत्व जैसे पूँजीपतियोंतक सीमित है वैसे ही भावका प्रभुत्व केवल कवितक ही सीमित न रह जाय, यही प्रगतिवादका प्रयत्न हो सकता है। पन्तने चाहा है कि भाव केवल कविके स्वप्नोंमे ही नहीं, मानव-समाजके जीवनमें मूर्त्त हो जाय, नवजीवनके निर्म्माणमें प्रत्येक मनुष्य सुरुचिका शिल्पी (कवि) हो जाय। 'युगवाणी' में कविने जीवनोल्लासके लिए प्राकृतिक जगत्को मानवीय जगत्मे परिणत कर लेनेका सङ्केत दिया है। 'ज्योत्स्ना'के भावनाट्यमे उसका सङ्केत साकार भी हो सका है। कविकी आकाक्षा है, मनुष्य भावुक ही नहीं, स्वय भाव-रूप हो जाय ; मनसे, वचनसे, कर्मसे। भावको वस्तुका आधार देनेके लिए ही पन्त इतिहासके समीक्षक कवि (समाजवादी कवि) हैं।

पन्तने अपनी मनोज्ञ सृष्टि 'पल्लव'की सुकोमल पङ्खुडियोंसे रची थी। उसमे सुकुमारता थी—

वन्ययुग (आदिम युग)के मानवके जीवनका रस लोमहर्षक था। वन्ययुगसे निकलकर मनुष्यने जब सामाजिक जीवनमें प्रवेश किया तब

उसने पारिवारिक सम्बन्धोमे अनुभव किया कि मानवता हृदयके कोमल रसोमे है, वर्बरतामे नहीं। माता, पिता, भाई, भगिनी और सङ्गिनीने मनुष्यमे भक्ति, करुणा, वात्सल्य और श्रृङ्गारका उद्रेक किया। सामाजिक जीवनकी जननी नारी है, अतएव ये पारिवारिक रस स्वभावतः सुकुमार है। कोमल रसोकी उपासना सामाजिक रमणीयताकी उपासना है, इसमे स्त्रैणता नहीं, सहृदयता है। प्रकारान्तरसे यह कर्म्म-लोकमे नारीके सृजन-सौन्दर्यकी शिरोधार्यता है—

घने लहरे रेशमके बाल
धरा है सिरमे मैने देवि!
तुम्हारा यह स्वर्गिक श्रृङ्गार
स्वर्णका सुरभित भार!

पन्तका यह उद्गार एक प्रतीक-सत्य है। विना इस शिरोधार्य्यताके क्रान्ति भी शिवत्व नहीं पा सकती। शिवकी क्रान्ति समाजमे नारीके व्यक्तित्वकी स्थापनाके लिए है।

'ग्राम्या' मे नारीको कलाके रूपमे उपस्थित करते हुए अपने नारी-दृष्टिकोणके सम्बन्धमे पन्तने कहा है—

नारीकी सुन्दरतापर मै होता नहीं विमोहित,
शोभाका ऐश्वर्य मुझे करता अवश्य आनन्दित।
विशद स्त्रीत्वका ही मै मनमे करता हूँ नित पूजन,
जब आभा-देही नारी आह्लाद प्रेम कर वर्षण
मधुर मानवीकी महिमासे भूको करती पावन।

विभिन्न कवियोने विभिन्न रसोको अपनाकर मानो अपने मनोविकास-की सीमा सूचित की है। जिनकी वाणीमें तीक्ष्णता ही प्रधान है वे वन्य-

युगसे अपनी सगोत्रता बनाये हुए है और उत्तेजनाको ही ओजस्विता समझे हुए हैं।

यदि काव्य कविका व्यक्तित्व है तो उसके द्वारा यह स्पष्ट हो सकता है कि कविने जीवनको रूक्ष अथवा मधुर किस रूपमे अपनाया है। चारण-कवियोने जीवनको कठोर रूपमे और वैष्णव कवियोंने मधुर रूपमे मूर्त्त किया था। वैष्णवोंको जीवनकी मधुरताका जो रूप प्रिय था उन्होंने उसी रूपकी विशेष उपासना की। सूरको वात्सल्य प्रिय था, अतएव वे भी अपने काव्यमे शिशु-हृदय हो गये। सूरने पुरुषका शैशव लिया, पन्तने प्रकृतिका शैशव, अतएव उनके अन्तरतममे सरल बालिकाका हृदय है—

'सरल शैशवकी सुखद सुधि-सी वही
बालिका मेरी मनोरम मित्र थी।'

भाव जगत्को उन्होने बालिकाकी ऑखोसे देखा था, इसीलिए सृष्टि और कलाको वे सुघरतम रूपमे उपस्थित कर सके।

यो तो जीवन एक रूक्ष यथार्थ है, किन्तु कवित्वसे स्निग्ध होकर वह हमारे मनमे रमने लगता है, उससे हमें अनुराग हो जाता है। जीवनके सौन्दर्य और अनुरागके लिए पन्तने भव-आतपको इन्दुकला दी थी।

और आज जब कि मन्वन्तर हो रहा है, पन्त छायावाद-युगसे प्रगतिशील-युगमे आ गये है। प्रगतिशील-युगके प्रथम परिचयमे पन्तने कहा—

तुम वहन कर सको जन मनमें मेरे विचार
वाणी मेरी, चाहिये तुम्हे क्या अलङ्कार!

किन्तु पन्त जनताके कलाकार युग-प्रतिनिधि है, अतएव नवीन रचनाओमे उनकी कलाकारिता भी बनी रही। पन्त एक महान् जनता है। महान् इसलिए कि उनमे जनताकी जडता नही है, जनता इस लिए कि वे युगकी समस्याओमे उसकी सतहपर है।

पन्तने प्रगतिवादको जब चिन्तन-द्वारा अपनाया तब उनकी वाणी गीत-गद्य बन गयी, जहाँ चिन्तना भावनामे मूर्त्त हो सकी वहाँ उनकी वाणी 'लीरिक' भी बन गयी। वही उनकी कलाकारिता चित्र और सङ्गीतमे सजीव है। उनके चित्र चित्रवत् ही नही, गत्यात्मक भी है—

अभी गिरा रवि, ताम्र कलश-सा,
गङ्गाके उस पार
क्लान्त पान्थ, जिह्वा विलोल
जलमे रक्ताभ प्रसार।

इस चलचित्रमे दृश्य और गतिका सामञ्जस्य देखते ही बनता है।

काव्यमे विराट् चित्रणको महत्त्व दिया गया है। किन्तु विराट्को विन्दुमे सिन्धुकी तरह चित्रित करना एक दुर्लभ कला है। पन्तने विराट् चित्रणकी सक्षिप्त कलाकी भी झलक दी है। प्रातअरुणके साथ सम्पूर्ण सृष्टिको भी एक ही शब्दमे व्यञ्जित कर दिया है—'गलित ताम्र भव।'

पन्तने छायावाद-युगके बादकी रचनाओमे जीवनका ही नही, कला-का भी नवीन प्रयोग किया है। 'ग्राम्या' मे उनका कला-प्रयोग सर्वथा नूतन है। 'पल्लव' के कवि-द्वारा 'ग्राम्या' मे ठेठ सस्कारोका रसोद्रेक उसकी कला-क्षमताका सूचक है। जो काम द्विवेदी-युगके कवियोका था, उसे छायावाद-युगके पन्तने बड़ी स्वाभाविकतासे सहज कर दिया। हाँ, भावके साथ विचार विज्ञप्ति-पत्रकी तरह सम्बद्ध होनेके कारण उनके दोनो

व्यक्तित्व (कवि और विचारक) विलग हो गये है। सम्प्रति उपयोगिता-वादके कारण पन्तके लिए कवित्व गौण हो गया है। नवीन सामाजिक परिणतिमे जब विचार जीवनका रस पा जायगे तब विचारोका भावोसे अलग अस्तित्व नहीं रह जायगा, वे जन-जनमे जीवित भाव बन जायेंगे।

जीवनके प्रयोगमे पन्त प्राकृतिक क्षेत्रसे मानवीय क्षेत्रमे आये है। भावजगत्मे प्रकृति उनका आलम्बन थी, वस्तुजगत्मे मनुष्य उनका आलम्बन है। सस्कृति उनके दोनो युगो (छायावाद-युग और प्रगति-शील-युग) के काव्यमे बनी हुई है। सस्कृतिके कारण पन्तका मनुष्य पशु नहीं है। मनुष्यको पशु-लिप्साओंकी ओर बढ़ते देखकर कविने कहा है—

प्राणिप्रवर
हो गये निछावर
अचिर धूलिपर !!
निद्रा, भय, मैथुनाहार
—ये पशु-लिप्साएँ चार—
हुईं तुम्हे सर्वस्व सार ?
धिक् मैथुन-आहार-यन्त्र !

किन्तु कट्टर यथार्थवादी कह सकता है कि मनुष्य पहले ठीक अर्थमे पशु भी बन ले तो बडी बात हो। अभी तो वह क्षुधा-काममे मुमूर्षु है। आहार-विहारकी इतनी सामाजिक विषमता पशुओंमे भी नहीं है जितनी मनुष्योमे। किन्तु पन्तको वर्जना भोगवादियो (विलासियो) के लिए है, भुक्तभोगियोके लिए नहीं; इसीलिए वे सहानुभूति-पूर्वक यह भी कह सके है—

मानवके पशुके प्रति
हो उदार नव-सस्कृति ।

इस दिशामे महादेवी भी सहानुभूतिपूर्ण है । वे देखती है—'उसकी (मनुष्यकी) कौनसी दुर्बलता उसके किस अभावसे प्रसूत है ।'—यह दृष्टिकोण व्यक्तिगत निरीक्षणकी अपेक्षा सामाजिक निरीक्षणको सजग करता है ।

नव-सस्कृतिके लिए पन्तजीने मध्यवर्ग और मध्ययुगोकी नैतिकताको मानवतामे विकसित देखना चाहा है । एक शब्दमे पन्तका लोकविन्दु प्रगतिशील मानववाद है । मानवके दोनो रूप है—सेन्द्रिय और अतीन्द्रिय , एक ऐहिक है, दूसरा आत्मिक (आध्यात्मिक) । दोनो एक दूसरेके लिए सापेक्ष है । अतएव पन्तने मनुष्यकी ऐन्द्रिक आवश्यकताको भी प्रोत्साहन दिया है ('निर्म्मित करो मासका जीवन') और उसके आत्मिक विकासको भी सवर्द्धित किया है ।

पन्तजी मौलिक दार्शनिक है । निरपेक्ष दृष्टिकोणमे वे भौतिकता और आध्यात्मिकता दोनोसे ऊपर उठ जाते है—

आत्मा औ' भूतोमे स्थापित करता कौन समत्व ?
वहिरन्तर आत्मा-भूतोसे है अतीत वह तत्त्व ।
भौतिकता आध्यात्मिकता केवल उसके दो कूल ,
व्यक्ति-विश्वसे, स्थूल-सूक्ष्मसे परे सत्यके मूल ।

सम्प्रति अपनी समाजवादी चेतनामे पन्तने मनुष्यको प्रकृतिसे भी अधिक प्यार किया है—

सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर,
मानव ! तुम सबसे सुन्दरतम,

निर्मित सबकी तिल-सुषमासे
तुम निखिल सृष्टिमे चिर निरुपम !

किन्तु मनुष्य प्रकृतिके निर्म्माणपर तो मुग्ध होता रहा, स्वय अपने निर्म्माण (सामाजिक जीवन) मे दीन-दुखी बना रहा । पन्तने पहिले सुरम्य प्रकृतिकी जो भावानुभूति दी थी अब वे उसकी सामाजिक अनुभूति चाहते है, वे मुग्धतासे उपभोग्यताकी ओर है—

रूप रूप बन जायँ भाव स्वर,
चित्र-गीत झङ्कार मनोहर,
रक्तमांस बन जायँ निखिल
भावना, कल्पना, रानी !
आत्मा ही बन जाय देह नव
ज्ञानज्योति ही विश्वस्नेह नव,
हास, अश्रु, आशाऽकांक्षा
बन जायँ खाद्य, मधु, पानी
युगकी वाणी !

आजकी अभाववाचक परिस्थितियोसे निस्तारके लिए पन्त प्रगतिवादी है, भाववाचक परिणतियोके लिए सुसस्कृत सौन्दर्य्यवादी । प्रगति, संस्कृति और कलाके समन्वयमे उनका नव-मानववाद है ।

प्रगतिवादका राजनीतिक परिचय हमे प्राप्त है, अब मानववादका सामाजिक परिचय भी हमे पाना है । पन्तने नव-मानववादका जो बीजारोपण किया, हमारे साहित्यमे वह भी अङ्कुरित हो रहा है । बिहारके नवयुवक कवि रामदयाल पाण्डेयने 'गणदेवता'मे मानववादको अपना सुबोध अन्तःकरण दिया है । पन्तकी नवीन काव्याभिव्यक्तिमे प्रेरित होते हुए भी 'गणदेवता'में निजी अनुशीलन (मनन-चिन्तन) है ।

अधिष्ठान

प्रगतिशील-युगमे द्विवेदी-युग और छायावाद-युगके प्रतिनिधि-कवि भी अपनी अपनी सीमामे अग्रसर हैं—गुप्तजी द्विवेदी-युग (पौराणिक युग) के अक्षर-चिह्न है, 'गुरु-पद-रज मृदु मञ्जुल अञ्जन' है। मन्द-मन्द धेनु-गतिसे उनकी काव्य-सरस्वती युग-पथपर चली जा रही है।

छायावादके प्रतिनिधि प्रसादने 'कामायनी' द्वारा और महादेवीने सस्मरणों और लेखो द्वारा युगको आत्मचिन्तन दिया है।

अपने अपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास 'इरावती'मे प्रसादजीने युगधर्म्म-का भी सङ्केत किया है। उसमे उन्होंने आर्य्यसस्कृतिकी तूलिकाको बौद्धधर्म्मके चित्रपटपर पोछा है। इस प्रकार अहिंसाका कापुरुषतासे तथा कलाका विलासितासे उद्धार कर वे शक्ति और आनन्द (जीवन और कला) की स्थापना चाहते थे। प्रसादजीकी यह युग-दृष्टि अपनी समुचित दिशामे है किन्तु उसे गान्धीवाद और प्रगतिवादके सहयोगसे नवीन चित्रपट (सामाजिक धरातल) चाहिये।

सम्प्रति समग्र विश्वमे वह वातावरण घनीभूत हो उठा है जिसमेसे शक्ति और कलाका प्रादुर्भाव हो सकता है।

शक्तिका अर्थ यदि सहार और कलाका अर्थ विलास नहीं है तो विश्व-को नवजीवनका निर्देश भारतसे मिलेगा।

यद्यपि भारत अवरुद्धकण्ठ है तथापि उसका उत्पीडन बापूके इक्कीस दिनोके अनशन और बङ्गालके हाहाकारमे व्यक्त हो ही गया।

महायुद्धने महार्घताके रूपमे हमारे जीवनपर तो प्रभाव डाला किन्तु प्रतिबन्धोके कारण साहित्यपर उसका कोई रचनात्मक प्रभाव नहीं पडा। युद्ध-सम्बन्धी कविताएँ लिखी गयीं किन्तु राष्ट्रीय रचनाओकी भाँति वे

जनता द्वारा अङ्गीकृत नहीं हुई। जनताने बापूके अनशन और बंगाल-के दुर्भिक्षमे अपना मनोयोग दिया।

कवियोमे महादेवीजीने बापूके इक्कीस दिनोके मृत्युञ्जय पर्वको काव्य-मे पादार्घ्य दिया और बङ्गालको साहित्यिकोकी सक्रिय समवेदना पहुँचानेके लिए 'बङ्ग-दर्शन'का सचित्र सङ्कलन उपस्थित किया।

आज जब कि रुग्ण बापू कारा-मुक्त होकर हमारे बीचमे है (पर-मात्मा नीरोग और दीर्घायु करे), पीड़ित मानवता अपने ही उद्धारके लिए उसके प्रति शुभकामना-पूर्वक प्रणत है—

'दुखके दिव्य शिल्प प्रणाम !
इच्छाबद्ध, मुक्त प्रणाम !
नित साकार श्रेय प्रणाम !'

'नानृतं जयति सत्यं, मा भैः, जय ज्ञानज्योति तुमको प्रणाम !'

~~~~~~~
~~~~~~~

भविष्य-पर्व

'अहे विश्व ! ऐ विश्व-व्यथित मन !
किधर बह रहा है यह जीवन ?
यह लघु पोत, पात, तृण, रजकण,
अस्थिर—भीरु—वितान,
किधर ?—किस ओर ?—अछोर—अजान
डोलता है दुर्बल यान ?'

युगोंसे व्यक्ति अपनी सामाजिक असमर्थतामे जो एकान्त उच्छ्वास लेता आया है आज वही उच्छ्वास सम्पूर्ण विश्व ले रहा है। अबतककी ऐतिहासिक प्रणालीमे व्यक्तिकी जो सामाजिक स्थिति थी, वह सामन्त-युगसे पूँजीवादी युगमे आकर सार्वजनीन हो गयी, व्यक्तिगत वेदना विश्व-वेदना हो गयी।

आजका भयावह काल-प्रवाह जीवनकी सारी सुख-सुषमा बहाये लिये जा रहा है। राजनीति और विज्ञानकी कराल कुरूपता सत्य, शिव, सुन्दरका अस्तित्व मिटाकर पृथ्वीपर प्रेत-लोकका आविर्भाव कर रही है। आजके प्राणीका भावुक बने रहना तो दूर, वह बौद्धिकसे भी आगे यौद्धिक हो गया है। शिवको आरती आज चिताकी लपटोसे ही उतारी जा रही है, प्राणोका प्रकाश प्राणी-विहीन हो रहा है।

चेतन प्रकाशकी अमिट रेखा—बापू

इस यन्त्र-मूढ़ तामसिक युगमे चेतन प्रकाशकी एक अमिट रेखा—बापू! बापू क्या एक व्यक्ति है? इसलिए जहाँ है वहीं है? हमारे चारो

ओर नहीं? अरे, विश्व ही तो बापू है, विश्वकल्याणमे योग देना ही बापूको पाना है। उसे मालाके फूल नहीं चाहिये, चन्दन, अक्षत, धूप, गन्ध भी नहीं चाहिये, उसे तो चाहिये विश्वशान्तिके लिए अन्तःकरणकी मानवता, पीडित वसुधाके लिए समवेदनाके ऑसू, भूखे-प्यासोके लिए जीवन-दान। उसे मूर्त्तिपूजा या चित्रपूजा नहीं, प्राणिपूजा चाहिये। जड़ताके प्रतीककी नहीं, जनताके प्रतीककी पूजा चाहिये। आज जनता ही जनार्दन है। बापू उसी जनताका पुञ्जीभूत व्यक्तित्व है। स्वयं बापू तो एक व्यक्ति है, जनताको शिरोधार्य्य कर वह व्यक्तिसे परे व्यक्तित्व हो गया है। जनता-को अपनाना ही बापूको अपनाना है।

गान्धीवाद—राजनीतिक दुनियामे यही शब्द प्रचलित है। गान्धी क्या राजनीतिक पुरुष है? बुद्ध और ईसा क्या राजनीतिक पुरुष थे? राजनीति तो ऐश्वर्य्यकी जड़-धातुओको लेकर चलती है, बुद्ध और ईसा सौन्दर्य्यके चेतन-परमाणुओ (आत्मतत्त्वो) को लेकर चले थे। बापू उन्हीकी मानसिक वश-परम्पराका अमृतपुत्र है।

'गान्धीवाद'मे बापूकी आत्मा नहीं, उसमे तो उसकी आत्माका राजनीतिक अनुवाद है। उसकी आत्माकी मौलिकता है बोधोदयमे, सर्वोदयमे, अनासक्त योगमे। गान्धीमे 'वाद' नहीं, योग है; उफान नहीं, उदय है; सत्ता नहीं, सज्ञा है।

'वाद' मे बापू नहीं, बापूका अनुगमन है। 'गान्धीवाद' अनुयायि-योका धर्म है, स्वय गान्धीमे गान्धीवाद उसका नहीं, उसके आत्मप्रेरक (ईश्वर) का स्वरूप दर्शन है। इसीलिए 'गान्धीवाद' को अङ्गीकार न करते हुए भी, कराची-कांग्रेसमे क्रान्तिकारियोंसे गान्धीको कहना पड़ा—'गान्धी मर सकता है, गान्धीवाद जीवित रहेगा।' इस उद्गारमे 'गान्धी-

वाद' के प्रति बापूका गर्व नहीं, बल्कि उस आस्तिकताके प्रति आत्मदृढता है जिसे उसके नामके आगे 'वाद' लगाकर लोकविहित किया जाता है। उस चिरन्तन एव शाश्वत सत्ताकी अवहेलना गान्धीको असह्य है। अत-एव वह अपनी ही आहुति देकर कहता है—'गान्धी मर सकता है, किन्तु गान्धीवाद जीवित रहेगा'।

तो, बापू राजनीतिक व्यक्ति नहीं, आस्तिक जीवधारी है। जीवन-दर्शनके लिए वह भवनो और प्रासादोकी खिडकियाँ नहीं खोलता, वह तो आत्माका वातायन खोलता है। उसका सङ्केत है यह—

'चामके महलमे बोलता राम है,
चाम और रामको चीन्ह भाई!'

जैसा उसका वातायन है वैसी ही उसकी प्राण-सञ्चारिणी अभिव्यक्तियाँ भी। उसकी अभिव्यक्तियाँ राजनीतिक शब्दावली लेकर नही, आभ्यन्तरिक अनुभूतियाँ लेकर चलती है, उसमे 'चामके महल' के अन्त.पुरकी भाषा है। वह आत्माका कवि है। सत्य उसकी वीणा है, विश्व-वेदना उसकी रागिनी, अहिसा उसकी टेक और करुणा उसका रस है। सस्कृति उसकी स्वरलिपि है। प्रभु उसका आलम्बन या अवलम्बन है, जनता उसका उपकरण है, विश्व उसका काव्य है, कर्म उसके अक्षर है, सयम-नियम उसके छन्द।

राजनीति और उसकी आत्मानुभूतिमे यह अन्तर है कि एक 'प्रभुता'की ओर है, दूसरी 'प्रभु'की ओर। राजनीतिमे वाचालता है, अनुभूतिमे मूकता, गान्धीका 'मौन व्रत' इसीका सूचक है। वह बोलनेके लिए नही बोलता, उसकी वाणी तो आचरण है। ज्ञान और भावको लेकर वह अपने व्यक्तित्वमे कविर्मनीषी है—उसमे कवित्व

और ऋषित्वका समन्वय है। इस प्रकार उनका व्यक्तित्व लोकयात्रामे भक्तिकाव्य लेकर चल रहा है। उसका प्रत्येक पग काव्यका ही पद-विन्यास है। समाज-निर्माण द्वारा काव्यको वह शब्दोंमे नहीं, प्राणियोंके जीवनमें मूर्त्त करता है।

वह दिन दूर नहीं है जब विश्वकी अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियाँ गान्धीवादकी ओर उसी तरह आकर्षित होंगी जैसे सन्तप्त आत्माएँ आत्मशान्तिकी ओर। भाषण-स्वतन्त्रता (अक्तूबर, सन् १९४०) के आन्दोलनके समय बापूने कहा भी था—'कौन जानता है कि ब्रिटेन और भारतमें ही नहीं, बल्कि दुनियाभरके युद्धलिप्त राष्ट्रोंमे भी मेरे द्वारा सुलह न होगी?'—इन शब्दोंमे अदृश्य भविष्यका आभास है।

'ज्योत्स्ना'कार कवि पन्तजीके शब्दोंमें सन्तप्त विश्वकी आज यही शुभ कामना है—

मङ्गल चिर मङ्गल हो
मङ्गलमय सचराचर
मङ्गलमय दिग्‌-पल हो।
मङ्गल चिर मङ्गल हो॥

* *

लुप्त जाति - वर्ण - विवर,
शान्त अर्थ - शक्ति - भँवर,
शान्त रक्त - तृष्ण समर,
प्रहसित जग शतदल हो।
मङ्गल चिर मङ्गल हो॥

अनुक्रमणिका

ख

ग

फ

ब

भ

म

ह

संशोधन

कृपया पढनेके पहिले अपनी प्रति इस प्रकार शुद्ध कर लें—

पृष्ठ	पक्ति	मुद्रित	संशोधित
१०८	१६	अभिव्यक्ति	अभिव्यक्त
११०	१७	रोमैण्टिकसिज्म	रोमैण्टिसिज्म
१२३	१६	साध्वन्त	साद्यन्त
१४१	१३	प्रस्तुत	अप्रस्तुत
१४४	१६	समालोचना	समालोचनाकी
१६९	२३	ान्धीवाद	गान्धीवाद
२०३	१०	स्थूल	स्थल
२०४	५	यौवन	यौन
,,	९	समाजवादी	समाजवाद
२४०	२२	विश्वनीय	विश्वसनीय